कृषिकोश

द्वितीय खण्ड

[च से ह तक]

सम्पादक

श्रीवैद्यनाथ पाण्डेय, एम्० ए० (द्वय)

श्रीश्रुतिदेव शास्त्री, एम्० ए० (द्वय)



बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

कृषिकोश

[भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार बिहारी बोलियों के विविध क्षेत्रों से संगृहीत एवं जनसमाज में प्रचलित कृषि-सम्बन्धी शब्दों का उनके स्थानीय तथा वैयुत्पत्तिक पर्याय-सहित प्रामाणिक सचित्र अभिधान]

द्वितीय खण्ड

['च' से 'ह' तक]

सम्पादक

श्रीवैद्यनाथ पाण्डेय, एम्० ए० (द्वय)

श्रीश्रुतिदेव शास्त्री, एम्० ए० (द्वय)

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४



प्रथमावृत्ति २,०००; शकाब्द १८८८; विक्रमाब्द २०२३; खीष्टाब्द १९६६

मूल्य ६.५०

मुद्रक
श्री तारकेश्वर पाण्डेय
ज्ञानपीठ प्रा० लिमिटेड
खजांची रोड, पटना-४

वक्तव्य

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग द्वारा जो 'कृषिकोश' प्रस्तुत किया जा रहा था, उसका प्रथम खण्ड पहले ही हिन्दी-संसार के समक्ष उपस्थित किया जा चुका है। उसमें 'अ' से 'घ' तक के शब्द संगृहीत थे। आज फिर उस 'कृषिकोश' का द्वितीय खण्ड उपस्थित किया जा रहा है। इसमें मैथिली, मगही, वज्जिका, अंगिका और भोजपुरी के क्षेत्रों से संगृहीत 'च' से 'ह' तक के शब्द हैं। इस खण्ड में भी पूर्व खण्ड की तरह ही कृषि-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द, अर्थ, पर्याय, व्युत्पत्ति आदि के साथ विशेष अर्थ के बोध के लिए तत्सम्बद्ध चित्र भी यथास्थान दिये गये हैं। पूर्वयोजना के अनुसार यह कोश तीन खण्डों में प्रकाशित होनेवाला था, लेकिन मुद्रण और उसके उपकरणों की मसृण चारुता के कारण अधिक सामग्री थोड़े स्थानों में ही समा गई। अतः, द्वितीय खण्ड में 'च' से 'ह' तक की सामग्री पूर्णतया समाविष्ट हो गई और इस दूसरे खण्ड में ही यह ग्रन्थ सम्पूर्ण हो गया।

इस कोश में, बिहारी उपभाषाओं के अबतक संगृहीत कृषि-शब्दों का उपयोग किया गया है। इसे यद्यपि पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता, तथापि पूर्णता की ओर प्रयत्न किये जाने से पूर्णकल्प अवश्य माना जायगा। भारतीय लोकभाषाओं की कार्य-परम्परा में किये जानेवाले इस प्रकार के कार्यों में यह प्रथम प्रयास है। और, हमें यह लिखते प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि परिषद् इस प्रयास में सफल हुई है।

भारत की सभी लोकभाषाओं में ग्रामीण, कृषि तथा उद्योग-धन्धों से सम्बद्ध हजारों-लाखों सामान्य एवं पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं और ये सभी शब्द सैकड़ों-हजारों वर्षों की परम्परा से चले आ रहे हैं। ये इतने टकसाली बन गये हैं कि इनके प्रचलन में कहीं कोई कृच्छ्रता अथवा असुविधा नहीं होती। कहीं ये अपने पूर्ववेश के मूल रूप में विद्यमान हैं और कहीं इतने घिस-पिट गये या परिवर्तित हो गये हैं कि इनकी मूल व्युत्पत्ति को ढूँढ़ निकालना कठिन हो जाता है। प्रयोग में आकर ये जितने टकसाली और सुघड़ बन गये हैं, उतने ही उपयोगी भी। इनका प्रयोग शिष्ट साहित्यिक भाषा में तो होना ही चाहिए। किन्तु, उससे भी अधिक उपयोगी ये आज की वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दावली को समृद्ध करने में होंगे। यह हमारा निर्णीत मत है और प्रथम खण्ड के वक्तव्य में भी इसे हम लिख आये हैं। किन्तु, खेद की बात है कि अभी तक पारिभाषिक शब्द-निर्माणकर्त्ताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हो पाया है। आज भी समय बीता नहीं है। यदि विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हो, तो न केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी समृद्ध होगी, प्रत्युत वैज्ञानिक शब्दावली की समस्या का प्रायेण समाधान हो जायगा। साथ ही, विज्ञान की ज्ञानकृच्छ्रता सामान्य और सरल रूप में अल्पशिक्षित किसानों तक पहुँच जायगी। जहाँतक लोकभाषाओं और राष्ट्रभाषा का

सम्बन्ध है, उसके विषय में परिषद् की मान्यता प्रथम खण्ड के वक्तव्य में व्यक्त हो चुकी है। लोकभाषाओं का अध्ययन राष्ट्रभाषा हिन्दी की समृद्धि के उद्देश्य से ही होना चाहिए, न कि स्थान-ग्रहण के उद्देश्य से। अस्तु;

'कृषिकोश' के प्रथम खण्ड के प्रधान सम्पादक डॉ० विश्वनाथ प्रसादजी थे, जो उस समय इस विभाग के अध्यक्ष थे। उनके निर्देशन में ही वह कार्य हुआ था। उनके यहाँ से दिल्ली चले जाने के बाद विभागीय अनुसन्धानकर्त्ता ही इस कार्यभार को चारुतया सँभालते रहे। उनमें श्रीश्रुतिदेव शास्त्री ने प्रस्तुत कोश-निर्माण का, श्रीराधावल्लभ शर्मा ने संस्कार-गीतों का और श्रीविक्रमादित्य मिश्र ने कहावतों के सम्पादन का कार्य अपने हाथों में लिया। यद्यपि ये तीनों प्रभारी अपने-अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी हैं, तथापि कार्य की समीचीनता की दृष्टि से विभक्त कार्य के प्रति अधिक उत्तरदायी हैं।

इस द्वितीय खण्ड के सम्पादक श्रीश्रुतिदेव शास्त्री इस विभाग में आरम्भ से ही कार्य कर रहे हैं। वे संस्कृत के कई विषयों के आचार्य और संस्कृत तथा प्राकृत में प्रथम श्रेणी के एम० ए० हैं। ग्रन्थ की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में भारतीय कृषि के विकास का इतिहास और कोश-निर्माण की विकास-परम्परा का पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ स्वयं साक्ष्य-रूप में हिन्दी-जगत् के समक्ष उपस्थित है।

इस कोश की निर्माण-पद्धति पर ही अन्य ग्रामीण उद्योग-धन्धों में प्रचलित शब्दों का कोश भी प्रस्तुत करने का प्रक्रम परिषद् का है।

आशा है, इस 'कृषिकोश' के दोनों खण्डों के प्रकाशित हो जाने से लोकभाषा के अध्ययन में लगे सुधी विद्वानों को हार्दिक आह्लाद होगा।

स्वाधीनता-दिवस
१५ अगस्त, १९६६ ई०

वैद्यनाथ पाण्डेय
निदेशक

पुरोवाक

कृषि : शब्द और अर्थ

कृषि शब्द की निष्पत्ति √कृष् धातु से कित् औणादिक प्रत्यय लगकर होती है।[1] इसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है : कर्षण, रेखा खींचना, हल से जोतना या सिराउर बनाना। लेकिन, यह शब्द अपने इस मूल अर्थ में रहकर 'कृषिकर्म या खेतीबारी' अर्थ में रूढ़ हो गया और इस योगरूढ़ शब्द का अर्थ-विस्तर होता गया। ऋग्वेद में इस शब्द का अर्थ-विस्तर में ही प्रयोग हुआ है।[2] यजुर्वेद में भी इसका प्रयोग उसी प्रकार हुआ है।[3] 'शतपथब्राह्मण' में कृषि का विस्तृत अर्थ 'जोतना, बोना, काटना, दौनी करके अनाज निकालना' तक किया गया है।[4] महाभाष्यकार ने 'कृषि' शब्द की व्याख्या करते हुए इसका पूरा अर्थ वही दिया है, जिस अर्थ में यह आज भी प्रयुक्त होता है, अर्थात् "कृषि के अर्थ में अनेक क्रियाएँ प्रयुक्त होती हैं, न कि केवल रेखा खींचना या हल जोतना-भर है। तब क्या ? प्रतिविधान अर्थ में भी कृषि शब्द का प्रयोग होता है; क्योंकि भोजन, बीज और बैलों से प्रतिविधान किया जाता है, वह भी कृषि शब्द का अर्थ है।"[5] इसी प्रकार, स्मृतिकारों ने भी कृषि को पूर्ण जीविका के अर्थ में प्रयुक्त किया है अथवा सम्पूर्ण कृषिकर्म या खेतीबारी के अर्थ में भी।[6] इन सभी प्रमाणों से प्रकट होता है कि कृषि जीविका का वह साधन-विशेष है, जिसमें खेत को जोतना, कोड़ना, बीज बोना, निराना, सींचना, तैयार फसल काटना, दौनी करके अनाज निकालना, ओसाना, संग्रह करके कोठी आदि में रखना इत्यादि सभी क्रियाएँ सम्मिलित हैं। यह छोटा-सा शब्द इतना उपयुक्त बन गया कि फिर इस प्रकार व्यापक अर्थवाला इसका दूसरा पर्यायवाची शब्द नहीं मिलता।

इस विस्तृत अर्थ के अतिरिक्त कृषि का, भूमि जोतना, सिराउर बनाना, खेती करना, कृषिजन्य अन्न आदि अर्थ भी चलते आ रहे हैं। महाभारत में, 'कृषीणां वाधते कृषिः, (शान्ति॰ १८६।२०)—कृषि के दोनों अर्थ—खेतीबारी और हल जोतना भी एक साथ ही हुए हैं। यजुर्वेद में महीधर ने 'कृषिः तत्कृतधान्यसिद्धिः' (१८।६) अर्थ किया है। मनु ने 'चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः' (१।३) में कृषि का शस्य अर्थ किया है। कालिदास ने 'त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति' (मेघ॰ पूर्व॰) में खेती अर्थ किया है।

---

१. सर्वधातुभ्यः इन्। इगुपधात् कित्।—उणादिसूत्र, ४।११३, ४।११६।

२. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।—ऋक्, १०।३४।१३।

३. कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे।—यजुः, १८।९।

४. कृषन्तः वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः।—शत॰ १।६।१।३।

५. नानाक्रियाः कृषेरर्थाः। नावश्यं कृषिर्विलेखन एव वर्तते। किं तर्हि ? प्रतिविधानेऽपि वर्तते; यदसौ भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति स कृष्यर्थः।—महाभाष्य, ३।१।२६।

६. गौरक्ष्यं वाणिज्यं कृषिः।—मनु, १०।११६; वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी।—बौ॰ ध॰ सू॰ १।५।१०१; कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्।—गीता।

कृषि : एक वृत्ति

धर्मसूत्रों, स्मृतियों और गृह्यसूत्रों में तथा रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्रों और परवर्त्ती पुराणों तथा निबन्धों में कृषि शब्द पूर्ण रूप से वृत्ति या जीविका के एक प्रकार के अर्थ में रूढ़ हो गया। सर्वत्र वृत्ति-विभाजन के समय कृषि एक प्रधान भेद मानी जाने लगी। मनु ने दस जीवनहेतुओं (वृत्तियों) में कृषि को सातवाँ स्थान दिया है।[1] गौतम ने ब्राह्मणों के लिए कृषि और वाणिज्य को तथा महाजनी को वृत्ति मानकर विहित किया है, किन्तु कृषि-वाणिज्य स्वयंकृत न हों।[2] बौधायन ने कृषि-जीविका को वेद की विरोधिनी माना है।[3] हारीत ने भी अनापत्ति-काल में ब्राह्मण के लिए खेती को अविहित ही माना है, लेकिन वैश्य के लिए तो यह जीविका है ही।[4] पराशर ने षट्कर्मा ब्राह्मण के लिए भी कृषि को विहित माना है।[5] वृद्ध हारीत ने कृषि, सेवा और पाशुपाल्य को सभी के लिए निषिद्ध माना है।[6] किन्तु, एक स्थान में कृषि सभी वर्णों के लिए सामान्य धर्म मानी गई है।[7]

महाभारत में पण्य, आकर, वाणिज्य, कृषि आदि जीविका के अनेक प्रकार बताये गये हैं, जो सभी वर्णों के लिए हैं; यह लोकवार्त्ता-प्रधान है, इसके बिना यह जीवित नहीं रह सकता।[8] नीतिवाक्यामृतकार ने लिखा है कि उसे सभी सांसारिक सुख प्राप्त होते हैं, जिसके घर में खेती, गायें, शाकवाट (बाड़ी) और कूप होते हैं।[9] अर्थशास्त्र में आर्य चाणक्य ने वार्त्ता (कृषि-वाणिज्य) को भी विद्या के अन्दर गिनाया है।[10] मनु ने 'वार्त्ता-विद्या' को लोक से सीखने को कहा है। यह सचमुच लोकशास्त्र है।[11] आज भी कृषि-

---

१. विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥—मनु० १०।११६।

२. कृषिवाणिज्ये चास्वयंकृते कुसीदं च।—गौ० १०।५।६।

३. वेदः कृषिविनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी।
शक्तिमानुभयं कुर्वन्नशक्तस्तु कृषिं त्यजेत् ॥—बौ० ध० सू० १।५।१०१।

४. षडमूलं लाङ्गलं तद् ब्राह्मणे न विद्यते।—हारीत, गृ० २०, पृ० ४९८।

५. षट्कर्मनिरतो विप्रः कृषिकर्माणि कारयेत्।—परा० २।२।

६. कृषिर्भृतिः पाशुपाल्यं सर्वेषां निषिध्यते।—वृ० हारीत, ७।१८२।

७. कृषिस्तु सर्ववर्णानां समानो धर्म उच्यते।—वृ० हारीत, ७।३९।

८. (क) पण्याकरवणिज्याभिः कृष्या गोजाविपोषणैः।
वार्त्तया धार्यते सर्वं धर्मैरेतैर्द्विजातिभिः ॥—वन० १५०।३०।
(ख) वार्त्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा।—शान्ति० ६८।३५।
(ग) नहि वर्णेदयं लोको वार्त्तामुत्सृज्य केवलम् ॥—शान्ति० २६३।३।
(घ) वार्त्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥—सभा० ५।७९। मिला० : वा० रामा० अयो०, १००।४७।

९. वार्त्तासमृद्धौ सर्वाः समृद्धयो राज्ञः। तस्य खलु संसारसुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युद-पानम्।—नीति० वा०, पृ० ९३।

१०. त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः। त्रयी विशेषो ह्यान्वीक्षिकीति कौटल्यः।—अर्थशास्त्र, १।२।

११. त्रैविद्येभ्यस्त्रयीविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः।— मनु०।

विद्या विज्ञान का एक अंग होकर भी व्यावहारिक लोकशास्त्र का ही अंग है। ऋग्वेद में अर्थप्राप्ति के लिए द्यूतक्रीडा का विरोध किया गया है और कृषि का विधान करके धन पाने की बात कही गई है। उस कृषि से गायें और पत्नी भी मिलती है।[1]

प्रो० काणे ने वार्त्ता को भारतीय अर्थ-व्यवस्था का प्रधान अंग माना है और कृषि के महत्त्व को अनेक उद्धरणों से सिद्ध किया है।[2] डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि भारतीय कृषिकर्म को देखकर यूनानी लेखक चकित थे तथा मेगस्थने ने भी कृषि का उल्लेख किया।[3]

पालि-साहित्य में भगवान् बुद्ध के 'कसी भारद्वाज' जैसे पाँच सौ हलों की जोतवाले कृषिकारक ब्राह्मण के पास जाने का उल्लेख हुआ है। अपने प्रधान शिष्य आनन्द के साथ संलाप करते हुए बुद्ध ने मगध के शालि-केदारों को देखकर ही अपने भिक्षुओं के लिए चीवर का विधान किया था। बुद्ध के प्रधान शिष्य कश्यप की चौदह सौ हलों से की जानेवाली खेती का वर्णन आया है। अर्द्धमागधी-साहित्य में यत्र-तत्र कृषि का उल्लेख हुआ है। कृषि भारत की प्राचीनतम जीविका है।

कृषि : विकास और परम्परा

ऋग्वेद-काल से ही भारत कृषि से परिचित था। सभी वेदों में कृषि, उसके उपकरणों, कृषिकर्मों, शस्यों तथा अन्नों के नाम आये हैं। ऋग्वेद के तीन सूक्तों (४।५७ और १०।१०१, १०२) में पूर्णतः और अनेक सूक्तों (१०।३४, १३,११४ आदि) में अंशतः कृषिकर्म तथा उसके उपकरणों का वर्णन आया है। यहाँ इकसठ कृषि-उपकरणों के नाम और उनके प्रयोग की बात कही गई है। उपकरणों की नामग्राह उल्लेख इस प्रकार है—सीर, युग, योनि, बीज, सृ्ष्टि, सृणि, आहव वरत्रा, पयस्, अवत, उद्रिण, सुषेक, सुषेचन, द्रोण, अश्मचक्र, अंशत्र, व्रज, वर्म, आयसी, चमस, उपस्थ, वाशी, अश्मन्मयी, कक्ष्या, धुरा, वह्नि, अन्तर्योनि, द्विजानि, उस्र, कपृत्, कपृथ, निष्टिग्र्य, दास, उद्गो, ह्रद, मुष्कभार, वृषभ, आजि, कवर्त्त, अनस्, प्रधि, सारथि, अभ्याना, पथा, ककुद्मान्, कपर्दी, दारु, पस्पश, काष्ठा, द्रुघण, वध्री, कूचक्र, फाल, पवीर, अग्र्य, लाङ्गल, सीरवाह, सीरपति, भूमि, सीता और शम्या। यजुर्वेद (१२।६७, ६८, ६९, ७०) में सीर, युग, वियुग, योनि, बीज, श्रुष्टि, सृणि, सुफाल, भूमि, कीनाश, वाह, शुनासीर, घृत, सीता, मधु, पय, लाङ्गल, पवीर, सुशेव, त्सरु, रथवाहण आदि उपकरणों के नाम आये हैं। इसी प्रकार, अथर्व एवं साम में यत्र-तत्र कृषि-उपकरणों के नाम आये हैं। यजुर्वेद के काठक, मैत्रायणी आदि शाखाओं में भी इन उपकरणों में अधिकांश शब्द प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु, हल के लिए सीर और लाङ्गल शब्द का प्रयोग होते हुए भी 'हल' का कहीं

१. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व। वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। तत्र गावः कितव तत्र जाया।—ऋक्, १०।१०१।

२. हिस्टरी ऑव धर्मशास्त्राज, भाग ३, पृ० ३१।५२।

३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० २०१।

भी वैदिक प्रयोग नहीं मिलता है। इसका प्रथम प्रयोग गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों में (औदुम्बर हल) हुआ है। प्रतीत होता है, यह या तो शल्य<शला (कील) का अपभ्रंश-रूप है या कहीं अन्यत्र से परवर्ती संस्कृत में आया है। गृह्यसूत्रों के अनुसार लाङ्गल खादिर (खैर), शाल, उदुम्बर (गूलर) आदि लकड़ी का होता था। हल में तेज धारवाला फाल लगा रहता था, उसपर एक त्सरु (आवरण) रहता था (यजु० १२।७१)। जानकार किसान के लिए उस हल को जुए से जोड़ने तथा अलग करने की बात कही गई है, तब उससे भूमि में सीता या योनि (सिराउर) बनाकर बीज-वपन करने को कहा गया है और पकने पर शस्य को सृणि (हँसिया) से काटने को लिखा है (ऋक्, १०।१०१; यजु० १२।६८)।

एक दूसरे मन्त्र में प्रार्थना है कि 'अच्छे फालोंवाले सीर भूमि का कर्षण करें तथा कीनाश (किसान) सुखपूर्वक बैलों को जोड़ें' (यजु० ६६, ऋ० ४।५७)। एक दूसरे स्थान पर जुए को सीर से वरत्रा या वध्री द्वारा बाँधने को कहा है। हल या रथ के लिए मुष्कभार (अँडुआर, साँड़) वृषभ अधिक उपयुक्त माना गया है। भूमि को सर्वत्र सीर या लाङ्गल से ही जोतने का उल्लेख आया है। कहीं-कहीं खनने का भी प्रयोग है। भूमि का कर्षण करके ही सीता में वपन करने की प्रक्रिया थी। गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में उदुम्बर-हल से सीता बनाकर उसमें घृत और मधु गिराकर 'घृतेन सीता' (यजु० १२।७१) मन्त्र से बीज-वपन की विधि बतलाई गई है। आज भी खेती प्रारम्भ करने के समय पूजा की जाती है और धान रोपने के पहले दिन तो क्षेत्र-देवता की पूजा के अनन्तर धान्य-बीज रोपकर भोज-भात करने की परिपाटी विद्यमान है, जिसे आज 'वनभोज' कहते हैं। निबन्धकारों ने भी कमठ, अनन्त, पृथ्वी और हल की पूजा करके कृषि प्रारम्भ करने की विधि लिखी है।

कृषि की भूमि

वेदकाल में कृषि की भूमि दो प्रकार की होती थी—उर्वर और अनुर्वर या ऊषर। उर्वर भूमि भी कृष्ट और अकृष्ट दो प्रकार की थी। कृष्ट भूमि में सप्तधान्य या सप्तग्राम धान्य की उत्पत्ति का वर्णन है। अकृष्ट भूमि में सप्त आरण्य धान्य की उपज का वर्णन है। इस अकृष्ट को ऋक्संहिता में अरण्यानी कहा है : 'यह भूमि आञ्जनगन्धि सुरभि बिना किसान के ही बहुत अन्न देनेवाली है। उसे मैं मृगों की माता कहता हूँ' (ऋक् १०।१४२।६)। कृष्ट भूमि में उत्पन्न अन्न कृष्टपच्य या कृष्टपाक्य और अकृष्ट भूमि में उत्पन्न अन्न अकृष्टपच्य या अकृष्टपाक्य कहलाता था। कृष्टपच्य का उल्लेख तै० सं० ४।७।५,१ ; का० सं० १८।१० ; माध्य० सं० १८।१४ और मै० सं० २।११।५ में और अकृष्टपच्य का उल्लेख तै० सं० २।४।४,३ ; ४।७।५ और माध्य० सं० १८।१४ में है।

भूमि-सेचन

उस काल में भूमि-सेचन की प्रक्रिया विद्यमान थी। उसका उल्लेख संहिताओं में आया है। सेचन का प्रधान साधन पर्जन्य था, कृषि वर्षा पर निर्भर करती थी। इसलिए,

अथर्ववेद (अ० १२) के पृथिवीसूक्त में पृथिवी को माता और पर्जन्य को पिता कहा है। एक स्थान में मित्रावरुण से प्रार्थना की जाती है कि वे दोनों वृष्टि द्वारा हमारी रक्षा करें।[१] आवश्यकतानुसार, हमारे लिए मेघवर्षण करे।[२] भूमि-सेचन के उपकरणों में द्रोण, अवत, आहाव, उत्स, वरत्रा, वध्री और उद्रिन का उल्लेख हुआ है।[३] तैत्तिरीयसंहिता में पुरोवात, वातावत्, स्तनयत्, अनशनि अवस्फूर्जत् (बिना वज्रपात के गरजता हुआ), अतिरात्र, बहुहायन, अतिपाती, अवस्फूर्जत् विद्युत् और मान्दावाश वर्षण का उल्लेख हुआ है।[४] दूसरी वृष्टि-प्रार्थना तै० सं० में भी है।[५] एक मन्त्र में उल्लेख है कि 'पश्चाद्वात प्रतिबन्धित होता है, तो वर्षा की रोक के लिए पुरोवात सामने आता है। वृष्टि के लिए वायु ही समर्थ होता है।'[६]

यजुर्वेद (अ० १६।३७) में स्रुति, पथ, काट, नीप, कुल्या, सरस्, नदी, वैशन्त, कूप, अवट, वीध्र्य, अतप्य, मेघ, जो विद्युत्-युक्त हो, वर्ष्य हो या अवर्ष्य हो, इन तेरह सेचन-साधनों का उल्लेख है। ऋग्वेद में है कि द्रोण और अवत को वरत्रा से जोड़कर अच्छा सेचनपात्र बना भूमि-सेचन करे।[७] अश्मचक्र, द्रोण, अवत और अंशत्रकोश भूमिषेक और जलपान के साधन थे।[८] ये सभी साधन कृष्टभूमि के शस्य के लिए थे। अकृष्ट के लिए प्राकृत साधन ही पर्याप्त थे। अर्थात्, उस समय देवमातृक और अदेवमातृक—ये दोनों सेचन-प्रकार विद्यमान थे।

अन्न

अन्नों की गणना में सप्तधान्य एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। उनमें सप्तग्राम धान्य और सप्त आरण्य धान्य हैं। सायण ने तिल, माष, व्रीहि आदि ग्रामसप्तक और वेणु, श्यामाक, नीवार आदि आरण्य बीजसप्तक को गिनाया है।[९] आपस्तम्ब ने सात ग्राम्य अन्नबीजों को कृष्ट भूमि में और सात आरण्य बीजों को अकृष्ट भूमि में गिराने को कहा है।[१०] ऋग्वेद में व्रीहि, महाव्रीहि, शालि, यव, तिल, माष, मुद्ग, यवस, श्यामाक, नीवार, वेणु आदि अन्नों का उल्लेख है। गोधूम का कहीं उल्लेख नहीं है। लेकिन, संसार के इतिहास में सभ्य जगत् में गेहूँ की सत्ता प्राचीन काल से चली आ रही है। यजुर्वेद (१८।१२) में व्रीहि, यव, माष, तिल, मुद्ग, खल्व, प्रियङ्गु, अणु, श्यामाक, नीवार, गोधूम और मसूर की यज्ञ

---

१. मित्रावरुणौ वृष्ट्यावतान्।—ऋक्।
२. निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु।—यजु०।
३. ऋक्, १०।१०१।
४. तै० सं० २।४।७।
५. तै० सं० २।४।८।
६. वही।
७. ऋक्, १०।१०१, ३, ६।
८. ऋक्, १।१०७।७।
९. ऋक्, १०।१०२।३ की व्याख्या में।
१०. सप्तग्राम्या कृष्टे, सप्त आरण्या अकृष्टे।—आपस्तम्ब।

से प्राप्ति की प्रार्थना की गई है।[1] इसी प्रकार, अगले मन्त्र में पत्थर, मिट्टी, गिरि, पर्वत, सिकता, वनस्पति, हिरण्य, अयस्, श्याम, लोह, सीस और त्रपु के लिए प्रार्थना की गई है। उसी अध्याय के चौदहवें मन्त्र में अग्नि, जल, लता, ओषधि, कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य, ग्राम्यपशु तथा आरण्यपशु, वित्त, वित्ति, भूत और भूति की प्राप्ति की भी प्रार्थना हुई है।

भोज्य पदार्थों में भक्त के अनन्तर धाना, करम्भ, सक्तु, परीवाप, पयस्, दधि, आमिक्षा, वाजिन और मधु के नाम आते हैं (यजु० १८।२१); पुनश्च धाना, परीवाप, सक्तु और करम्भ के रूपों के नाम में क्रमशः कुवल, गोधूम, बदर और उपवाक गिनाये गये हैं (यजु० १९।२२)। अगले मन्त्र में यव, कर्कन्धु, वाजिन और आमिक्षा की गिनती की गई है। चना, अरहर, खेसारी आदि अनाजों के नाम वेदों में नहीं आते हैं। महीधर ने 'खल्व' का अर्थ चना किया है (यजु० १८।२२)। कल्पसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में भी ये अन्न नामग्राह उल्लिखित हुए हैं।

वृषभ

कृषि के प्रधान साधन बैलों और गायों को वय, कार्य आदि के कारण अनेक भेदों में विभक्त किया गया है। वयसा बैल दित्यवाट् (दोबरसा), त्र्यवि (तिनबरसा) तुर्यवाट् (चरबरसा) और उक्षा, वृषभ (पूर्ण सेचनकारी) और अनड्वान् (गाड़ी में बहनेवाला) है। कार्य से वह सीरवाह (हल में बहनेवाला), रथवाह (रथ में बहनेवाला), पष्ठवाट् (पीठ पर ढोनेवाला), धूर्वह (बोझ ढोनेवाला या धुरा में बहनेवाला) है। इसी प्रकार, गायें भी त्र्यवी, पंचावी, तुर्यौही, पष्ठौही, वशा, वेहद् और धेनु के रूप में उल्लिखित हैं (यजु० १८।२६।२७)।

हल में बहनेवाले वृषभ सीरवाह कहलाते थे, गाड़ी में बहनेवाले अनड्वान् एवं शक्वर और रथ में बहनेवाले रथवाह। शक्वरी गायें भी थीं, जो सम्भवतः गाड़ी में भी जोती जाती थीं। भारवाही वृषभ भारवाह या भारहार कहलाते थे। साँड़ बैल, उक्षन्, वृषभ या मुष्कभार कहलाता था। सायण ने मुष्कभार की व्याख्या करते हुए लिखा है कि बलवान् और अधिकवयस् बैल का अण्डकोष बढ़ा रहता है, इस कारण वह वृषभ भी प्रवृद्ध होता है।[2]

हल में दो, चार, छह, आठ और बारह बैल तक जोते जाते थे। काठक, तैत्तिरीय तथा ऋक्संहिता में षड्गव, अष्टगव और द्वादशगव हल का वर्णन आया है। पराशर ने अष्टगव हल को धर्म्य, षड्गव को मध्यम, चतुर्गव को नृशंस और द्विगव को वृषघाती कहा है।[3] पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है कि जब दो बैलों से हल जोते जाते हैं, तब

१. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।—यजु० १८।१२।

२. प्रमुष्कभारः श्रव इच्छमानः (ऋ० १०।१०२, ४); मुष्कभारः प्रवृद्धस्य वृषभस्य हि मुष्कवृद्धिर्भवति। तथा प्रवृद्धो वृषभः।—सायण।

३. हलमष्टगवं धर्म्यं षड्गवं मध्यमं स्मृतम्।
चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं वृषघातिनाम्॥—परा०, २।२।

शेष पर्यायक्रम के चार या छह बैलों की देखरेख करनेवाला गोचारक होता है। अनुवर्ती काल में तीन बैलों की भी गाड़ी चलती थी, जिसमें अगला बैल प्रष्ठ[1] कहलाता था और बगल के दोनों बैल धुर्य कहलाते थे। इसी का अपभ्रंश सम्भवतः आज का 'पट्ठा' शब्द है। यजुर्वेद (१८।२७) में 'पष्ठवाट' बैल और 'पष्ठौही' गौ के लिए प्रार्थना की गई है। महीधर ने इसका अर्थ 'पष्ठं वर्षचतुष्कम्' किया है, अर्थात् चार वर्ष का बैल 'पष्ठवाट्' और गाय 'पष्ठौही' होती है।

हलवाहा और किसान

हल जोतनेवाले को नर, जन, सीरवाह और सीरपति शब्द से व्यवहृत किया गया है। पाणिनि के हालिक या सैरिक (हलसीराट्ठक्—पा०) नहीं। क्षेत्र का स्वामी 'क्षेत्रस्य पति या क्षेत्रपति' कहलाता था। किसान के लिए 'कीनाश' शब्द का व्यवहार हुआ है। याज्ञवल्क्य ने सीमाविवाद-प्रकरण में 'कृषाण' शब्द का प्रयोग किया है (गोपाः सीमाकृषाणश्च—याज्ञ० ५४)। ऋग्वेद में 'शुनासीर' का प्रयोग इस अर्थ में मिलता है। 'कृषीवल' शब्द भी वेदों में प्रयुक्त हुआ है।

उपकरण

वेदों में 'क्षिपणु' हेंगा के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि पहले कहा गया है, हल या हलि (महद्धलं हलिः) एवं हलीषा (हरीस) का प्रयोग नहीं हुआ है, पाणिनि ने भी लाङ्गल का प्रयोग नहीं किया है। परवर्ती काल में हल शब्द का प्रयोग बहुलतया हुआ है। स्मृतियों, सूत्रों आदि में भी इसी का प्रयोगबाहुल्य है। फाल के लिए फाल, पवीर, सुशेव शब्दों का प्रयोग हुआ है। त्सरु सम्भवतः कीलविशेष है, जो आज भी फाल के ऊपर लगाया जाता है। युग, धुर, वरत्रा, वध्री, नद्ध्री आदि हलीय उपकरणों का भी प्रयोग प्रचुरतया हुआ है। वरत्रा का प्रयोग सेचनपात्र के साथ किया गया है, जो मोट या कंड़ के साथ प्रयुक्त हो सकता है। वेद में द्रोण या अवत का नाम आया है, जो सम्भव है, 'करीन' का पूर्ववर्ती रहा हो। अमरसिंह ने द्रोणी का अर्थ लकड़ी का बना जलवाही वस्तुविशेष किया है, जो 'करीन' से ही मिलता है। पाणिनि ने वरत्रा के अर्थ में 'युगवरत्रा' शब्द का एक साथ प्रयोग किया है, जिसे आज के शब्दों में 'जुआ-बरता' कह सकते हैं। वरत्रा के लिए रश्मि शब्द का भी प्रयोग मिलता है। शम्य या शम्या युगकील (कनैल) है। ऋग्वेद में 'अष्ट्रा' पैना के लिए प्रयुक्त हुआ है (शुनमष्ट्राम्युचरत्)। पके हुए अनाज को काटने के लिए सृणि या दात्र का प्रयोग होता था। कटनी के लिए 'लवन' क्रिया का प्रयोग हुआ है। गाड़ियों के चक्र, नाभि, अर, धुरा, प्रधि, युग, शम्या आदि उपकरणों के नाम संवत्सर-प्रकरण में 'षडर' और 'द्वादशार' हैं। इससे प्रतीत होता है कि चक्रों में छह या बारह खाड़ी-पड़ी लकड़ियाँ होती थीं। ऋग्वेद (१।२८।१) में ग्रावा, पृथुबुध्न (बड़ी तलीवाला), उलूखल (ओखर) और मूसल का उल्लेख सोमप्रकरण में हुआ है, जब कि अथर्व के पै० सं० (१२।५।६) में उलूखल-मूसल का उल्लेख हुआ है।

१. प्रष्ठोऽग्रगामिनि (पा० ८।३।९२); प्रतिष्ठत इति प्रष्ठो गौः। अग्रतो गच्छतीत्यर्थः।—सि० कौ०।

खाद, गोबर चारा और माप

सूखे या जंगली गोबर के लिए 'करीष' शब्द का प्रयोग हुआ है। गोइठों या उपलों का प्रसंग कहीं नहीं आया है। अथर्ववेद में गोबर की प्रशंसा की गई है।

पशुओं के चारे में तृण (आतृणादो वत्सः—शत० ब्रा०, बृहदा० उप०), गवेधुक आदि का प्रयोग होता था। शस्य, बुस, कडङ्कर आदि खिलाये जाते होंगे। पाणिनि ने तो स्पष्टतः इन शब्दों का उल्लेख किया है।

भूमि के माप के लिए कोई शब्द-विशेष तो नहीं मिलता है, किन्तु धन्व (चित्रधन्वयोजनानि), गव्यूति, क्रोश आदि मार्गमापक शब्द मिलते हैं। सम्भव है, प्रस्थवाप, खारीवाप, द्रोणवाप आदि परवर्त्ती शब्द उस समय भी प्रचलित रहे हों।

केदार या खेत

कृषि-योग्य भूमि के लिए क्षेत्र या केदार शब्दों का प्रयोग हुआ है। भूमि कर्ष्य, कृष्ट और अकृष्ट तीन प्रकार की होती थी। उसके अन्दर भूमिकर्षण (भुवः कर्षणम्) से सीता या योनि बनती है, जिसमें बीज-वपन किया जाता है। बीज सम्भवतः एक-एक करके ही गिराया जाता था; क्योंकि ऋग्वेद में (योनौ वपतेह बीजम्) योनि (सीता) में बीज-वपन की बात कही गई है। यहाँ इक्षु और कपास का कहीं नाम नहीं आया है, लेकिन वस्त्र का विधान है। अथर्व (१२।५ जै० पैप्पलाद सं०) में 'तूल' का प्रयोग है। वहीं ऊर्णा का नाम आता है, जो मेष और अज का कोमल बाल है। लेकिन, यह सम्भव नहीं दीखता कि उस समय कपास नहीं होती हो और ईख भी नहीं।

आपदाएँ

अतिवृष्टि और अवृष्टि के कारण अवग्रह या सूखा पड़ने की बात आती है। अतएव, यथासमय वर्षा होने और वृष्टि से रक्षा की प्रार्थना की गई है। गृह्यसूत्रों में वृष्टि के लिए यज्ञविशेष का विधान किया गया है। बृहस्पति ने लिखा है कि अनावृष्टि, राजभय और मूषिकादिक उपद्रवों से कृषि में हानि होती है, लेकिन महाजनी में नहीं।[1] अथर्ववेद (१।१३) में प्रार्थना की गई है कि 'हे मेघ, तुम्हारी विद्युत् को नमस्कार है; तुम्हारे वज्रघोष को नमस्कार है; तुम्हारे दृढ़ मेघ को नमस्कार है, जिससे तुम दुष्टों को आहत करते हो। ओ वज्रपात के भयप्रद मेघ, तुम्हें नमस्कार है; तुम इससे उष्णता प्रदान करते हो; तुम हमारे शरीर पर कृपा करो और हमारे बच्चों की रक्षा के निमित्त दयालु बनो।' सायण के लेखानुसार इन मन्त्रों का प्रयोग-विनियोग वज्रपात के निरोध एवं गृहभूमि तथा क्षेत्रभूमि को खनकर सोम, कुश, कुष्ठ, लोष्ठ, मञ्जिष्ठ आदि द्रव्यों के निकालने में होता है। अन्नसंग्रह या धान्यसमृद्धि-कर्म में प्रार्थना की जाती है कि 'व्रीहि, यव आदि ओषधियाँ सारवती बनें। मेरे वचन सारवान् हों और मैं सारवती व्रीहियवादि ओषधियों का सहस्रों

---

१. अनावृष्ट्या राजभयान्मूषिकाद्यैरुपद्रवैः।
कृष्यादिके भवेद्धानिः कुसीदे सा न विद्यते ॥—बृह०, सू० १०, पृ० ४८०।

प्रकार से आहरण (संग्रह) करूँ ।'[1] 'मैं सारवान् देव को जानता हूँ, जो धन धान्य को अधिक स्फीत करते हैं। वह जो सम्भरण करनेवाले देव हैं, उनका हम आवाहन करते हैं, जिससे वे अयजनशील धनिकों के घर में संगृहीत धन-धान्य को लाकर हमें दे दें ।'[2]

ऋतुएँ

खेती के लिए ऋतुओं का ज्ञान परमावश्यक होता है और उसके बिना खेती हो ही नहीं सकती है। वैदिक महर्षियों को इसका पूरा ज्ञान था। ऋग्वेद में वर्ष को 'षडर' (छह अरोंवाला) कहा गया है (षडरमाहुरर्पितम्)। बारह मास के लिए 'द्वादशार' शब्द का प्रयोग हुआ है। यजुर्वेद में श्रावण और भाद्रपद मास को वार्षिक ऋतु, आश्विन और कार्त्तिक को शारद ऋतु और अगहन तथा पूस को हैमन्तिक ऋतु कहा गया है।[3] यव की बुआई जाड़े में और कटनी ग्रीष्म में, तथा धान की रोपनी वर्षा में तथा कटनी शरद् में होती थी। छीमीवाले अनाज और तिल ग्रीष्म में बोये जाते थे और जाड़े में काटे जाते थे।[4] इनके अतिरिक्त शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं का विचार भी आया है।[5] यजुर्वेद (२१।२३।२८) के मन्त्रों में वसन्त से आरम्भ करके शिशिर तक गिनाया गया है।

काठक, तैत्तिरीय और मैत्रायणी संहिताओं से ज्ञात होता है कि खेती के लिए उस समय वायु का ज्ञान भी पर्याप्त था। पुरोवात, पश्चाद्वात और तज्जन्य वृष्टि आदि का उल्लेख उन संहिताओं में हुआ है। इस ज्ञान के बिना कृषिकर्म हो भी तो नहीं सकता है। यह ऋतु एवं प्रकृति का पारम्परिक ज्ञान आजतक भारतीय किसानों में हजारों वर्षों से चला आ रहा है। घाघ, भड्डरी, डाक आदि की उक्तियाँ या कहावतें उसी ज्ञान-निधान की परम्परा की कड़ियाँ हैं, जो तत्कालीन भाषा के माध्यम से जनता के बीच फैली रहती हैं। घाघ-भड्डरी की उक्तियों के समान संस्कृत में भी बहुत-सी प्रकृति की आपदा-विपदा-सम्बन्धी उक्तियाँ विद्यमान हैं; जैसे, यदि वर्षाकाल

१. (क) नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥
(ख) नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नः तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥
(ग) पयस्वतीरोषधयः पयस्वन् मामकं वचः । अथो पयस्वती नामा भरेहं सहस्रशः ।
—अथर्व, ११३।

२. वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु । सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे यो यो अयज्वनो गृहे ।—अथर्व, ३।२३।२४ ।

३. नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू (१४।१५); इषश्चोर्जश्च शारदावृतू (१४।१६); सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू (१४।२७)।

४. द वैदिक एज, पृ० ४६०।

५. तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू (१३।२७); वसन्तोऽस्यासीदाज्यं, ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः (पुरुषसूक्त)।

में मेघ में कपिल वर्ण की बिजली चमकती है, तो समझना चाहिए कि तूफान आयगा; यदि अतिरक्त बिजली हो, तो धूप होगी; यदि पीली बिजली हो, तो वृष्टि का योग होगा और यदि उजली चमकती है, तो दुर्भिक्ष पड़ता है।[1]

अथर्ववेद में भविष्य-सूचक उक्तियाँ तथा उत्पातों को शान्त करने के लिए नैमित्तिक मन्त्र बहुलतया मिलते हैं। इस प्रकार, हमें वैदिक काल की परम्परा में कृषि के निमित्त अनेक कृषिकर्मों, उपकरणों आदि की उपज्ञा मिलती है। उपकरणों के निर्माण एवं उपादान, उनका प्रयोग-विनियोग, अन्नों के प्रकार, वपन, लवन एवं निष्पाव, संग्रह आदि सभी वर्णित हुए हैं। इन सभी की परम्परा सूत्र, स्मृति एवं रामायण, महाभारत तथा परवर्त्ती काल में भी मिलती है। अर्थशास्त्र में सूर्य, शुक्र और बृहस्पति ग्रहों की स्थिति पर अगली वर्षा और शस्य-समृद्धि का वर्णन किया गया है। मध्यान्तर धूप के साथ वृष्टि के योग को अच्छा माना गया है।[2]

सूत्रकाल

संहितोत्तर धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों में सभी वर्णों एवं आश्रमों के दैनन्दिन कृत्यों का विधान किया गया है। उनमें गृहस्थों के लिए अनेक नैत्यक, नैमित्तिक, काम्य आदि यज्ञों का वर्णन हुआ है। वह काल वस्तुतः यज्ञकाल था अथवा जीवन के सभी कृत्य यज्ञ के रूप में ही अनिवार्यतया विशेष विधान के साथ प्रतिपादित होते थे। उन यज्ञों के क्रम में ही कुछ ऐसे भी याग हैं, जो प्रत्यक्षतः कृषि से सम्बद्ध हैं तथा शेष दूसरे ऐसे हैं, जिनमें कृषि से उत्पादित अन्नों, ओषधियों तथा उसके उपकरणों का प्रयोग-विनियोग हुआ है। उन सूत्रग्रन्थों से हमें औत्तरकालिक कृषिकर्म के विकास की परम्परा के आधारसूत्र मिलते हैं।

सूत्रकारों ने सभी पौर्णमासी और अमावास्या के दिन दर्शपौर्णमास याग करने का विधान किया है और यह याग पायस से होता था, जिसमें तण्डुलों का प्रयोग होता था। वहाँ धान्यों के कूटने के लिए उलूखल और मूसल का प्रयोग किया जाता था। कूटने के अर्थ में 'अवहनन' क्रिया का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं 'उद्वेच' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[3] वहाँ स्कन्दस्वामी ने उद्वेच का अर्थ 'तुषमुक्त करना' किया है। फटकने के लिए शूर्प का प्रयोग होता था। उसमें 'शूर्पण' क्रिया का भी प्रयोग हुआ है। सूप का उपयोग वस्तुओं के रखने के लिए भी होता था, जैसा कि 'लाजाहोम' या 'श्रवणा' (श्रावणी) कर्म में 'तण्डुनिधान' के रूप में गोभिल ने किया है।[4]

---

१. वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥

२. वातमातपयोगं च विभजन् यत्र वर्षति।
त्रीन् कर्षकांश्च जनपदांस्तत्र शस्यागमो ध्रुवः॥ —अर्थशास्त्र, ४०।२४।

३. गो० गृ० सू० ३।७।१ ; उद्वेचं तुषमुक्तं यथा स्यात्तथा।—स्कन्द।

४. उपरिवत्।

सिद्ध अन्नों में पायस, चरु, ओदन, भक्त, लाजा, करम्भ, भरुज, सक्तु, पृथुक (चिउड़ा), पिष्ट, अपूप, पुरोडाश और यवागू का विशेष वर्णन आया है।[१] लवण मधु, मधु-मिश्रित सक्तु, गुड़, शर्करा, पीपर (लाल-काला) और मरीच का उल्लेख आपस्तम्बधर्मसूत्र में आया है।[२] वहीं आम के रोपने का भी वर्णन आया है, जिसकी परिणति फल और छायादान में है।

अन्न और वनस्पति

सूत्रकाल में भी उन सभी अन्नों का वर्णन आया है, जिनका उल्लेख वेदों में हुआ है। इनमें व्रीहि, यव, तिल, प्रियङ्गु, श्यामाक, गोधूम, सर्षप तथा शिम्बिधान्यों में माष (उड़द), मुद्ग और कुलत्थ का प्रयोग बहुलतया होता था।[३] शांखायन श्रौतसूत्र ने यव-गोधूम-क्षेत्र को यज्ञवेदी, खलिहान को ऊँची वेदी और शस्यपुञ्ज को चषाल (मुद्रिका) के रूप में बताया है। बौधायन के अनुसार ईख की खेती का भी प्रचार-प्रसार था।[४] कार्पास का सीधा वर्णन वेदों में तो नहीं हुआ है, किन्तु सूत्रकाल में कार्पास, शण और क्षुमा (अलसी) की खेती वर्ष में दो बार होती थी।[५] हैमन्तिक अन्न वस्तुतः शरद् में काट लिये जाते थे, जब कि वासन्तिक अन्न वसन्त ऋतु में काटे जाते थे।[६] टीकाकार गोविन्द-स्वामी ने ओषधियों[७] का विभाजन वल्ल्यौषधि और तृणौषधि के रूप में किया है।[८]

इन अन्नों की सुरक्षा के लिए खेतों के चारों ओर बाड़ लगाने का भी उल्लेख हुआ है। गौतम ने लिखा है कि यदि मार्ग के किनारे के अनावृत खेतों के शस्य को पशु चर जायें, तो उसका दोषी चरवाहे के साथ क्षेत्रस्वामी भी होगा। उस समय भी चूहों, चिड़ियों और टिड्डियों से सुरक्षा का उपाय आज-जैसे ही करना पड़ता था।

इनके अतिरिक्त, लशुन, पलाण्डु और गृञ्जन (गाजर) का निषेध-प्रकरण में उल्लेख हुआ है। लता-व्यञ्जनों में अलाबु, कोशातकी, बृहती, काकातनी, कालकलीतक आदि के नाम आये हैं।

वनस्पतियों में शमी, अश्वत्थ, न्यग्रोध, वट, पर्कटी, उदुम्बर, पलाश, बिल्व, आम्र, मधूक एवं खदिर का उल्लेख प्रमुख रूप में हुआ है। इनमें प्रथम आठ यज्ञीय वृक्ष हैं, जिनकी शाखाओं, पत्तों और समिधाओं का प्रयोग दण्ड, पूजा तथा हवनों में होता था। इनके

---

१. आप० ध० सू० २।६।१।२८ तथा गृ० सू० ।

२. २।७।२०; इण्डिया ऑव कल्पसूत्राज, पृ० १६३ ।

३. इण्डिया ऑव कल्पसूत्राज; कौ० सू० ८।२०; आप० श्रौ० सू० १६।२८।१३-१४; बौ० श्रौ० सू० २४।१० ।

४. शां० श्रौ० सू० २४।४०।६—८; बौ० गृ० सू० ३।१०।४ ।

५. इण्डिया०, पृ० १३४ ।

६. मा० गृ० सू० २।३।१०।१२ ।

७. ओषध्यः फलपाकान्ताः (अमर० वनौ०) ।

८. धर्मशास्त्राज, पृ० २०६ ।

अतिरिक्त निम्ब, विभीतक (बहेड़ा), आमलक, हरीतकी, कोविदार, शाल्मली, राजवृक्ष, अरलु, दधित्थ और श्लेष्मान्तक का भी उल्लेख हुआ है।[१] मुञ्जकुश, अपामार्ग, अरिमेद (अरिष्ट), अर्क (अकवन) जैसे तृणों और ओषधियों का उल्लेख हुआ है। इनमें मुञ्ज, कुश और अपामार्ग तो यज्ञ-प्रयोजन के लिए बहुलतया प्रयुक्त होते थे। मौञ्जी मेखला ब्राह्मण ब्रह्मचारियों के लिए अनिवार्य थी। मालती (पुष्प) मोचक, कपाकु (गोबरछत्ता), छत्राक, अहिच्छत्राक, मुकुन्द, पद्म, परारिक, पीलु आदि ओषधियों का विधि-निषेध-प्रकरण में सप्रसंग उल्लेख हुआ है।[२] हरिद्रा, पिप्पली, मरीच आदि मसालों का भी वर्णन हुआ है।[३] बन्धूक, वार्त्ताकु, वेणु और विभीतक की गिनती वनस्पतियों में की गई है। सूत्रकाल में व्रीहि, यव, श्यामाक सर्षप और तिल अति पवित्र अन्न माने गये हैं। ये सभी श्राद्ध तथा दर्शपौर्णमास याग के लिए विहित धान्य हैं। यव का लप्सी 'यावक व्रत' में विहित है और वह सभी पापों को नष्ट करती है। व्रीहि का अवहनन करके तण्डुल (चावल) निकाला जाता था। ब्राह्मणों के लिए इनका व्यापार निषिद्ध माना गया है।[४]

वनस्पति शब्द से वृक्ष और लतागुल्म सभी का ग्रहण होता है।[५] इनमें फल तो लगते हैं, फूल नहीं होते। वनस्पतियों के फलों और पत्तियों का तोड़ना निषिद्ध है।

वल्ल्योषधियों की परिभाषा में कहा गया है कि जिनकी लताओं से ही अन्न या फल निकाले जाते हैं, वे ही वल्ल्योषधियाँ हैं; जैसे कुलत्थ आदि, और तृणौषधियाँ वे हैं, जिनके उपरले भाग से फल लिये जाते हैं; जैसे व्रीहि आदि।[६]

संहितोत्तर काल में भी उपर्युक्त सभी अनाज आते हैं और उनका उपयोग उसी प्रकार होता है। हाँ, प्रयोग-क्षेत्र का विस्तार अवश्य हुआ है।

उपकरण और प्रयोग-विनियोग

सूत्रों के अनुसार आश्वयुजी (आश्विन) पूर्णमासी के दिन जो याग होता था, वह वस्तुतः 'पशुपुष्टियाग' है। उस दिन (नव) व्रीहि से होम करने विधान है, जब कि वसन्त-याग में यवों से। साथ ही, पशुओं के शुभ के लिए अपराह्न में सिराउर से ढेला लाकर दूसरे प्रातः उस ढेले की धूलियों को उनपर छिड़ककर जप करने को कहा है।[७] गोभिल ने 'पशुपुष्टि' की कामना से औदुम्बर तलवार से बछड़े और गौ के आलम्भन (स्पर्श) के लिए कहा है।[८]

---

१. हिन्दुया०, पृ० २३४।
२. धर्मशास्त्राज, पृ० २०६—१२।
३. उपरिवत्।
४. उपरिवत्।
५. गौ० सू० ३।२०; आप० ध० सू०, उज्ज्वलटीका : 'वीरुद् वृक्षाणामप्युपलक्षणम्।'
६. यासां वल्लीभ्य एव धान्यं गृह्यते ता वल्ल्यौषधयः। ताश्च कुलत्थादयः। तृणौषधयस्तु तस्मा-दुपरिष्टादोषधयः फलं गृह्णन्ति, इत्यत्र या उक्तास्ता व्रीह्यादय।—बौ० ध० सू०: गोविन्दस्वामी।
७. द्रा० गृ० सू०; ३।४।४४।
८. गो० गृ० सू० ३।१।३-५।

हलाभियोग

पुष्य नक्षत्र में 'स्थालीपाक' पकाकर इन्द्र, मरुत्, पर्जन्य, अशनि और भग देवताओं के लिए हवन करने को लिखा है। उसी याग में सीता, आशा, अरडा और अनघा इन चार देवियों के यज्ञ करने को भी लिखा है। ये सभी सिराउर की देवियाँ हैं।[1]

सत्यव्रत सामश्रमी ने सीता, आशा, अरडा और अनघा को कृषियन्त्र कहा है।[2] यह 'सीतायज्ञ' या 'हलाभियोग' कहलाता है। इसके साथ ही 'खलयज्ञ' में प्रवण, प्रलवण और पर्य्ययण कर्म होते हैं, अर्थात् अभिनिमन्त्रण, धान्यलवन और उत्पवन (दौनी, ओसाना आदि) कार्यों के लिए 'खलयज्ञ' (खलिहान का यज्ञ) किया जाना चाहिए।[3]

उत्करों (धान्यराशि) में आखुराज की पूजा करने का विधान हुआ है।[4] पशुओं के स्वस्त्ययन की कामना से व्रीहि और यव से होम करने का भी विधान आया है।[5]

ये सभी देवता और कर्म कृषि से ही सम्बद्ध हैं। इन्द्र, मरुत् पर्जन्य, अशनि और भग (सूर्य) वर्षा के देवता हैं तथा सीता, आशा, अरडा और अनघा शस्यक्षेत्र के देवता। इन वर्षण-देवों का तथा सीता आदि कृषि-देवताओं का उल्लेख संहिताओं (काठक मैत्रायणी, पैप्पलाद) में भी हुआ है।

नवशस्येष्टि

आश्वयुजी या आग्रहायणी पौर्णमासी में नवशस्येष्टि अथवा नवान्नभोजन-यज्ञ करने का विधान गृह्यसूत्रों में आया है। इस यज्ञ में नवीन व्रीहिधान्य का पायस पकाकर इन्द्र और अग्नि के लिए होम करने का विधान है। आज भी बिहार में सर्वत्र अगहनी धान के काटने के पूर्व एक निश्चित सुमुहूर्त के दिन हरा धान काटकर, उसका अरवा चूड़ा कूटकर, पञ्चामृत बनाकर पहले हवन किया जाता है, तत्श्च ब्राह्मण-भोजन होता है और पश्चात् सभी गृहस्थ यजमान अपने परिवार के साथ वही यज्ञशेष खाते हैं। यह धान्यकृषि का एक अपरिहार्य अंग है। वासन्तिक अन्न के लिए मेष संक्रान्ति के दिन नवान्न का सत्तु, आम के टिकोले की चटनी के साथ खाया जाता है। परवर्त्ती निबन्धकारों ने भी इनका विधान किया है।

वासभूमि

खादिर गृह्यसूत्र में मृत्तिका के तीन भेद माने गये हैं : गौर, लोहित और कृष्ण। गौर मृत्तिकावाली वास्तुभूमि में ब्राह्मण का वास होना चाहिए; लोहित में क्षत्रिय का तथा कृष्ण में वैश्य का। वासभूमि में पश्चिमोत्तर ढालू भूमि अच्छी मानी गई है। कुशी-

१. गो० गृ० सू० ४।४।२७।

२. सीतादीनि च चत्वारि कृषियन्त्राणि च पूजयेत्।—गो० गृ० सू०, सत्य० टीका।

३. गो० गृ० सू० ४। ४, २७—३०।

४. उपरिवत्।

५. उपरिवत्।

वाली भूमि ब्रह्मवर्चस्विनी, बड़ी घासोंवाली बलकारक और मृदु तृणोंवाली भूमि पशुहितकारी होती है।'[1]

कौशिकगृह्यसूत्र

कौशिकगृह्यसूत्र अथर्ववेदियों का गृह्यसूत्र है। अथर्ववेद में, विशेष कर उसकी पैप्पलाद-संहिता में जिस प्रकार तत्कालीन कृषि के विषय में पर्याप्त ज्ञेय सामग्री प्राप्त होती है, उसी प्रकार इस गृह्यसूत्र में भी पर्याप्त कृषि-सामग्री वर्तमान है। इसलिए, यहाँ उसका पृथक् विवरण दिया जा रहा है।

हलाभियोजन

पहले गृह्यसूत्र में हलाभियोग की बात कह दी गई है, किन्तु यहाँ उसका विस्तृत विधान है। इस सूत्र के अनुसार प्रथम हल-प्रवहण के समय गृहस्थ स्वयं 'सीरा युञ्जन्ति' मन्त्र से जुए को हल में जोड़ता है, ततश्च पहले दाहिने बैल को, फिर बायें बैल को जुए में नाधता है। तत्पश्चात्, कीनाश (हलवाहे) को कहता है कि दूसरे बैलों तथा फाल आदि को वह जोड़े। ततश्च, फाल की मन्त्रपूर्वक पूजा करके उसे पूओं से ढककर तीन बार पूर्व की ओर हल चलाकर तीन सिराउर बनाये जाते हैं, साथ ही सूक्तपाठ होता रहता है। फिर, वहाँ से घूमकर पश्चिम की ओर जाकर, और तब उत्तर की ओर की सीता के अन्त में पुरोडाश से इन्द्र की पूजा की जाती है। सिराउरों में हवन किया जाता है। हरी घासों की आहुति देकर सभी यन्त्रों को अभिमन्त्रित कर गृहस्थ सिराउर से एक ढेला उठाता है, तब उसकी पत्नी पूछती है—'क्या भूमि जोत ली?' वह उत्तर देता है—'हाँ, जोत ली।' पत्नी—'तब उससे क्या मिला?' गृहस्थ—'वित्त, वैभव, वृष्टि, प्रजा, पशु, अन्न और अनाज प्राप्त हुए हैं।' पुनश्च, मध्यमा सीता में वरण करता है। अगले फाल को दूसरे प्रातः काल के आयोजन के लिए छोड़ देता है। सीता के सिर पर कुशों का आस्तरण करके पाकड़ और गूलर की तीन-तीन समिधाएँ डाली जाती हैं, जिनमें रसवती दक्षिण में, शष्पवती मध्य में और पुरोडाशवती उत्तर में। ततश्च, समान रूप बछड़ेवाली गाय के गोबर-पिण्ड को गुग्गुलु और लवण में देकर उपस्पर्श करता है। दूसरे दिन प्रातःकाल उस क्षेत्र को जोतना भी आवश्यक माना जाता है। इसे 'आनडुह साम्पद' कहते हैं।'[2]

स्फातीकरण

ततश्च, शान्तफल, शिलाकृति (बाल), ढेला और वल्मीक की मिट्टी के पिण्ड को तथा तीन कुदी-प्रान्तों को बिचले पत्ते में कुश से बाँधकर धान्यराशि पर रखा जाता है। इसे स्फाती (वृद्धि)-करण कहते हैं। यह विधि आज भी खलिहान में सम्पन्न धान्य-राशि पर गोबर-पिण्ड रखकर पूरी की जाती है। अब भी इसे 'बाढ़न', 'महदेवा' आदि नामों से पुकारा जाता है।[3]

---

१. खा० गृ० सू० ४।२।६-१४।
२. कौ० गृ० सू० २६।३।२०।
३. अवशिष्ट, ३।२६।४।२१।

मैश्रधान्यप्राशन

मिश्रधान्य (सतंजा) को भृष्ट-पिष्ट (भुज-पीस) कर लोहित (सैन्धव लवण या रक्त चन्दन) में मिलाकर रससिक्त करके खाने का विधान है। किन्तु, अभृष्ट सक्तु (अरवा सत्तू) को पाकड़ और गूलर के तीन चमसों में अग्नि से उत्तर की ओर रखे। इसी प्रकार शेष विधि पूरा करे।[1]

इसी प्रकार, नवीन शाला में प्रवेश के समय भी घृत-मधु के मिश्रण से होमादि करके उनका प्राशन करने का विधान है।

बीजोपहरण

क्षेत्र के जोत-कोड़ लेने पर उर्वर भूमि के लिए घृतमिश्रित जौ के बीजों को ले जाकर मन्त्रपूर्वक बोने का विधान किया गया है। प्रथम तीन मुष्टिका अन्नबीज एक स्थान में रखकर मिट्टी से ढक देने का विधान है, तत्पश्चात् ऋचाएँ पढ़कर उसे बोया जाता है। फलाकांक्षा के अनुरूप बीज-वपन की विधि बताने के पश्चात् लिखा है कि तीन पग पूर्व या उत्तर की ओर चलकर ऊँचे प्रदेश में खड़े होकर गृहस्थ वीक्षण करे और अग्नि के समक्ष जुते हुए हल को जलपात्र के जल से अभिमन्त्रित करे, तत्पश्चात् विविध कामनाओं की पूर्त्ति के लिए तत्तत् मन्त्रों से वपन करे।[2]

रोगशान्ति (चतुर्थ कण्डिका)-प्रकरण में जुते हुए हल से रोगी के सिर पर अवसेचन करने का विधान किया गया है तथा २१ यवों को कढिया (दूध दुहने का पात्र) में रखकर अवसेचन का विधान है। आरण्यक तिल, शण और गोमय यक्ष्मा के शमन के औषध हैं। अभिचार में भूमि को जोतने के लिए काले बैलों से जुते हल का विधान किया गया है।[3]

इस सूत्र के 'अद्भुतप्रकरण' में लिखा है कि हल के संसर्ग हो जाने पर जंगल के बीच जाकर सीता को आगे करके पूर्वमुख हो समिधाधान करे। वहाँ एक मन्त्र है, जिसमें सीता को कुमुद्वती, पुष्करिणी, सर्वाङ्गशोभनी, कृषि, सहस्रप्रकारा और प्रत्यष्टा भी कहा गया है और उसकी कामना की गई है। दूसरे मन्त्र में पृथ्वी को भी पर्जन्यपत्नी, हरिणी, अभिजिता और कालनेत्रा कहा गया है तथा उससे प्रार्थना की गई है कि वह द्विपदों और चतुष्पदों के विषय में तृप्ति प्रदान करे। तीसरे मन्त्र में कृषि को हिरण्यस्रक् (सोने को मालावाली), पुष्करिणी, श्यामा, सर्वाङ्गशोभनी और हिरण्यप्रकारा कहा गया है। इसे 'शुनासीरानुयोजन' कहा जाता है।[4]

---

१. कौ० गृ० सू० १६। ३। २२।
२. तत्रैव, ३। ४६। ७। २४।
३. उपरिवत्।
४. कुमुद्वती पुष्करिणी सीता सर्वाङ्गशोभनी।
   कृषिः सहस्रप्रकारा प्रत्यष्टा श्रीरियं मयि॥
   पर्जन्यपत्नी हरिण्यभिजितास्त्वमि नो वद।
   कालनेत्रे हविषो नो जुषस्व तृप्तिं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥

धेनुओं के रुधिर-दोहन पर तथा धेनु के धेनु या बैल द्वारा स्तन पीने पर प्रायश्चित्त का विधान है। धूमकेतु और उल्कापात में भी प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।[१]

सर्पपाकयज्ञ में यज्ञभूमि के बनाने में भूमि की पूजा-प्रार्थना आदि की गई है।[२] राजाओं के लिए 'इन्द्रमह' (इन्द्रध्वजोत्सव) की व्याख्या अन्त में दी गई है, जिसका विधान भादों की पूर्णिमा या आश्विन की कृष्णाष्टमी के दिन किया गया है। इसमें पशुओं का उपचार भी विहित है।[३] प्रतीत होता है कि कृषकों का ही यह पर्व था और इसे ही भगवान् कृष्ण ने हटाकर 'गोवर्धनपूजा' प्रारम्भ कराई थी, जिससे इन्द्र के क्रुद्ध होने की कथा प्रचलित हुई है।

रामायण-काल में कृषि

वाल्मीकीय रामायण में कृषि-विषयक सामग्री की प्राप्ति अत्यल्प है, फिर भी जितनी उपलब्धि होती है, उससे तत्कालीन एक दृढ़ प्रकार की खेती का अनुमान होता है तथा यह ज्ञात होता है कि उस समय कृषि एक समुन्नत और सम्मानित जीविका थी। 'रामराज्य में समय पर वर्षा होती थी, सर्वत्र सुभिक्ष था, दिशाएँ प्रसन्न थीं; पुरवासी तथा जानपद प्रजा सभी हृष्ट-पुष्ट थे। किसी की अकालमृत्यु नहीं होती थी और न कोई रोग ही था, न कोई अनर्थ (आपद्-विपद्) ही।'[४]

जनक ने कहा है कि दुर्भिक्ष के बाद जब मैं कृषि के लिए खेत जोत रहा था, तब हल की सीता से यह मेरी अयोनिजा कन्या प्राप्त हुई थी। यह कथा विश्रुत है।[५] राजा के पास जब सभी ब्राह्मण अपनी-अपनी दान-दक्षिणा लेने आये थे, तब एक ऐसा ब्राह्मण भी आया था, जिसके साथ हल-फाल और कुदाल थे। वह त्रिजट नाम का पिंगल गार्ग्य था, जो क्षतवृत्ति होकर जंगल में बसता था।[६] अन्तिम राजसूय यज्ञ में अयोध्या से जिस समय यज्ञ-सम्भार जा रहे थे, उस समय के वर्णन में आया है कि चावलों की सौ हजार गाड़ियाँ और तिल, मूँग, चना, कुलथी, माष (उड़द) और नमक की दस लाख गाड़ियाँ यज्ञभूमि में भेजने का आदेश दिया गया था। और, इनके अनुरूप ही तेल, गन्ध (मसाले) आदि भी भेजने का आदेश था।[७]

हिरण्यस्रक् पुष्करिणी श्यामा सर्वाङ्गशोभनी।
कृषिर्हिरण्यप्रकारा प्रत्यष्ठा श्रीरियं मयि॥

१. कौ० गृ० सू० ३।२०।११२-११३।
२. कौ० गृ० सू० ४३।१।१३०।
३. कौ० गृ० सू० २२।५।१४०।
४. वा० रा०, उत्तरकाण्ड, ९९।१२।
५. अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः।
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा॥—वा० रा०, बा० का० ६६।१३-१४।
६. तत्रासीत् पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः।
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली॥—वा० रा०, अयो० का० ३२।३०।
७. वा० रा०, उ० का० ९१।१९-२०।

राम ने भरत से प्रश्न किया था—'भाई, तुम्हारे राज्य में कृषि और गोपालन से जीविका चलानेवाले अच्छे हैं न ? क्योंकि, वार्त्ता में प्रवीण प्रजा ही सुख प्राप्त करती है।'[१]

महर्षि विश्वामित्र ने मगध देश का वर्णन करते हुए उसे शाद्वल तथा शस्यसम्पन्न बताया है, वहाँ मागधी नदी शस्यसमृद्ध क्षेत्रों से होकर बहती है। शालियों के खेत तथा आम्र, मधूक आदि के वृक्ष उसे समृद्ध बनाये हुए हैं।'[२] वत्सदेश के प्रसंग में जनपदों को 'प्राज्यकाम' तथा 'सम्पन्नतरगोरस' कहा गया है। कोशलदेश में इक्ष्वाकुओं के शासन में अनावृष्टि और दुर्भिक्ष नहीं हुआ था।[३] बिहार-राज्य के मलद और करूष (शाहाबाद का जिला) धन-धान्य से स्फीत थे।[४]

उस समय कृषियोग्य भूमि उर्वर होती थी, वीरान भूमि 'इरिण' या 'ऊषर' कहलाती थी। गोचरभूमि, शाद्वल और जंगल या वनप्रदेश पृथक् थे। इन सभी पर स्वामित्व राजा का था। इन सभी प्रकार की भूमियों पर हल, कुदाल, खनित्र आदि से खेती करने का वर्णन आया है। कृषक सिंचाई के लिए वर्षा पर निर्भर करते थे। लेकिन, कृत्रिम साधनों—उदपान, तडाग, कुल्या आदि का भी प्रयोग होता था। ये बहुत बड़े आकार के तथा पक्की वेदिका से घिरे होते थे। वर्षा पर निर्भर भूमि देवमातृक या नदीमातृक और कृत्रिम साधन से अभिषेचित भूमि अदेवमातृक कहलाती थी।[५]

बीज-वपन में मुट्ठी-भर अन्न रखकर छींटा जाता था : 'बीजमुष्टिः प्रकीर्यते' (२।६७।१०)। क्षेत्रों या केदारों में जुताई के बाद बीज-वपन होता था। सिराउर में बीज गिराये जाते थे, सिराउर को सीता कहते थे। धान के क्षेत्र को कलम-क्षेत्र कहा जाता था। कालिदास ने लिखा है कि रघु ने वंगीयों को उखाड़कर फिर प्रतिष्ठित कर दिया, जैसे शालि-कलमों को उखाड़कर रोप दिया जाता है। चावल की कटनी कार्त्तिक और माघ में होती थी। हैमन्तिक शस्य के समान वासन्तिक शस्य भी होते थे। जैसे सुवृष्टि, सुराज, उर्वर भूमि आदि शस्य की समृद्धि के लिए आवश्यक थे, वैसे ही कृषि के शत्रुस्वरूप छह ईतियाँ—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ, मूषिक, पक्षी और शत्रुतासम्पन्न राजे—अनपेक्षित मानी जाती थीं।

---

१. कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः।
वार्त्तायां संश्रितं तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥—वा० रा०, अयो० का० १०० । ४७ ।

२. वा० रा०, बा० का० ३२ । १० ।

३. प्राज्यकामा जनपदाः सम्पन्नतरगोरसाः ।—वा० रा०, अरण्यका० ३६ । ७ ।

४. एतौ जनपदौ स्फीतौ दीर्घकालमरिन्दम।
मलदाश्च करूषाश्च मुदिता धनधान्यतः ॥—वा० रा०, बा० का० २४ । २४-२५ ।

५. निर्जलेषु च देशेषु खानयामास्युत्तमान्।
उदपानान् बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान् ॥
अचिरेण तु कालेन परिवाहान् बहूदकान्।
प्रचक्रुर्विविधाकारान् सागरप्रतिमान् बहून् ॥—वा० रा०, अयो० का० ८० । १२-११ ।

रामायण के समय में किसान, हल, लाङ्गल, फाल, कुद्दाल, खनित्र, दात्र, कलश, कुम्भ, क्षुर, टंक, कुठार, परशु, पिटक और शूल का उपयोग करते थे। उस समय अशोकवनिका तथा सुग्रीव के उद्यान से उद्यान-कृषि पर भी पूरा प्रकाश पड़ता है, जिसमें विविध प्रकार के सामयिक फलों के साथ मधु के उत्पादन का पूरा प्रबन्ध था।

उत्पादित अन्नों तथा फलों में व्रीहि, शालि, यव, तिल, मुद्ग, सर्षप; चणक, कुलत्थ, माष, गोधूम आदि अन्न तथा मरीच, जाति, कक्कोल आदि मसाले और आम्र, मधूक, पनस आदि फलों का उल्लेख हुआ है।

किसान राजा को अपनी उपज का छठा भाग बलि में देते थे। उसके बदले राजा उन्हें सुरक्षा प्रदान करता था।

उपर्युक्त वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण-काल में कृषि का अच्छा विकास हुआ था और जीविका के रूप में ब्राह्मण-क्षत्रिय भी इसको स्वीकार करते थे। यह हेय वृत्ति नहीं रह गई थी। कृषि की भूमि, बीज-वपन, सिंचाई की अकृत्रिम तथा कृत्रिम व्यवस्था, सुरक्षा, उद्यानोत्पाद आदि सभी उन्नतावस्था में विद्यमान थे। राजा का ध्यान गाँवों की इस वृत्ति पर उसी प्रकार रहता था, जिस प्रकार नगर के व्यापार-व्यवसाय पर। कृषि जीविका का मूल साधन थी। राजा के अष्टवर्ग में कृषि का अन्यतम स्थान था। यह कभी उपेक्षणीय नहीं रही। प्रो० काणे के अनुसार उस समय कृषिजीवी ब्राह्मण वैश्यब्राह्मण कहलाते थे।[1] राजसूय यज्ञ में यज्ञभूमि के शोधन के लिए स्वर्णलाङ्गल से भूमि-कर्षण करने की परिपाटी थी। अयोध्या के राजसूय में देवयजन-भूमि को हल से जोतने का वर्णन आया है।[2]

महाभारत तथा पुराणकाल में कृषि

रामायणोत्तर महाभारत में इसी प्रकार छिटपुट ही कृषि का प्रसंग आता है। इतना तो निश्चित ही है कि वह समय ऐसा था, जब कि दूसरे उद्योग-धन्धों का इतना विकास नहीं हुआ था कि केवल उसी पर निर्भर रहा जा सके। भारत का आर्थिक ढाँचा सदा से कृषि पर ही निर्भर रहा है। कृषि-उत्पादन का ही षष्ठ भाग राजकोष में जमा होता था। महाभारत के शान्तिपर्व में यत्र-तत्र कृषि का उल्लेख हुआ है। कृषि के विषय में वह कहता है कि कृषक के घर खाद्य और बीज का कभी अभाव नहीं होता है।[3] वैश्यों को कृषिगोरक्ष्यजीवी कहा गया है। सभापर्व में ब्राह्मणों का कृषिजीवी होना निन्दित माना गया है।[4] विराट का पशुपालन और गोव्रज का आधिपत्य प्रसिद्ध ही है। वह ऐसा था कि उसकी गायों के प्रति दुर्योधन तक को लोभ समा गया था और उसने उनकी प्राप्ति

१. हिस्टरी० धर्म०, खण्ड० २, भाग० १, पृ० १३०।

२. रामायणकालीन भारत, पृ० २१३—२२६; कन्काईन्स ऑव द फौना इन द रामायण : शिवसहाय चौधरी, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, २८।२, ३०।२।

३. कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति।—महा०, सभा० २।७५।

४. महा०, सभा० १२।१८।

के लिए आक्रमण कर दिया था। कृष्ण तो गोपालक-कुल में पले ही थे और गोविन्द नाम से प्रसिद्ध हुए थे। मगध के वर्णन-प्रसंग में वहाँ के शालियों, आम्रवनों, मधूकों और क्षेत्रों की शाद्वलता का अतिरमणीय चित्रण किया गया है।

पुराणों में भी 'पृथुकथा', कृष्ण की व्रजलीला तथा दूसरे विकीर्ण कथाभाग कृषि के प्रमाण हैं। भागवत का दशम स्कन्ध तो कृषि के अनेक वर्णनों से परिपूर्ण है ही। वहाँ पृथु-प्रकरण में आया है कि 'तब ब्राह्मणों ने सोने के हल से देवयजन-भूमि का कर्षण किया और शास्त्रानुसार राजा को यज्ञ के लिए दीक्षित किया।'[१] एक स्थान पर आया है कि 'खेती की उपज को खाद्य नहीं बनाना चाहिए और अकालपक्व, अकृष्टपच्य अन्न भी नहीं खाना चाहिए।'[२] यहाँ कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य शब्द का प्रयोग हुआ है। वहीं एक स्थान पर यज्ञसवन-प्रकरण में आया है कि 'मेधिस्तम्भ (मेंह) में दौनी के लिए लगे पशु जोड़ देने पर तीन-तीन के सवनों में यथास्थान मण्डलाकार घूमते हैं।' यहाँ 'मेढिस्तम्भ', 'आक्रमणपशु' 'संयोजित', 'त्रिसवन', 'यथास्थान' और 'मण्डल'—ये कृषि के पारिभाषिक शब्द हैं।[३] वहाँ की गोवर्धनपूजा गृह्यसूत्रों के 'इन्द्रमह' का परिवर्त्तित रूप है। जंगलों तथा गोचरभूमि की शाद्वलता का वर्णन आया ही है। केदारों और क्षेत्रों के शस्यों की हरीतिमा का सप्रसंग वर्णन सभी पुराणों में आया है। माहात्म्यों में तो नदी-नालों, उदपानों, तडागों, वनों और क्षेत्रों का इतना प्रचुर वर्णन हुआ है कि उनका अध्ययन एक पृथक् विषय ही बन जाता है।

सम्पूर्ण अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कृषि उस समय भी प्रमुख रूप से आर्थिक जीवन की रीढ़ बनी हुई थी और उसका प्रचार, प्रसार तथा विकास भी हुआ था।

अर्थशास्त्रकालीन कृषि

आर्य चाणक्य का अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त मौर्यकालीन है। उसमें तत्कालीन आर्थिक और राजनीतिक अवस्थितियों का बहुत विस्तृत विवेचन किया गया है। उससे भी तत्कालीन कृषि की अवस्था का अच्छा दिग्दर्शन होता है। चूँकि, कृषि आर्थिक अवस्थितियों की रीढ़ थी, इसलिए आर्य चाणक्य ने दो पृथक् प्रकरणों में उसका विवेचन किया है।

सीताध्यक्ष

उस समय राज्य में कृषि का एक पृथक् स्वतन्त्र विभाग होता था, जिसे 'सीता' कहते थे।[४] उस विभाग का बड़ा अधिकारी या मन्त्री 'सीताध्यक्ष' कहलाता था। सीताध्यक्ष सभी नहीं हो सकते थे। सीताध्यक्ष होने के लिए कृषिशास्त्र, शुल्वशास्त्र और वृक्षायुर्वेद

१. तलस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षायां चक्रिरे नृपम् ॥—भाग० १।४।१२ ।

२. न कृष्टपच्यमश्नीयादकृष्टं चाप्यकालतः ।—भाग० ७।१२ ।

३. यथा मेढिस्तम्भ आक्रमणपशवः संयोजितास्त्रिभिस्त्रिभिः सवनैर्यथास्थानं मण्डलानि चरन्ति ।
—भाग०, ५।२३।४ ।

४. सीताध्यक्षोपनीतः सस्यवर्णकः सीता ।—अर्थ० ३३।१६ ।

का ज्ञाता होना आवश्यक था, अथवा उन विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों का सहायक होना अनिवार्य था।[1] उसके अन्तर्गत धान्य, स्नेह (तैल), क्षार, लवण, मधु, शुक्त, फलाम्ल, द्रवाम्ल, कटुक, शाक—ये दस धान्य या कृषि-उत्पाद्य-वर्ग होते थे।[2] इन सबका संग्रह तथा राजकोष में जमा करके देखरेख और उपयोग-विनियोग करना उस सीताध्यक्ष का कर्त्तव्य होता था।[3]

अन्न और दूसरे उत्पादन

उस समय अर्थशास्त्र के अनुसार २६ मुख्य धान्य थे—कोद्रव, व्रीहि, शालि, वरक, प्रियङ्गु, श्यामाक, यव, गोधूम, तिल, मुद्‌ग, माष, कलाय, चमसी, शिम्बिधान्य, मसूर, कुल्माष, यावक, पुलाक, चणक, चीनाक, अतसी, सर्षप और कुसुम्भ।[4] 'कुल्माष, यावक, पुलाक, पिष्ट, कोद्रव, वरक, उदारक और प्रियङ्गु पकाने पर तिगुने बढ़ जाते हैं।'[5] इक्षु गुड़ के लिए रोपा जाता था। इसकी खेती में बहुत-सी बाधाएँ और प्रचुर व्यय होता था। कार्पास और क्षुमा का उत्पादन भी उस समय मुख्य रूप से होता था।

इनके अतिरिक्त निम्ब, आम्र, मधूक, कपित्थ आदि फलवृक्षों का उल्लेख हुआ है। तृणों में कुश-काश हैं, शाकवर्ग का पृथक् उल्लेख हुआ है।[6]

कृषि के अन्दर ही क्षार, लवण, मधु, शुक्त, फलाम्ल, द्रवाम्ल और स्नेह लिये गये हैं। इनके अतिरिक्त (कृष्टपच्य या अकृष्टपच्य) कन्द, मूल, पुष्प, वाल्लिक्य भी इसी के अन्दर आते थे।

भूमि का कर्षण और स्वामित्व

कृषि करनेवाला कृषक-वर्ग समाज का मुख्य अंग था। वह मुख्यतः वैश्य होता था, लेकिन ब्राह्मण क्षत्रिय भी कृषि करते थे। जिस भूमि का कोई स्वामी नहीं होता था अथवा जो भूमिभाग राज्य के अधिकार में होता था, उसकी खेती दासों, कर्मकरों और बन्दियों द्वारा कराई जाती थी। इसके लिए उन्हें कृषियन्त्र, उपकरण, बैल और बीज दिये जाते थे, जिससे उस भूमि पर उनका जोत का अधिकार या स्वामित्व नहीं हो पाता था। इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय अपने कृषि-उपकरणों के साथ जोतने-बोनेवाले को भूमि पर वैधानिक स्वत्व प्राप्त होता था।[7] 'ऐसी खेती कारुओं, शिल्पियों, कर्मारों, कुट्टाकों,

---

१. सीताध्यक्षः कृषितन्त्रशुल्बवृक्षायुर्वेदज्ञस्तज्ज्ञसखो वा।—अर्थ० ४०।२४।

२. धान्यस्नेहक्षारलवणानां मधुशुक्तफलाम्लद्रवाम्लकटुकशाकवर्गाणाम्।—अर्थ० ३२।२२।

३. सर्वधान्यपुष्पफलशाककन्दमूलवाल्लिक्यक्षौमकार्पासबीजानि यथाकालं गृह्णीयात्।—अर्थ० ४०।२४।

४. अर्थ०, ३२।२२।

५. उपरिवत्।

६. उपरिवत्।

७. बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकर्तृभिर्वापयेत्। कर्षणयन्त्रोपकरणबलीवर्दैश्चैषामसङ्गं कारयेत्।—अर्थ० ४०।२४।२।

भेदकों (रँगनेवालों), रज्जुवर्त्तकों (रस्सी बाँटनेवालों) और सर्पग्राहों (सँपेरों) से भी कराई जाती थी।''[1]

इससे प्रतीत होता है, आजकल की भावली और खासमहाल के समान उस समय भी 'स्वभूमि' होती थी, जो प्रायः 'बहुहलपरिकृष्टा' (अनेक हलों की जोत) होती थी और उसपर दूसरों द्वारा खेती कराने का वैधानिक अधिकार था। कृषि की सारी सामग्री की आपूर्त्ति करके केवल दूसरों के श्रम का उपयोग करने पर भूमि पर अपना अधिकार बना रहता था। इसे आर्य चाणक्य ने 'असङ्ग कारयेत्' वाक्यांश से परिलक्षित किया है।

बीज-वपन

शालि, व्रीहि, कोद्रव, तिल, प्रियङ्गु, उदारक और वरक धान्यों का बीज-वपन पहले किया जाता था; मुद्ग, माष और शिम्बिधान्यों का मध्य में होता था तथा कुसुम्भ, मसूर, कुलत्थ, यव, गोधूम, कलाय, अतसी और सर्षप की खेती पीछे होती थी। अथवा, जिसका जो समय (ऋतु) हो, उसी के अनुसार खेती की जाती थी।[2]

बीज-वपन के पश्चात् खेतों के सिरावर को आधा ढक देते थे, जिससे बीज ⅘ भाग स्ववीर्योपजीवी होते थे।[3] आज भी शारद और हैमन्तिक अन्नों की खेती पहले ही की जाती है। ऐसे अन्न 'पूर्ववाप' कहे जाते हैं। 'मध्यवाप' अन्न—मुद्ग, माष और दूसरे शिम्बिधान्यों का बीज-वपन प्रायः वर्षा ऋतु में होता है और वर्षा के अन्त या शरद् के आरम्भ में काट लिया जाता है। 'पश्चाद्वाप' अन्न सभी प्रकार के रबी या वासन्तिक हैं, जिनकी खेती उस समय भी सबसे पीछे होती थी और आज भी शरद् के अन्त तक होती है। उनकी कटनी वसन्त ऋतु में होती है।

बीज-वपन के प्रारम्भ में सुवर्णोदक से सिक्त बीजों की पहली मुष्टि केदारों में गिराई जाती थी, और उसके साथ ही निम्नलिखित मन्त्र[4] पढ़ा जाता था—

> प्रजापते कश्यपाय देवाय नमः सदा।
> सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च॥

वेदों और गृह्यसूत्रों में भी वैदिक मन्त्रों से ही प्रथम बीजमुष्टि सीता में गिराने का विधान है।[5] रामायण में भी बीजमुष्टि गिराने का ही उल्लेख है: 'नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।'

---

१. कारुभिश्च कर्मारकुट्टाकमेदकरज्जुवर्तकसर्पग्राहादिभिश्च।—अर्थशास्त्र, ४०।२४।

२. शालिव्रीहिकोद्रवतिलप्रियङ्गुदारकवरकाः पूर्ववापाः। मुद्गमाषशैम्ब्याः मध्यवापाः। कुसुम्भमसूर-कुलत्थयवगोधूमकलायातसीसर्षपाः पश्चाद्वापाः। यथर्तुवशेन वा बीजवापाः।—उपरिवत्।

३. वापातिरिक्तमर्धसीतिका कुर्युः। स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपञ्चभागिकाः।—उपरिवत्

४. सर्वबीजानां तु प्रथमवापे सुवर्णोदकसंप्लुतां पूर्वमुष्टिं वापयेत् अमुं च मन्त्रं ब्रूयात्।—अर्थशास्त्र, सी० प्र० ४०।२४।

५. यजुः० १२।७२।

रक्षा और वृद्धि

जब बीज अंकुरित हो जाते थे, तब उनकी वृद्धि के लिए थूहर के दूध के साथ मछली की खाद दी जाती थी। कार्पाससार (बिनौला) और साँप का केंचुल जलाकर उसका धुआँ पौधों में दिया जाता था, जिससे विषैले साँप आदि वहाँ नहीं आ पाते थे।[1]

शालि आदि धान्य श्रेष्ठ अन्न माने जाते थे, जब कि डाँट में होनेवाले अनाज मध्यम प्रकार के थे। इक्षु की गिनती निम्न प्रकार में होती थी; क्योंकि उसकी खेती में बहुत-सी बाधाएँ होती थीं और अधिक व्यय पड़ जाता था। प्रतीत होता है, आर्य चाणक्य ने दक्षिणी बिहार को ही दृष्टि में रखकर यह कारण उपस्थित किया है। उत्तरी बिहार की आज भी ऐसी चूना-प्रधान मिट्टी है कि वहाँ ईख की खेती में उतना परिश्रम और व्यय नहीं पड़ता, जितना दक्षिणी बिहार में। फिर भी, दूसरे धान्यों की खेती की अपेक्षा तो ईख की खेती में सर्वत्र अधिक व्यय और परिश्रम करना ही पड़ता है।[2]

पूर्व के वाङ्मय में कहीं मकई का उल्लेख नहीं हुआ है। परवर्ती 'भावप्रकाश' नामक आयुर्वेद-ग्रन्थ में इसका उल्लेख हुआ है।

सेचन और उसके साधन

अर्थशास्त्र-काल में भी भारतीय कृषि के सेचन का प्रधान साधन वृष्टि ही था। इस प्रकृति-प्रदत्त साधन का उल्लेख ही सर्वत्र होता है। मेघों के विषय में लिखा है कि 'तीन सप्ताह तक जब (चैत्र में), मेघ आकाश में लगे रहते हैं और अस्सी दिनों के अन्दर यदा-कदा बूँदाबाँदी होती है एवं साठ दिन धूप के साथ मेघ बरसता है, तब वही समाहित या शस्योपयोगी वृष्टि होती है। आतपमिश्रित और वातमिश्रित वर्षा पर्याय-क्रम से जहाँ होती है, वहाँ अवश्य शस्यागम होता है।'[3]

कृत्रिम साधनों में सेतु से 'स्वहस्तप्रावर्त्ति', 'स्कन्धप्रावर्त्ति' और 'स्रोतोयन्त्रप्रावर्त्ति' [पुल या बाँध बनाकर हाथ से ऊपर उठाकर सेचन की विधि, कन्धों पर ढोकर पानी पटाने की विधि तथा स्रोतोयन्त्र (करीग, लाठा, रहट आदि से) ऊपर चढ़ाकर जलसेचन की विधि] का प्रयोग होता था।[4] मिस्र, सीरिया आदि देशों में भी लाठा, रहट आदि का उपयोग

१. प्ररूढांश्चाशुष्ककटुमत्स्यांश्च स्नुहिक्षीरेण पाययेत्।
कार्पाससारे निर्मोकं सर्पस्य च समाहरेत्।
न सर्पास्तत्र तिष्ठन्ति धूमो यत्रैष तिष्ठति ॥—अर्थ०, सी० प्र० ४०।२४।

२. शाल्यादि ज्येष्ठम्। षण्डो मध्यमः। इक्षुः प्रत्यवरः। इक्षवो हि बह्वाबाधा व्ययग्राहिणश्च।—उपरिवत्।

३. त्रयः सासाहिका मेघा अशीतिः कणशीकराः।
षष्टिरातपमेघानामेषा वृष्टिः समाहिता ॥
वातमातपयोगं च विभजन् यत्र वर्षति।
त्रीन् कर्षकांश्च जनपदांस्तत्र सस्यागमो ध्रुवः ॥—अर्थ०, सी० प्र० ४०।२४।

४. स्वसेतुभ्यो हस्तप्रावर्तिमुदकभागं पञ्चमं दद्युः। स्कन्धप्रावर्तिमं चतुर्थम्, स्रोतोप्रावर्तिमं च तृतीयम्।—उपरिवत्।

आज से चार-पाँच हजार वर्ष पूर्व से होता चला आ रहा है और भारत में भी ये साधन चिरकाल से चलते आ रहे हैं।[1]

जलसंग्रह के लिए नदी, तालाब, सरोवर और कूप का प्रयोग होता था। कुल्याओं का उपयोग किया जाता था। कृत्रिम प्रणाली या जलनालिकाएँ भी थीं।[2] नन्द के समय बाँध बँधवाने तथा खारवेल द्वारा उसकी मरम्मत आदि कराने का उल्लेख हुआ है।

खेतों में जल के प्रमाण के अनुसार ही केदारिक (क्यारियों में होनेवाली फसल), हैमन्तिक और ग्रैष्मिक शस्यों का वपन होता था।[3]

कृषि का काल और ग्रह-नक्षत्र

कृषि के लिए वर्षा और शरद् ऋतु सबसे अधिक उपयुक्त थी। पहले धान का वपन होता था, तब शिम्बिधान्य का और पश्चात् यवादि का।

बृहस्पति-ग्रह की स्थिति, गमन और गर्भाधान से वृष्टि का आरम्भ और उपलब्धि मानी जाती थी। इसी प्रकार, शुक्र के उदय-अस्तमय चार (गति) से तथा सूर्य की प्रकृति-विकृति से भी वृष्टि का आरम्भ और उपलब्धि निर्धारित की जाती थी।[4] सूर्य से बीज की सिद्धि, बृहस्पति से शस्य में बाल का लगना और उसका पुष्ट होना तथा शुक्र से सुवृष्टि का योग जाना जाता था।[5]

धान्योत्पवन और संग्रह

धान आदि की फसल तैयार हो जाने पर कटनी करके उसे खलिहान में लाया जाता था। खलिहान ऊँची भूमि पर क्षेत्र-सीमा के निकट होता था। उसके निकट अग्नि का संसर्ग नहीं रहता था, प्रत्युत जल का निकट होना आवश्यक माना जाता था और वहाँ सदा परिकर्मी रखे जाते थे।[6]

तैयार फसल का संग्रह यथासमय कर लिया जाता था। खेतों में फसल नहीं रहने दी जाती थी। बुद्धिमान् कृषक एक खर भी खेत में नहीं छोड़ता था।[7]

धान्य-संग्रह के लिए ऊँची भूमि पर बखारी आदि होते थे। क्षार पदार्थ को एकत्र करके रखा जाता था। मिट्टी या लकड़ी का कोष्ठक होता था। स्नेह और लवण रखने के लिए मिट्टी का पात्र प्रचलित था।

---

१. दे० इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—एग्रीकल्चर।
२. चातुर्थं नदीसरस्तडाककूपोद्धारन्। —अर्थ० ४० । २४।
३. कर्मोदकप्रमाणेन केदारं हैमनं ग्रैष्मिकं वा सस्यं स्थापयेत्। —उपरिवत्।
४. तस्योपलब्धिः बृहस्पतेः स्थानगमनगर्भाधानेभ्यः। शुक्रोदयास्तमयचारेभ्यः। सूर्यस्य प्रकृति-वैकृताच्च। —उपरिवत्।
५. सूर्याद् बीजसिद्धिः, बृहस्पतेः सस्यानां स्तम्बकरिता, शुक्राद् वृष्टिरिति। —उपरिवत्।
६. खलस्य प्रकरान् कुर्यान्मण्डलान्ते समाश्रितान्।
अनग्निकाः सोदकाश्च खले स्युः परिकर्मिणः ॥ —उपरिवत्।
७. यथाकालं च सस्यादि जातं जातं प्रवेशयेत्।
न क्षेत्रे स्थापयेत् किञ्चित् पलालमपि पण्डितः ॥ —उपरिवत्।

धान्य के लिए ऊँची भीत की बखारियाँ या उसी प्रकार की वलभी होती थी। ये सभी बखारियाँ एक ही स्थान पर नहीं होती थीं और न ये अत्यन्त नीचे शिखरों से युक्त होती थीं।[1]

उपकरण

सीताध्यक्ष के उपकरणों में ये वस्तुएँ गिनाई गई हैं—तुला (तराजू), मान (नापने की लग्गी आदि), भाण्ड, रोचनी, दृषत्, मूसल, उलूखल, कुट्टक, रोचक, यन्त्र, यन्त्रक, शूर्प, चालनिका, कण्डोली, पिटक और सम्मार्जनी।[2]

विष्टि : बेगार

'मार्जारिक (मेहतर), आरक्षक (पहरेदार), धारक, मायक, मापक (हटवा), दायक, दापक, शलाका, परिग्राहक, दास और कर्मकरों से बेगारी ली जाती थी।'[3]

अर्थशास्त्रकार ने इस प्रकार कृषि के विषय में अनेक प्रकार की प्रासङ्गिक बातें लिखी हैं, जिनसे उपर्युक्त अध्ययनोपलब्धि हुई है। इनसे उन्नत और विकसित कृषि की अवस्थिति का ज्ञान होता है। वेद-परम्परा का कृषि-विकास इस समय भी स्वस्थ रूप में दिखाई पड़ता है। अर्थशास्त्र के बाद भी भारतीय कृषि की विकास-परम्परा बनी हुई है, जिसका विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जायगा।

सीमा और सीमा-विवाद

दो गाँवों के बीच तथा खेतों के बीच भी सीमाएँ होती थीं। सीमा के लिए पुराने वृक्ष, पत्थर, पुल आदि कृत्रिम-अकृत्रिम उपकरण प्रयोग में लाये जाते थे। मनु, याज्ञवल्क्य आदि ने भी सीमान्त के लिए इसी प्रकार का विधान किया है। उनके अनुसार भूमि के भीतर कोयला, भूसा, वृक्ष, पुल, वल्मीक, अन्तर्भुक्त अस्थि के साथ चैत्य आदि सीमान्त-चिह्न दिये जाने चाहिए। वट, अश्वत्थ, पलाश, सेमल, साल, ताल तथा दूसरे क्षीरीवृक्ष सीमावृक्ष होते थे। इनके अतिरिक्त झाड़ी, बाँस की कोठी, शमी, लतागुल्म, सरपत की झाड़ी तथा बेंत की झाड़ियों के सीमान्त में लगाने पर दो गाँवों की सीमा नष्ट नहीं होती थी। इनके अतिरिक्त तड़ाग, वापी, कुआँ, सोते और मन्दिर भी सीमान्त-चिह्न बनाये जाते थे। धरती के भीतर छिपी वस्तुएँ भी, जैसे पत्थर, हड्डी, गोकेश, भूसा, भस्म, कपाल, सूखा गोबर, ईंट, कोयला, कंकड़ी, बालू तथा इसी प्रकार की दूसरी वस्तुएँ, जिन्हें भूमि पचा नहीं सकती, सीमान्त-चिह्न का काम करती थीं।[4]

---

१. उच्चैर्धान्यस्य निक्षेपो मूताः क्षारस्य संहताः।
मृत्काष्ठकोष्ठाः स्नेहस्य पृथिवी लवणस्य च॥
प्रकाराणां समुच्छ्रायान् वलभीर्वा तथाविधाः।
न संहतानि कुर्वीत न तुच्छानि शिरांसि वा॥—अर्थ०, सी० प्र० ४०।२४।

२. तुलामानभाण्डं रोचनीदृषन्मुसलोलूखलकुट्टकरोचकयन्त्रयन्त्रकशूर्पचालनिकाकण्डोलीपिटक-सम्मार्जन्यश्चोपकरणानि। —उपरिवत्।

३. उपरिवत्।

४. अर्थशास्त्र, सी० प्र० ४०।२४; याज्ञ० ११; मनु, अ० ८, श्लो० २४६—२५१।

इन सभी सीमाचिह्नों के रहते अथवा इनके अभाव में यदि कहीं दो गाँवों का सीमा-विवाद उठ खड़ा होता, तो उसका निर्णयाधिकार राजा के अधीन होता था।

अर्थशास्त्र के अनुसार दोनों गाँवों के सामन्त, पञ्चग्रामाधिकारी, दशग्रामाधिकारी इन सीमाचिह्नों के अनुसार अपना निर्णय देते थे। क्षेत्रसीमा-विवाद में उस समय के कृषकों और गोपालकों के बड़े-बूढ़े, अथवा जिनके अधिकार में यह भूमि पहले रही हो, वे और गाँव के सामन्त तथा ग्रामवृद्ध इस क्षेत्रसीमा-विवाद का निर्णय करते थे।[1]

मनु ने कहा है कि दो गाँवों के बीच सीमा-विवाद उठने पर ज्येष्ठ मास में इसका निर्णय कर देना चाहिए और वहाँ सीमाचिह्न लगा देना चाहिए।[2]

याज्ञवल्क्य के अनुसार, 'क्षेत्रसीमा के विवाद में सामन्त, ग्रामवृद्ध, गोप, सीमान्त के किसान तथा वनवासी इसका निर्णय करते थे। इनके अनुसार सीमाचिह्न के तोड़ देने, अतिक्रमण करने तथा क्षेत्र के बलात् ले लेने पर अपराधी को क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यम दण्ड मिलता था।'[3]

पाणिनि से पतञ्जलि तक

महर्षि पाणिनि ने अपने व्याकरण-ग्रन्थ अष्टक या अष्टाध्यायी में कृषि के विषय में बहुत अधिक विस्तृत सूचना दी है। उनके समय में कृषि का पूर्ण विकास हो चुका था। पाणिनि ने हल, सीर, हलीषा, लाङ्गलीषा, युग, फाल, शम्या, कील, पच्चनिका, मुष्टि, योत्र, योक्त्र, वरत्रा, वध्री, नध्री, दात्र, परशु, रज्जु, मेथि, योत्र, प्रासङ्ग और हलि का कृषि के उपकरणों में नामोल्लेख किया है। इनसे बननेवाली धातु-क्रियाओं का प्रयोग भी पाणिनि ने किया है: हलि —हलयति।[4] हलि बड़े हल को कहते थे (महद्धलं हलि)। कहीं इसका अर्थ हेंगा भी किया गया है (जित्योहलिः बलेन कृष्टव्य इत्यर्थः। कृष्टसमीकरणार्थं स्थूलकाष्ठम्—सि० कौ०)।

जोत के लिए, कर्षण, कर्ष, युक आदि का प्रयोग हुआ है। हल्या वह भूमि थी, जिसमें हल लग सकता था, जिसका अपभ्रंश आज भी 'हाल = आर्द्र भूमि' है।[5] द्विहल्या, दो हलों से जोतने योग्य भूमि होती थी, जिसमें लगभग सवा चार बीघा भूमि होती थी, जो एक परिवार के लिए पर्याप्त मानी जाती थी। दानपत्रों में द्विहल्या भूमि देने की प्रथा का उल्लेख है। त्रिहल्या भूमि लगभग चार एकड़ की होती थी। महाभाष्यकार ने परमहल्या और परमसीत्य का भी प्रयोग किया है।

सीता, डॉ० अग्रवाल के अनुसार, खूड़ या फाल का नाम है। कोश के अनुसार वह सिराउर है। इस अर्थ की पुष्टि वेद, रामायण, पाणिनि और अमरसिंह सभी करते हैं।

---

१. अर्थ०, सी० प० ४०।१४।
२. मनु, ८।२४५।
३. याज्ञ० १५—१६।
४. हलसीराट्ठक्, ४।३।१२४; ४।४।८१; तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्, ४।४।७६; दाम्नीशस० ३।२।१८२; हलसूकरयोः पुवः ३।२।१८३; ३।१।११७; विपूय विनीय जित्या मुञ्जकल्कहलिषु, ३।१।११७।
५. मतजनहलात्करणजल्पकर्षेषु, ४।४।९७।

सीत्य वह क्षेत्र था, जिसमें हल लग चुका होता था (सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम्)।[१] द्विसीत्य, परमसीत्य का भी प्रयोग हुआ है। शम्बाकृत (उलटी-सीधी चास की हुई भूमि या क्षेत्र होता था : 'अनुलोमकृष्टं क्षेत्रं पुनः प्रातिलोम्येन कृषति')। 'द्वितीयाकरोति' (दुबारा चास करता है), 'तृतीयाकरोति' (तीसरी चास करता है), इसी प्रकार 'द्विगुणाकरोति, त्रिगुणाकरोति'।[२]

मौद्गीन, त्रैहेय, शालेय, यव्य, यवक्य, षष्टिक्य, तिल्य, तैलीन, माष्य, माषीण, उम्य, औमीन, भङ्ग्य, भाङ्गीन, अणव्य, आणवीन आदि वे खेत होते थे, जिनमें मुद्ग, व्रीहि, शालि, यव, यवक, षष्टिक (साठी), तिल, माष (उड़द), उमा (अलसी), भङ्गा (भाँग) और अणु उपजते थे। ईख का खेत, इक्षुशाकट और इक्षुशाकिन कहलाता था।[३] केदार, (क्यारियाँ) छोटे और सम्भवतः आर्द्रभूमियुक्त होते थे। लेकिन, क्षेत्र या कर्ष सामान्य कृषिभूमि के लिए व्यवहृत होता था। केदार में उत्पन्न अन्न कैदारिक या कैदार्य होता था।[४] केदारों के समूह को भी कैदारिक कहते थे।[५]

'वाप' या 'वपन' बावग या बोने के लिए प्रयुक्त होता था। वाप प्रायः छींटकर किया जाता था।[६] प्रस्थपरिमाण अन्न का वाप जिस क्षेत्र में हो, वह प्रास्थिक होता था, इसी प्रकार द्रौणिक और खारीक क्षेत्र होते थे। 'पात्रिक' और 'पात्रिकी' क्षेत्र और क्षेत्रभक्ति (खेत का एक भाग) के लिए प्रयुक्त हैं।[७] वाप के योग्य क्षेत्र वाप्य कहलाते थे। वपन के साथ हल चलाने में 'बीजाकरोति' का प्रयोग होता था।[८] इसमें बीज के साथ हल चलाया जाता था। अब भी ऐसी खेती होती है।

क्षेत्रों के नाम मापवाचक शब्द, खारी (लगभग चार मन,) द्रोण और प्रस्थ आदि से होता था। 'पात्र' शब्द भी मापवाचक है, जिसके नाम का वापक्षेत्र 'पात्रिक' कहलाता था। 'काण्ड' हस्त या लग्गी का माप था (द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः)। इनके अतिरिक्त आढक, आचित आदि परिमाणवाचक शब्द मिलते हैं।[९]

हल में चलनेवाले बछड़े हालिक और सैरिक कहलाते थे। शकट में चलनेवाला शाकट तथा रथ में चलनेवाला रथ्य होता था। धुरी में चलनेवाला बलीवर्द धुर्य, धौरेय और

---

१. नौ वयो धर्म, ४।४।९१।
२. कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात् कृषौ, ५।४।५८; संख्यायाश्च गुणान्तायाः, ५।४।५९।
३. धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्, ५।२।१; व्रीहिशाल्योर्ढक्, ५।२।२; यवयवकषष्टिकाद्यत्, ५।२।३; विभाषातिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः, ५।२।४।
४. केदाराद्यञ्च, ४।२।४०।
५. ठञ्कवचिनश्च, ४।२।४१।
६. तस्य वापः, ५।१।४५।
७. पात्रात् ष्ठन्, ५।१।४६।
८. कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात् कृषौ, ५।४।५८।
९. तस्य वापः, ५।१।४५; पात्रात् ष्ठन्, ५।१।४६; काण्डान्तात् क्षेत्रे, ४।१।२३; आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम्, ५।१।५३।

धुरीण होता था, जब कि सभी प्रकार की धुरी में वहनेवाला सर्वधुरीण कहलाता था एवं एक धुरे में वहनेवाला एकधुरीण या एकधुर। इसी प्रकार वाह, अनड्वान्, उक्षा, वृषभ आदि नाम व्यवहृत होते थे।[1] जुए में वहनेवाला बछड़ा युग्य और प्रासङ्ग (=दमनकाष्ठ) में वहनेवाला प्रासङ्ग्य कहलाता था। वहने योग्य बनने के पूर्व बछड़े का नाम 'दम्य' होता था।[2] जन्म के समय से कुछ दिनों तक के बछड़े को 'शकृत्करि' कहते थे।[3] वर्ष और दिन की गणना के अनुसार एकहायन, द्विहायन, त्रिहायण, द्व्यहिक, त्र्यहिक आदि नाम पड़ते थे। गायों और बाछियों के भी इस प्रकार के नाम होते थे। सद्यःप्रसूता गायों के लिए धेनु और सकृत्प्रसूता गृष्टि नाम थे। गर्भस्राविणी, वेहद् (बहिला), चिरकालप्रसूता, बष्कयिणी (बकेन) आदि भी गायों के नाम और प्रकार थे।[4] दो या तीन वर्ष की बाछी उपसर्या या काल्या कहलाती थी, जिसे आज 'ओसर' कहते हैं।[5]

अन्नों में वे सभी अन्न इस समय भी मिलते हैं, जिनका नामग्राह उल्लेख पूर्व में हो चुका है। हाँ, उनके बने खाद्य का विशेष वर्णन हमें पाणिनि के शास्त्र में मिलता है। खाद्य में भक्ष्य, भोज्य, चूष्य और लेह्य पदार्थ होते थे। उनका संस्कार, विशेष मसालों (कक्कोल, मरीच, कुसर आदि) और तक्र, दधि, घृत आदि से होता था। गुड़-मिली लाई 'गुडमिश्र धान' कहलाती थी। सत्तू यव, गोधूम और चावलों का भी होता था। उनके पीने का प्रयोग भाष्यकार ने किया है (सक्तून् पास्यामः)।

सिंचाई के साधन के लिए 'सेक्त्र' शब्द का प्रयोग हुआ है, लेकिन विशेष प्रयोग इस विषय में नहीं दीखता है। 'उदञ्चन' सम्भवतः कुएँ से जल निकालने का यन्त्र-विशेष या साधन-विशेष था। वह लाठा, मोट या रहट हो सकता है। कृषि प्रायः देवमातृक ही होती थी। भाष्यकार ने कुल्या शब्द का प्रयोग किया है (शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते)। ४।२।४५ सूत्र में 'युगवरत्रा' शब्द का पाठ है, जो सेचन-पात्र का संकेत करता है। कुओं का उपयोग सिंचाई के लिए होता था। कात्यायन ने शकों और कर्कों के नाम पर कुओं के नाम गिनाये हैं —शकन्धु, कर्कन्धु। प्रतीत होता है कि नन्दों के पूर्व ही शकों का सम्बन्ध भारत से हो गया था। जो लोग हूणों और शकों के आगमन की तिथि निश्चित करते हैं, उनके लिए यवन, शकट आदि शब्द एक संकेत हैं।[6]

फसल का मुख्य समय आश्विन, हेमन्त, वसन्त और ग्रीष्म होता था। शरत्कालीन फसल शारद और अगहन हैमन या हैमन्तिक होता था। रबी वासन्तिक शस्य और गरमी की फसल ग्रैष्मिक होती थी।[7]

---

१. हलसीराट्ठक्, ४।४।८१; धुरो यड्ढकौ, ४।४।७७; खः सर्वधुरात्, ४।४।७८; एकधुराल्लुक् च; शकटादण्, ४।४।८० ।
२. तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्, ४।४।७६ ।
३. स्तम्बशकृतोरिन्, ३।२।२४ ।
४. पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः, २।१।६५ ।
५. उपसर्या काल्या प्रजने, ३।१।१०४ ।
६. शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् (वा०) ।
७. आश्वयुज्या वुञ्, ४।३।४५; ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम्, ४।३।४६; उप्ते च, ४।३।४४ ।

बोझा ढोनेवालों को भारिक कहते थे। बाँस का बोझा ढोनेवाला वांशभारिक और ईख का बोझा ढोनेवाला ऐक्षुभारिक कहलाता था।[1] आजकल की भाँति ही पहले भी ईख का बोझा बाँधकर पेरने के स्थान पर लाया जाता होगा। हल जोतनेवाला श्रमिक हालिक और सैरिक कहलाता था।

दुहने, खलिहान लगने, धान काटने, भूसा तैयार होने आदि के नाम पर समय का नाम होता था—तिष्ठद्गु, खलेयव, खलेबुस, लूयमानयव आदि।[2] ये शब्द उस समय की कृषि के अत्यन्त जीवन्त उदाहरण हैं। आज भी धनकटनी, खरिहानी आदि शब्दों का प्रयोग उन्हीं अर्थों में होता है।

भाष्यकार ने भी खेती-विषयक अनेक बातों का विवरण उपस्थित किया है। और, महाभाष्य की सूचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा ध्यातव्य है। जिसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है।

इस प्रकार के विशेष अध्ययन के लिए संलग्न अनुसन्धित्सुओं को बहुश्रुत विद्वान् पुण्यश्लोक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' (पृ० १९७—२०६) तथा डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री का 'पतञ्जलिकालीन भारत' (पृ० १६१—२७०) देखना चाहिए। इन दोनों मान्य पण्डितों ने परिश्रमपूर्वक इस विषय पर विचार किया है।

अमरकोश-प्रतिपादित कृषि और उसके उपकरण

पाणिनि के अनुसार ही अमरसिंह ने अपने 'नामलिंगानुशासन' कोश में वैश्य-प्रकरण में कृषि के विविध शब्दों के संकलन अर्थलिंगनिर्देश और परिभाषाएँ दी हैं। इस विषय के अध्ययन के लिए यह कोश भी एक अत्यन्त उपयोगी सामग्री है। इसपर 'क्षीरस्वामी' तथा 'रामाश्रमी' टीका भी अत्यन्त उपयोगी है।

अमरसिंह ने अपने नामलिंगानुशासन में दूसरे काण्ड के वैश्यवर्ग में वैश्यों की आजीविका कृषि, महाजनी और वाणिज्य तथा उनसे सम्बद्ध नामों का संग्रह किया है। वहाँ इन्होंने आरम्भ के श्लोकों में वैश्यों के पर्याय और जीविका के साधनों की गिनती दी है। उनमें कृषि, पाशुपाल्य और वाणिज्य को वृत्ति माना है। ततश्च, कृषक शब्द का पर्याय देकर पहले धान्यादि के सत्रह क्षेत्रों के नाम दिये हैं। तत्पश्चात्, कृष्ट या सीत्य, द्विगुणाकृत, त्रिगुणाकृत और उपकृष्ट क्षेत्रों के नाम हैं। और फिर, परिमाण के अनुसार वाप-क्षेत्रों के नाम दिये गये हैं। ततश्च, केदार और लोष्ट के पर्याय के पश्चात् बारह विभिन्न कृषि-उपकरणों के नाम गिनाये गये हैं।

इसके बाद इक्कीस विभिन्न धान्यों के नाम और पर्याय दिये गये हैं। इनमें वेदों का प्रसिद्ध 'यव' के पर्याय या नाम नहीं दिये गये हैं। चार प्रकार के धान्यों—शमीधान्य, शूकधान्य, कलम और तृणधान्यों में से शूकधान्य में यव आदि कहे गये हैं। उसके पश्चात् धान्याङ्गों के नामों के बाद फिर कूटने-पीसने आदि के प्रकीर्णक उपकरणों—महानस, पाचक आदि के

१. तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वंशादिभ्यः, ५।१।५०।
२. तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च, २।१।१७।

नाम आये हैं। ततश्च, शाक और वेसवार (मसालों) के सोलह विभिन्न उपभेदों के नाम-पर्याय गिनाये गये हैं। तत्पश्चात्, संस्कृत खाद्य के अनन्तर दस गव्य पदार्थों के नाम आये हैं।

मध्य के तीन श्लोकों के अनन्तर बैलों के अवस्था, भारवहन आदि के अनुसार विभिन्न पर्याय देकर गायों के विभिन्न भेद बतलाये गये हैं। इनमें गायों के शबली, धवली (सौरी, धौरी) आदि वर्णभेद भी दिये गये हैं। ततश्च, आठ दूसरे ग्राम्य पशुओं (उष्ट्र आदि) के नाम-पर्याय दिये गये हैं। इनमें उष्ट्र, करभ, अज, मेष और गर्दभ पशु गिनाये गये हैं। हाथी-घोड़ों का जिक्र क्षत्रियवर्ग में हुआ है। कुक्कुर और सूकर के पर्याय शूद्रवर्ग में तथा बिल्ली और मार्जार के नाम-पर्याय सिंहादिवर्ग में आये हैं।

इसके पश्चात्, वणिजों के पर्याय के बाद वाणिज्या से सम्बद्ध लाभ, विनिमय, क्रय, संख्या, परिमाण, हिरण्य, रजत, मणि-उपमणि और दूसरे खनिजों तथा अन्य मधु, श्वेत मरीच आदि प्रकीर्णक वस्तुओं के नाम-पर्याय दिये गये हैं।

इन उपर्युक्त नाम-पर्यायों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि अमरसिंह पाणिनि-पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित शब्दों पर ही निर्भर करते हैं। प्रायः सभी वे ही शब्द हैं, जिनका विवेचन पाणिनि ने सूत्रों द्वारा नियम-निर्देश करके किया है। कृषि के जीविका या या वृत्ति-विषयक प्रतिपादन में मनु के सिद्धान्त का आश्रय लिया गया है (मनु के चौथे अध्याय के आरम्भ तथा वैश्यवर्ग के आरम्भ के श्लोकों को मिलाकर देखिए)। नवीनता की बहुत कम उपलब्धि होती है। यह उचित भी है; क्योंकि यह तो कोशग्रन्थ है। इसमें प्रचलित और व्याकरणसम्मत शब्द ही तो लिये जा सकते हैं।

शिलालेखों तथा राजशासनपत्रों का विवरण

पूर्व के राजशासनलेखों में भूमिदान का उल्लेख हुआ है। उनमें यद्यपि राजा के वंश-गोत्र के पुरावृत्त और अवस्थान, ख्याति-प्राप्ति एवं पद-प्रतिष्ठा का उल्लेख अवश्य-कर्त्तव्यतया निहित रहता था, तथापि अन्त में ब्राह्मण के गोत्र-नाम के पश्चात् क्षेत्रभूमि या ग्रामभूमि की सीमा, प्रकार, माप और तिथि का उल्लेख रहता था और तत्पश्चात् दान-माहात्म्य रहता था।

इनमें कृषि की परम्परा की जानकारी के लिए उपयोगी थोड़ी-सी वही सामग्री मिलती है, जिसमें सीमा या आघाट (क), भूमि के प्रकार, क्षेत्र, ग्राम आदि तथा उनके अन्दर के गर्त्त, ऊपर, गोचर आदि भूमिभाग का उल्लेख होता था। पालवंशी राजा देवपाल के नालन्दा-ताम्रलेख से ग्रामदान में ग्रामभूमि के साथ निम्नलिखित ज्ञातव्य बातें सामने आती हैं :

ग्राम के साथ स्वसीमा, तृणयूति, गोचरपर्यन्त, सतल (भूमितल); सोद्देश आम-महुओं के साथ; जल-स्थल (अहरा, जलाशय, नदी, नाला, पैन आदि) के साथ; उपरिकर-दशा-अपराध-सह् चौरोद्धरण के साथ; चाट-भटप्रवेश-रहित; राजकुल की ओर से लगाये जानेवाले किसी भी राजकर से मुक्त आदि विशेषण जुड़े हुए हैं।

नारायणपाल के भागलपुर-लेख में पूर्वोक्त सभी वस्तुओं के उल्लेख के अतिरिक्त 'सगर्त्तोपरः' (गढ़ों और ऊपर जमीन के साथ) विशेषण आया है। लेकिन, गोविन्दचन्द्र के कमौली-लेख में इन विशेषणों के अतिरिक्त, सलोहलवणाकर, समत्स्याकर (मछली पालने के निमित्त अड्डे आदि के साथ), समधूकचूतवनवाटिकाविटपतृणयूतिगोचरपर्यन्त (महुआ, आम के वनों-वाटिकाओं और वृक्षों के साथ तथा तृणयूतिगोचर तक), सतल के स्थान में सोद्र्ध्वाधर (ऊपर-नीचे के साथ) तथा चतुराघाटविशुद्धसीमापर्यन्त (चारों ओर अहातों से विशुद्ध अपनी सीमा-पर्यन्त), भागभोगकर, प्रवणिकर, कूटक प्रभृति समस्त आदेय (राजकर) के साथ ये विशेषण भी मिलते हैं।

इन उपर्युक्त विशेषणों से ज्ञात होता है कि भूमि के साथ, तृणयूतिगोचरभूमि, गढ़हा, ऊपर, मछली पालने का जलाशय, लोहा, लवण आदि धातुओं की खानों, महुओं, आमों (आदि) के वन-वाटिका-वृक्षों एवं अहाते से विशुद्ध सीमा के साथ गाँव दिये जाते थे। उस समय गाँवों और खेतों की विशुद्ध सीमा बनी हुई थी। प्रत्येक गाँव के साथ गोचरभूमि थी, जो गढ़हों और ऊपर भागों पर सम्भवतः राज्याधिकार था। मछली पालने के लिए जलाशय छोड़ दिये जाते थे, जैसा कि आज भी उत्तरी बिहार में तालाब आदि का बन्दोबस्त होता है और मछली की नीलामी होती है। नमक बनाने तथा लोहा आदि खनिज पदार्थों की खानें भी उस भूमि से सम्बद्ध होती थीं और अग्रहार ब्राह्मण को उसका पूरा अधिकार सौंप दिया जाता था। इसके अतिरिक्त बागीचों का भी, जो सम्भवतः खासमहाल या ग्रामरक्षित होता था, अधिकार मिलता था। सभी प्रकार की मालगुजारी लेने का अधिकार भी उस अग्रहार ब्राह्मण को ही मिलता था। उसमें राजा के चाट-भट (सैनिक या राजपुरुष) प्रवेश नहीं कर सकते थे।

इनके अतिरिक्त, उस समय के अनेकविध भूमिकरों का ज्ञान इन लेखों से होता है। इनमें भाग, उत्पन्न वस्तु का षष्ठांश, चतुर्थांश या पञ्चमांश पदार्थ होता था।[१] बलि वह राजग्राह्य कर था, जो पणों और कार्षापणों में दिया जाता था।[२] कर की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि कृषि, पशुचारण आदि के लिए राज्याधिकृत भूमि के उपयोग के विनिमयार्थ राजकोष में दिया जानेवाला भाग कर था।[३] इसी प्रकार, शुल्क, चुंगी (टॉल्स) या घाट आदि का दिया जानेवाला राज्यग्राह्य भाग होता था।[४] इस प्रकार, प्रवणिकर और कूटक तथा कुछ दूसरे कर भी होते थे।[५] काशिकाकार ने राजग्राह्य भाग को 'अवक्रय' कहा है।[६] अमरकोशकार ने भागधेय कर और बलि को पर्याय कहा है।[७] अर्थशास्त्र-

१. भाग उत्पाद्यांशः।—इण्डि० एपि०, पृ० ३८१, पा० टि०।
२. बलिः रोकद्रव्यम्।—उपरिवत्।
३. करः कृषिपशुचारणादिकृतराजकीयभूम्युपभोगहेतुको राजग्राह्यो भागः (मिला० ए० के० मजूमदार : चालुक्याज ऑव गुजरात, पृ० २१२)।
४. इण्डि० एण्टि०, उपरिवत्; 'घट्टादिदेयं शुल्कोऽस्त्री'।—अमर, वारिवर्ग।
५. मिला० गोविन्दचन्द्र का कमौली-लेख।
६. अवक्रयः।—पा० सू० ४।४।५०; राजग्राह्योऽवक्रयः।
७. भागधेयः करो बलिः (अमर)।

कार तथा स्मृतिकारों ने सामान्य भूमिकर के लिए 'बलि' शब्द का व्यवहार किया है।[1] बेगार की प्रथा उस समय थी। उसके लिए 'विष्टि' शब्द का व्यवहार होता था। शिलालेखों में विटि और विष्टि शब्दों का व्यवहार हुआ है। अर्थशास्त्रकार ने राजभूमि के लिए दासों, बन्दियों आदि से बेगार लेने का उल्लेख किया है।[2]

भूमि का माप

शिलालेखों में भूमि के परिमाण के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। भूमिमाप के लिए, रज्जु, नल, दण्ड, हस्त और पद को साधन बनाया जाता था। रज्जु, नल और दण्ड का परिमाण भी हाथ से ही होता था। इसलिए, अधिकांशतः 'हस्त' का ही प्रयोग हुआ है। हस्त भी सर्वत्र एक-सा नहीं था, कहीं तो सामान्य हस्त का ग्रहण किया है और कहीं तत्कालीन राजा के हाथ से माप प्रस्तुत किया गया है और यह माप ही मानक माना गया है।

बंगाल के शिलालेखों में 'शिवचन्द्रहस्त' प्रमाण का उल्लेख हुआ है। समतट प्रदेश में 'समतटीय नल' का प्रयोग होता था। विजयसेन के माप में 'वृषभशंकर नल' और 'अरिराजवृषभशंकर नल' का उल्लेख हुआ है।

दक्षिण के लेखों में, 'एडनाडु दण्ड', 'माणिकेश्वरउकोल', 'गंगण घले', 'धरणि-देवन कोलु', 'श्रीपादककोलु' और 'मालिंग कोलु' का प्रयोग भूमिमाप के लिए हुआ है। ये सभी माप दण्डमाप या पदमाप हैं। प्रवरसेन के लेख में 'राजमान' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो मानक माप का परिचायक है।[3]

इन शब्दों के अतिरिक्त एक अत्यन्त प्राचीन शब्द माप के लिए प्रचलित था—'निवर्तन'। शातवाहनों के लेख में 'निवर्त्तन' शब्द का प्रयोग हुआ है। वृद्धहारीत और शातातप ने 'एकनिवर्त्तन' भूमि को लगभग ४$\frac{4}{5}$ एकड़ के बराबर माना है। बृहस्पति ने लिखा है कि दस हाथ के दण्ड से तीस दण्ड भूमि एकनिवर्त्तन होती है। इनके अनुसार यह २४० × २४० वर्गहस्त के बराबर है।[4] भास्कराचार्य ने 'लीलावती' में एकनिवर्त्तन लगभग दो एकड़ भूमि माना है, जिसका समर्थन हेमाद्रि ने भी किया है।[5] शुक्रनीति के अनुसार यह लगभग एक एकड़ और वसिष्ठ के अनुसार आधा एकड़ भूमि होती है।

महाभारत में एक अद्भुत माप-साधन का नाम आता है— 'गोचर्मभूमि'। इसकी व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ पण्डित ने कहा है कि एक गाय के चर्म से मापी गई भूमि। इसकी दूसरी व्याख्या है—एक हजार गायों-बैलों के चरने की भूमि।

---

१. षष्ठांशं बलिमाहरेत् (स्मृति)।
२. अर्थ०, सी० प्र०।
३. ऐ० इण्डि० एपि०, मीजरमेण्ट-प्रकरण।
४. दशहस्तेन दण्डेन त्रिंशद् दण्डम् (बृह०)।
५. तथा कराणां दशकेन वंशः निवर्त्तनं त्रिंशतिवंशसंख्यैः।
क्षेत्रं चतुर्भिश्चभुजैर्निबद्धम्... ... ...॥

इन हस्तप्रमाणों के अतिरिक्त पाणिनि के प्रयोग के समान बीज-परिमाण से भी क्षेत्रों का परिमाण होता आया है। यह माप भी मानक माप माना जाता रहा है।

कुल्यवाप या कुलवाप पार्जिटर के अनुसार लगभग ३ बीघा है, लेकिन सिलहट (असम) में लगभग १४ बीघा माना जाता रहा है। यह भूमि एक कुल के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त मानी जाती थी।[1]

डॉ० अग्रवाल ने माना है कि 'द्विहल्य' भूमि एक परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त मानी जाती थी।[2] द्विहल्य भूमि २½ एकड़ के बराबर मानी गई है। द्रोणवाप भूमि २१ बीघे के बराबर है, लेकिन नोआखाली (पाकिस्तान) में यह १४४ बीघे मानी जाती रही है। आढ़कवाप का अर्थ मैमनसिंह जिले में ४½ बीघा होता है: १ आढक = १६-२० सेर तक। १ द्रोण = १ मन, १४ सेर या २ मन (शब्दकल्पद्रुम)। ४ द्रोण = १२ मन ३२ सेर या १६ मन।[3] इसी प्रकार, खारीवाप का प्रयोग भी प्राचीनतर है।

डॉ० अग्रवाल ने प्रस्थ २½ पाव, द्रोण १० सेर तथा खारीक ४ मन के बराबर माना है।[4] पाणिनि ने 'पात्रिक' क्षेत्र का उल्लेख किया है। चरक के अनुसार पात्रिक आढक का पर्याय है। यह ढाई सेर का होता था।[5]

इनके अतिरिक्त अमरसिंह ने तुला, भार, आचित और शाकट के नाम गिनाये हैं, जो क्रमशः सौ पल, बीस तुला और दस भार के बराबर माने जाते थे। तत्पश्चात्, आढक, द्रोण, खारी, वाह, निकुञ्चक, कुडव, प्रस्थ आदि को नाम्ना ग्रहण करके निर्देशमात्र कर दिया है।[6]

पाणिनि ने आढक, आचित, पात्र, प्रस्थ, द्रोण आदि परिमाणों का तथा काण्ड, धन्व, दण्ड आदि प्रमाणों एवं आयाम, ऊरु, जानु (ऊरुद्वयस्, जानुदघ्न), हस्त, दण्ड, अरत्नि, रत्नि, वितस्ति, अंगुल आदि उन्मान एवं प्रमाणवाची शब्दों और तद्वाची द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच् एवं ख, ष्ठन् आदि प्रत्ययों का विधान किया है।[7]

राजतरंगिणी के साक्ष्य

ग्यारहवीं शती के महाकवि कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार कश्मीर-मण्डल में दो बार दुर्भिक्ष हुए थे: एक राजा तुञ्जीन के समय और दूसरा राजा अवन्तिवर्मा के समय। इन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि कश्मीर में भादों में शरत्कालीन धान पकने लगते थे

१. इण्डि० एपि०, मोजरमेन्ट-प्रकरण।
२. पा० का० भा०, पृ० २००।
३. इण्डि० एपि०, उपरिवत्।
४ पा० का० भा०, पृ० २००।
५. पात्रात् ष्ठन्, अध्या० ४।
६. अमरकोश, वैश्यवर्ग, ८८-९०।
७. आढकाचितपात्रात्खोऽन्यतरस्याम्, ५।१।५३; काण्डाण्डात्क्षेत्रे, ४।१।२३; प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः, ५।२।३७।

और उस समय आकाश काले बादलों से घिर जाता था, तो किसानों को भय उत्पन्न हो जाता था कि कहीं ओले न पड़ें या हिमपात न हो जाय। यक्षीन के समय तो ठीक उसी समय अकस्मात् हिमपात हो गया था और क्षेत्रों की हरी-भरी पीतिमा नष्ट हो गई थी।[१]

ग्राम-गृहस्थों के हल चलानेवाले कर्मकर हलवाहा होते थे, जो बड़े-बड़े बैलों को लेकर दूर खेत जोतने चले जाते थे। किसान की ओर से उनके लिए तो पहले खाना-पीना जाता था। उसमें पूआ और जल से भरी कलसी (वारिकुम्भी) ले जाई जाती थी।[२] अच्छे (उर्वर) क्षेत्रों में बोई गई फसल, पौधों के चारों ओर लगे आलवाल और उनके जलसेक का वर्णन भी आया है।[३] राजा अवन्तिवर्मा के समय हुए दुर्भिक्ष में एक खारी धान का मूल्य एक सहस्र पचासी दीन्नार था।[४]

राजा ने सुय्य (सूर्य) नामक बुद्धिमान् व्यक्ति के हाथ दुर्भिक्ष दूर करने की व्यवस्था का भार सौंप दिया था। उसने वितस्ता (झेलम) की बाढ़ के कारण होनेवाले दुर्भिक्ष को सदा के लिए दूर करने के निमित्त बड़ी बुद्धिमानी से लोगों द्वारा नदी से पत्थरों को निकलवाकर स्थान-स्थान पर पुल और बाँध बनवाये थे। जिन गाँवों में नदी का पानी नहीं पहुँचता था, उनमें नाली बनवाकर सिंचाई के निमित्त पानी पहुँचाया था और उन अदेवमातृक ग्रामों की भूमि की अच्छी तरह परीक्षा करके समान विभाग किया था और उनमें नदी के पानी का समान वितरण भी कराया था। इस प्रकार की व्यवस्था से इतना पानी पहुँचने लगा कि जितने से खेत को भिगोकर वह सूख जाता था और खेत कृषि के उपयुक्त हो जाता था। इस प्रकार, प्रत्येक ग्राम का जल-परिमाण भूमि-परिमाण के अनुसार निश्चित कर दिया था, जिससे कभी अकाल नहीं पड़ा। फलतः, वहाँ सदा के लिए सुभिक्ष हो गया और चावल छत्तीस रुपये खारी मिलने लग गया।[५] एक स्थान पर मटचियों (टिड्डियों) के कारण शस्यक्षति का वर्णन हुआ है।

इस विवरण से प्रतीत होता है कि कश्मीर में ओलों और हिमों की वृष्टि से लहलहाते खेत उजड़ जाते थे। एक धनखेती भादों में तैयार होकर कट जाती थी। उस समय आकाश में काले बादलों को देखकर किसानों को हिमपात की आशंका हो उठती थी। सुय्य ने सिंचाई का अत्युत्तम प्रबन्ध किया था। बाँध बँधवाकर अदेवमातृक ग्रामों में नदीजल का समान और समुचित वितरण कराया था। वह बाँध महापद्मसर, जहाँ से वितस्ता निकलती थी, के निकट बनाया गया था। इससे प्रतीत होता है, उस समय की अभियन्त्रणा आज जैसी ही उन्नत थी। इसी प्रकार, बाँध के प्रसंग में रुद्रदामा की गिरनार की बाँध-योजना भी ध्यातव्य है।

---

१. राज० ३।२१-२२; २।१८।
२. उपरिवत्, ४।२२७-२३१।
३. उपरिवत्, ४।२३२।
४. दीन्नाराणां दशशती पञ्चाशत्यधिकाभवत्।
धान्यखारी क्वचे हेतुर्देशे दुर्भिक्षविप्लवे।।—५।७१।
५. उपरिवत्, ५।८०-११७।

कृषिपराशर के साक्ष्य

'वाचस्पत्य' नाम के बृहत्कोश के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि कृषि के विषय में 'कृषिपराशर' नामक पुस्तक से बहुत अधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस पुस्तक में वस्तुतः कृषि के सभी अंगों के विषय में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। किन्तु, यह पुस्तक सम्भवतः नवीनतर है। यद्यपि इसकी प्राचीनता की परीक्षा अभी तक नहीं हो सकी है, तथापि इससे जितनी जानकारी प्राप्त होती है, उतनी कृषि के विकास-क्रम के अध्ययन में सहायक ही हो सकती है।

इस पुस्तक के अनुसार हल के आठ भाग हैं—ईशा, युग, स्थाणु या हलस्थाणु, निर्योल, पाशिका, अड्डचल्ल, शौल और पचनी।[1] ईशा पाँच हाथ की और लकड़ी की बनी होनी चाहिए। स्थाणु पाँच बित्ते का, निर्योल डेढ़ हाथ का, जुआ (दोनों ओर) कान के समान, निर्योलपाशिका और अड्डचल्ल बारह अंगुल का, शौल पौन हाथ का और पच्चनिका साढ़े बारह या नौ मुट्ठी की लम्बी और बाँस की बनी तथा लोहे के अग्रभाग से युक्त एवं मजबूत होनी चाहिए।[2]

आबन्ध (बरत्रा—बरता) गोल और पन्द्रह अंगुलि का, योक्त्र (जोती) चार हाथ का एवं रज्जु पाँच हाथ की और हस्त पाँच अंगुल का होता है। इसे फालक भी कहते हैं। आम के पत्ते के समान नौ अंगुल की पाशिका होती है। विद्धक में इक्कीस शल्य या कील होते हैं। नौ हाथ की मदिका कृषिकर्म में अच्छी मानी जाती है। ये सभी हल की सामग्री हैं। पराशर मुनि ने इनका विवरण दिया है। ये किसान इन उपकरणों को अत्यन्त दृढ बनावें, जो कृषिकर्म में शुभकारक सिद्ध होंगे। अदृढ सामग्री के उपयोग करने पर जोत तथा बैलों को पग-पग पर विघ्न का सामना करना पड़ता है।[3]

इसी प्रकार, हल-प्रसारण या हल-मुहूर्त शुभ दिन और नक्षत्र में करने का विधान है। अगले वर्ष के बीजधान्य को माघ या फाल्गुन में अच्छी तरह धूप में सुखाकर रात में बाहर रख दे और फिर पुटिका (मोरी या पुआल का बना सम्पुट) में रखकर उसे शोध कर रख दे। एक जाति का बीज एक पुटिका में ही रखना चाहिए।[4]

---

१ ईशा युगो हलस्थाणुर्निर्योलस्तस्य पाशिका।
अड्डचल्लश्च शौलश्च पचनी च हलाष्टकम्॥—कृषिपरा०, दे० कृषि।

२. पञ्चहस्ता भवेदीशा स्थाणुः पञ्चवितस्तिकः।
सार्धहस्तस्तु निर्योलो युगः कर्णसमानकः॥
निर्योलपाशिका चैव अड्डचल्लस्तथैव च।
द्वादशाङ्गुलमानो हि शौलोऽरत्निप्रमाणकः॥
सार्द्धद्वादशमुष्टिर्वा कार्या वा नवमुष्टिका।
दृढा पच्चनिका ज्ञेया लौहाग्रवंशसम्भवा॥—उपरिवत्

३. दे० वाचस्पत्य, कृषि।

४. उपरिवत्।

वैशाख मास में बीज (धान्य) का वपन उत्तम माना जाता है, ज्येष्ठ में मध्यम, आषाढ में अधम और श्रावण मास में नीचातिनीच। जिन बीजों को उखाड़कर फिर रोपना हो, उनको ग्रीष्म ऋतु में रोपना चाहिए।

वराहमिहिर का कहना है कि 'वृषराशिस्थ सूर्य (ज्येष्ठ) के अन्तिम तीन दिन और मिथुन (आषाढ) के आदि के तीन दिन भूमि रजस्वला होती है। इसलिए, इन दिनों को बचाकर बीज गिराना चाहिए।'[1]

इसके पश्चात् खाद देना, धान रोपना, निराना, निकौनी करना, काटना खलिहान में मेह गाड़ना, दौनी करना एवं धान्य-स्थापन करना आदि क्रियाओं का विधिवत् वर्णन किया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार ने कृषि के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त कर उसका विस्तृत विवरण उपस्थित किया है। इसके अनुसार हल-सामग्री के ज्ञान के साथ पूर्वोक्त हल-प्रवहण, बीज-स्थापन, बीज-वपन आदि से धान्य-स्थापन तक की क्रिया कृषि या कर्षण अथवा खेती कहलाती है, और इस खेती को सम्यक् ज्ञानपूर्वक पूर्ण करने से अन्नादि की प्राप्ति होती है। आरम्भ के श्लोकों में कृषि की स्तुति में कहा है कि अन्न धान्य से होता है, और धान्य कृषि से होता है, इसलिए सब काम छोड़कर कृषि को यत्नपूर्वक करें। कृषि धन्य (धन प्राप्ति का साधन) है, कृषि मेध्य है और सभी जन्तुओं का जीवन कृषि ही है; इसलिए हिंसादि दोषों से सम्पृक्त होने पर भी कृषिकर्त्ता अतिथियों की पूजा से ही पापमुक्त हो जाता है।[2] यह उक्ति मनु के कृषि-निषेध की भावना को सर्वथा आच्छन्न करके ऋक्संहितावाली 'कृषिमित्कृषस्व' (खेती ही करो) की भावना को सम्पुष्ट करती है। आज भी यह कहावत बनी हुई है—'उत्तम खेती मध्यम बान।'

कृषकों के लिए चार गुण आवश्यक माने गये हैं—'जो किसान पशुओं का हित करनेवाला, खेतों पर जानेवाला, समय का ज्ञाता और बीजों के रक्षण में तत्पर रहता है, वह सर्वथा धनधान्यपूर्ण होकर कभी दुःखी नहीं होता।'[3]

आधुनिक इतिहास के साक्ष्य में

अबतक कृषि के विषय में वे ही बातें कही गई हैं, जिनका लिखित प्रमाण वेदों से प्रारम्भ कर परवर्त्ती साहित्य तक प्राप्त होता है। उनके प्रमाण-सहित उद्धरणों के साथ कृषि-

---

१. वृषान्ते मिथुनादौ च त्रीण्यहानि रजस्वला।
बीजं न वापयेत्तत्र जनः पापाद् विनश्यति॥—वराहसं०।

२. अन्नं तु धान्यसम्भूतं धान्यं कृष्या विना न च।
तस्माद् सर्वं परित्यज्य कृषिं यत्नेन कारयेद्॥
कृषिर्धन्या कृषिर्मेध्या जन्तूनां जीवनं कृषिः।
हिंसादिदोषयुक्तोऽपि मुच्यतेऽतिथिपूजनाद्॥—कृषि० परा०।

३. गोहितः क्षेत्रगामी च कालज्ञो बीजतत्परः।
वितन्द्रः सर्वसस्याढ्यः कृषको नावसीदति॥—उपरिवत्।

विकास का साक्ष्य-मात्र उपस्थित किया गया है। इन साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि कृषि भारतवर्ष की मूल आरम्भिक वृत्ति है। इसी वृत्ति पर आगे की सभी वृत्तियाँ—व्यापार, उद्योग, व्यवसाय आदि पनपी और विकसित हुई हैं। इस कृषि के मूल में ही भारत का अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि का विकास हुआ है। यहाँ जो कुछ भी प्रमाण उपस्थित किये गये हैं, वे सभी संस्कृत-साहित्य से लिये गये हैं। इनमें पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि साहित्य के प्रमाण नहीं रखे गये हैं, वे स्वयं स्वतन्त्र प्रमाण हैं। पालि-ग्रन्थों से इनका स्वतन्त्र और विस्तृत विवरण उपस्थित किया जा सकता है। इसी प्रकार, प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य से भी, विशेषकर स्वयम्भू और पुष्पदन्त के काव्यों से इस विषय की बहुत अधिक सामग्री उपस्थित की जा सकती है, किन्तु वह सब विस्तर-भय से नहीं किया गया। आयुर्वेद-ग्रन्थों में प्रतिपादित कृषिजन्य पदार्थों के विवरण उपस्थित करने पर तो और भी अधिक विस्तार हो जाता। विद्वान् पाठक स्थालीपुलाकन्याय से यथाप्रस्तुत साक्ष्यों के द्वारा ही कृषि की पारम्परिक विकास को देख-सुनकर समझ सकेंगे।

अस्तु: इन साक्ष्यों के अतिरिक्त पौरातात्त्विक अध्ययन से भी यह सप्रमाण उपस्थित किया जा सकता है कि पाषाण-युग से ताम्रयुग तक अबतक ऐसे उपकरण मिले हैं, जो कुठार, परशु और हँसिया के पूर्वज थे। कुछ ऐसे भी उपकरण मिले हैं, जिनका फलक एक तरफ तेज था और दूसरी तरफ कुण्ठित। ये पत्थर, लोहे या ताँबे के बने होते थे।[1]

मिस्र देश की नील नदी के किनारे पाये गये चार हजार वर्ष पूर्व के हँसिया जैसे पदार्थ से ज्ञात होता है कि खेती का उपकरण वहाँ भी ऐसा ही था। एक दूसरा उपकरण भी प्राप्त हुआ है, जो ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व का है।[2] भारतीय लाठा और रहट जैसे सिंचाई के साधन वहाँ भी प्राप्त हुए हैं। यूरोपीय देशों (क्रीट, इटली, ग्रीस तथा लिथुआनिया) में पाये गये उपकरणों से भी आज से पूर्व के उपकरणों के प्रमाण उपस्थित होते हैं।[3]

मोअन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई में कृषि के उपकरण-विशेष तो नहीं प्राप्त हो सके हैं, लेकिन खिलौने और गाड़ियों के आदर्श मिले हैं। ये आदर्श सिन्धप्रदेश में प्राप्त हो रही आज की बैलगाड़ी के समान ही हैं। 'एक्का' का भी एक आदर्श प्राप्त हुआ है।[4]

वहाँ की खुदाई में गेहूँ और जौ के जो दाने मिले हैं, वे आजके पंजाबी गेहूँ के दानों से मिलते हैं। चावल, मटर तथा तिल भी मोअन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ खाद्य पदार्थों में दूध, खजूर तथा कुछ दूसरे फल भी प्राप्त थे।[5]

---

१. वेदिक एज, पृ० १३२—१३४।
२. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—एग्रीकल्चर।
३. वेदिक एज, पृ० १३२—१४०।
४. उपरिवत्, पृ० १७७।
५. उपरिवत्, पृ० १७४।

यह भारतवर्ष नदियों, पहाड़ों और झीलों का देश है, इसलिए यहाँ सिंचाई, व्यापार तथा यातायात के प्रचुर साधन विद्यमान हैं। यद्यपि यहाँ कृषि के साधनों—उपकरणों की प्राप्ति नहीं हो सकी है, तथापि चक्की के ऊपरी भाग की प्राप्ति बहुतायत से हुई है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय खेतीबारी होती थी। लोग खेतीबारी से परिचित थे। उस समय के प्राप्त अवशेषों—गेहूँ और जौ के परीक्षण से पता चलता है कि वे दाने जंगली नहीं थे, प्रत्युत उन्हीं की जाति के दाने आज सिन्ध-पंजाब में बोये जाते हैं।[1]

वेश-विन्यास से प्रतीत होता है कि उस समय के लोग दो वस्त्रों का व्यवहार करते थे। ऊपर का वस्त्र शॉल जैसा था, जो सम्भवतः ऊन का था और नीचे का वस्त्र धोती जैसा था, जो अवश्य ही कपास के सूतों से बना होता था।

सिन्धु-घाटी का लम्बे गलकम्बल से युक्त ककुद्मान् बैल तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। इससे प्रकट है कि उस समय खेती में अच्छे बैलों का प्रयोग किया जाता था।

बहुत-से घरेलू पात्र भी खुदाई में प्राप्त हुए हैं। इनमें, मिट्टी, पत्थर, शंख, हाथीदाँत और धातुओं के पात्र थे। पत्थरों का स्थान लोहे और ताँबे ने ले रखा था। महानस के पात्र प्रायः मिट्टी के होते थे। इनमें मांसपचनी, हाँड़ी, चिमटा, सँड़सी, छिपली, कड़ाई, कलश रखने की तिपाई, कलसो आदि पात्रों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। जाँता, चक्की, तिपाई आदि पत्थर के ही बने होते थे। कलसी का ढक्कन शंख आदि का बना होता था। इनके अतिरिक्त गृह उपकरणों में सूई, कुल्हाड़ी, आरी, हथौड़ा, छुरी, बंसी, रेती आदि पदार्थ भी मिले हैं। ये सभी लोहे या ताँबे के बने हुए हैं। लकड़ी की खाट और मिट्टी का मोमबत्ती जलाने का स्थाम (स्टैण्ड) भी मिला है।[2]

मेगास्थने ने मौर्य-साम्राज्य के इतिहास के प्रसंग में लिखा है कि भारत में खेती का अच्छा कार्य होता था और यहाँ कृषि में अच्छी सावधानी बरती जाती थी। यहाँ की धरती अत्यन्त उर्वर है। यहाँ दो फसलें होती थीं। फल-अन्न बहुतायत से प्राप्त होते थे। चावल, मरुई और तिल ग्रीष्म में बोये जाते थे, गेहूँ, जौ और दाल जाड़े में। अरिस्टोब्युलस ने लिखा है कि जल में धान बोया जाता था। ईख और कपास की खेती होती थी। यहाँ कभी अकाल नहीं पड़ता था। स्ट्राबो ने यहाँ की ओषधियों के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उसने वटवृक्षों की लम्बाई-चौड़ाई का विस्तृत वर्णन किया है।[3]

फाहियान (५वीं शती) और ह्वेनसंग (६४१-४२ ई०) ने मगध के चावलों की प्रशंसा की है। उनके जीवनचरित्र-लेखक ने यहाँ के उत्तम चावलों का वर्णन किया है। मगध को चावलों, आमों और फलों का देश कहा है तथा यहाँ की उर्वर भूमि की स्तुति की है। इत्सिंग (६७३ ई०) ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में बौद्ध विहारों में 'पञ्चभोजनीय' और 'पञ्चखादनीय' का उल्लेख किया है। पञ्चभोजनीय में चावल, मकई, जौ और मटर के बने भोज्य, मांस और मीठी रोटियाँ होती थीं तथा पञ्चखादनीय में कन्द मूल, फल आदि।

---

१. कै० ए०, पृ० १७४।
२. उपरिवत्।
३. क्लासिकल एज।

भारत के चारों दिशाओं में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का वर्णन करते हुए लिखा है कि उत्तर में गेहूँ, पश्चिम में चावल और जौ तथा दक्षिण-पूर्व में चावल और गेहूँ एवं मगध में प्रधानतः धान और गेहूँ पैदा होता है। प्रसिद्ध अरब-यात्री अलबेरुनी, मसउदी, इब्नबतूता आदि ने भी यहाँ की कृषि और कृषिजात पदार्थों की प्रशंसा की है। उनमें चावल, गेहूँ, मरीच, इलायची, कपूर और नारियल का मुख्य स्थान था।[1]

भाषावैज्ञानिक अध्ययन के साक्ष्य में

कृषि के तात्त्विक विषयों एवं शब्दों के अनुशीलन में अबतक लिखित सामग्री एवं इतिहास के साक्ष्य तथा प्रमाणों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अब हम कतिपय कृषिवाची शब्दों के भाषावैज्ञानिक अनुशीलन के क्रम में प्राक्तन विद्वानों की मान्यताएँ तथा निर्णय प्रस्तुत कर रहे हैं।

कोशनिर्माण-कार्य आजकल भाषाविज्ञान का एक अंग बन गया है। प्राचीन भारतीय विद्वान् भी कोश को व्याकरण का ही एक अंग मानते थे; क्योंकि व्याकरण शब्दशास्त्र कहलाता था और कोश भी शब्दशास्त्र ही है। पहला व्युत्पत्ति देता है, तो दूसरा उसके लिंगों, पर्यायों और पदार्थों का विवेचन करता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरण के अध्ययन-क्रम में पहली इष्टि 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' की ली है, अर्थात् शब्दों, अर्थों तथा उनके परस्पर के सम्बन्धों के नित्य और स्वतोनिर्णीत होने पर व्याकरण की क्या आवश्यकता रह जाती है? यहाँ व्याकरण के प्रयोजन की उद्भावना करते हुए शब्दों, अर्थों और उनके सम्बन्धों का ही उल्लेख हुआ है, और वे ही विषय कोश के भी हैं।[2] इस इष्टि की भूमिका में पहले ही 'अथ शब्दानुशासनम्' (अब शब्दों के अनुशासन करनेवाले शब्दशास्त्र का आरम्भ करते हैं) कहकर शब्दानुशासन ही व्याकरणशास्त्र का नाम रखा गया है।[3] आगे फिर भाष्यकार ने व्याकरण के प्रयोजन-प्रदर्शन के पश्चात् प्रश्नोत्तर-रूप में यह विवरण उपस्थित किया है कि शब्दानुशासन करने के क्रम में 'क्या शब्दों का उपदेश करना है अथवा अपशब्दों का? लाघव के लिए शब्दों का ही उपदेश करना चाहिए। तब क्या प्रतिपद पाठ करना चाहिए? नहीं, यह तो उचित मार्ग नहीं है। ऐसा सुना जाता है कि बृहस्पति ने इन्द्र के लिए एक सहस्र देववर्ष तक प्रत्येक शब्द का पारायण पाठक्रम से किया था, किन्तु वे उन शब्दों का अन्त नहीं पा सके थे।'[4]

---

१. दे० 'मेगास्थनीज का भारत'; 'फाहियान', 'ह्वेनसांग' और 'इत्सिंग' की भारत-यात्रा; 'अलबेरुनी का भारत' तथा 'भारत-अरब के सम्बन्ध।'

२. सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे।—महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

३. अथ शब्दानुशासनम्। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।—पस्पशा०।

४. शब्दानुशासनमिदानीं कर्त्तव्यम्। तत्कथं कर्त्तव्यम्? किं शब्दोपदेशः कर्त्तव्यः आहोस्विदपशब्दोपदेशः? लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। अथैतस्मिञ्छब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्त्तव्यः गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः? नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते, बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम।—महाभा०, पस्पशा०।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्य शब्दानुशासन नाम से व्याकरण का अवबोध करते थे और कभी प्राचीनतम काल में शब्दपारायण ही शब्दानुशासन या व्याकरण कहलाता था। परवर्ती काल में सामान्य-विशेष नियमों के साथ व्याकरण का निर्माण हुआ है, जिसकी समग्र पूर्ति महर्षि पाणिनि ने की थी। आचार्य पाणिनि ने धातुपाठ, गणपाठ और लिंगानुशासन-प्रकरण में कोश-सामान्य कार्य प्रदर्शित किया है।

निरुक्तकार यास्क ने भी निरुक्त के प्रयोजन की अवतारणा करते हुए निघण्टु-व्याख्या में कहा है कि पहले अधिक बुद्धिमान् ऋषि वेदों का अध्ययन कर लेते थे, किन्तु परवर्ती जन अल्पज्ञ होते गये और उनका ध्यान उस प्रकार के अध्ययन से हटता गया, फलतः वे वेदों के अर्थों से अनभिज्ञ होते गये। इसलिए, वेदों के अर्थ को समझने के निमित्त वेदों के शब्दों का संग्रह किया गया, वही 'निघण्टु' कहलाया।[१]

भाषा के तुलनात्मक अध्ययन की उपलब्धि

भारतीय आर्यभाषाओं का पारम्परिक सम्बन्ध भारोपीय भाषाओं से है। आज की आधुनिक भाषाओं के पूर्व की अपभ्रंश, प्राकृत, पालि तथा संस्कृत-वैदिक भाषाओं का आरोह-क्रम से सीधा सम्बन्ध इण्डो-इरानी से और फिर उसका भारोपीय से होता है, यह आज के भाषाविज्ञान का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। पाश्चात्य भाषाविज्ञानविदों ने वैदिक-संस्कृत तथा इण्डो-इरानी और इण्डो-युरोपीय भाषा-परिवार का तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि वैदिक-संस्कृत जबतक इण्डो-इरानी के साथ थी, तबतक वह विशुद्ध आर्यभाषा-परिवार से ही सम्बद्ध थी; किन्तु जब वह आगे सप्तसिन्धु-प्रदेश में आई और उसका सम्बन्ध भारत के आदिवासियों, निषादों या आग्नेयों (आस्ट्रो-एसियन), द्रविडों, सन्तालों आदि से हुआ, तब उसपर यहाँ की पूर्वज भाषाओं का प्रभाव पड़ा। उन भाषाओं का तत्कालीन रूप तो अभी प्राप्य नहीं है, इसलिए उनका क्या और कितना प्रभाव पड़ा, इसका सही ज्ञान तो नहीं किया जा सकता; किन्तु उन भाषाओं के जो विकसित या अवशिष्ट रूप रह गये हैं, उनके तुलनात्मक अध्ययन से आज के भारतीय आर्यभाषा-परिवार पर पड़े प्रभाव की विद्यमानता की प्रतीति अभीतक होती है। प्रभाव शब्दों के रूप में रह गये हैं। आग्नेयों (निषादों) तथा द्रविडों की भाषा का सम्बन्ध ठीक इण्डो-इरानी से पृथक् होने के समय के अनन्तर ही होने लगा था। ऋग्वेदीय मूर्द्धन्य वर्ण और 'ळ' का उच्चारण उन भाषाओं के अवशेष के रूप में विद्यमान है। आग्नेय भाषा का 'ल' अभीतक प्राच्य आर्यभाषा-परिवार में विद्यमान है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है कि "वे असुर 'हे अलयो हे अलयः' कहते हुए इन्द्र से पराजित हो गये।" यहाँ 'अरयः' कहने की अपेक्षा 'अलयः' कहकर उन्होंने 'र' ध्वनि के स्थान पर 'ल' ध्वनि का व्यवहार किया था। अशोक के लेखों में प्राच्य रूप 'राजा' के स्थान में 'लाजा' मिलता है। प्राकृत-व्याकरणकारों ने 'र' का 'ल' विधान किया है। 'परित्रायताम्' के स्थान में

१. निरुक्त, अध्याय १, पाद १।

'पलिचायताम्' का प्रयोग नाट्य-प्राकृत में मिलता है। यह प्रवृत्ति आज भी बिहारी, बँगला, उड़िया और असमिया में सामान्य रूप से पाई जाती है। अस्तु;

इस प्रवृत्ति का आरम्भ ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व अवश्य होने लगा था, ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का विश्वास है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आदिभाषाओं के प्रारम्भिक सम्पर्क-काल से आजतक जो अवशेष रह गये हैं, वे भाषा के इतिहास-क्रम में एक महत्त्वपूर्ण साधक प्रमाण हैं और उनसे एक वास्तविक इतिहास का पता लग सकता है। थोड़े-से कृषि-सम्बन्धी शब्द भी उस परम्परा में आये हैं। उनके क्रमिक एवं तुलनात्मक अध्ययन से हमें कृषि के विकास-क्रम के अध्ययन में एक प्रमाण-पुष्ट सामग्री प्राप्त होती है और कृषि का प्राचीनतम रूप प्राप्त होता है।

वैदिक और संस्कृत-भाषा का अध्ययन करके विद्वानों ने लगभग चार सौ ऐसे शब्द निकाले हैं, जो मूलतः संस्कृत या आर्यभाषा-परिवार के नहीं हैं। और, अनुमानमिश्रित प्रमाणों से सिद्ध किया गया है कि उनमें से कुछ आग्नेय (निषाद) परिवार की सन्ताली, मुण्डारी आदि भाषाओं के एवं कुछ द्रविड भाषाओं के हैं। इन्हें प्राच्य पण्डितों ने 'देशी' या 'देश्य' कहकर मूल संस्कृत से पृथक् कर दिया था। लगभग दसवीं शती में धनपाल ने 'पाइय लच्छी नाममाला' नाम से देशी शब्दों का एक कोश रचा था और फिर बारहवीं शती में आचार्य हेमचन्द्र ने 'देशी नाममाला' नाम से देशी शब्दों का एक व्याख्यात्मक कोश बनाया था। इन पुस्तकों में वैसे ही शब्दों का संग्रह किया गया है, जिनका मूल संस्कृत में नहीं मिलता। लेकिन, इन शब्दों के मूल की खोज उनमें नहीं की गई है। आज के विद्वानों ने दूसरी भाषाओं के पर्याय-पतित शब्दों के अध्ययन के निष्कर्ष से उपलब्धि निकाली है कि ये शब्द वस्तुतः तत्तद् भाषाओं के हैं। उनमें से उदाहरणार्थ यहाँ हम उन्हीं शब्दों को ले रहे हैं, जिनका सम्बन्ध कृषि से है।

इनमें सिद्ध प्रभाषाविद् टी॰ बरो के अनुसार घोटक, कुक्कुर, बिडाल, शार्दूल, भल्लूक, गज, कासर लुलाय, गोरिन और हेरम्ब शब्द क्रमशः अश्व, श्वा, मार्जार व्याघ्र, ऋच्छ, हस्तिन् और महिष के पर्याय-रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जो दूसरी आदिभाषाओं के शब्द हैं और स्थानीय देशी रूप में व्यवहृत हुए हैं।

आधुनिक पण्डितों के अनुसार आग्नेय भाषाओं के अवशेष मुण्डारी और मोनख्मेर भाषाओं में बहुत-से संस्कृत-शब्दों का मूल खोजा जा सकता है। ऐसे ही शब्दों में हस्तिवाची 'मतङ्ग' शब्द है, जिसकी तुलना 'मेनतंग' (मलयदेशी) से की जा सकती है। यहाँ तंग का अर्थ हाथ है (मिला॰ हस्तिन्-संस्कृत)। इसी प्रकार, 'लवङ्ग' (संस्कृत) का मूल जवानी (जावाद्वीपीय) भाषा के 'लवन' में खोजना पड़ेगा। इसी प्रकार, आगे भी कुछ शब्दों का तुलनात्मक विवेचन उपस्थित किया जा रहा है—

अलाबु (लौका, कद्दू)। मिला॰ लाबु, लबो (मलय); ल्बोअ (मोनख्मेर); लबु (बटक)।

कदली (केला)। मिला॰ तेलुइ, केलुइ (सकाइ); तलुइ (निकोबार); दुव, तलाइ (ख्मेर); क्लोअइ (पलाऔंग); किन-तेन (शबर) = केला।

कार्पास (कपास)। मिला॰ ग्रीक (Kāprraoos); कपस (मलय)।

ताम्बूल (पान)। 'ताम्' उपसर्ग के साथ, बलु (अलक); म्लुवो (ख्मेर); बोलोङ (बहनार); इसका संस्कृत में कोई ऐसा दूसरा पर्याय नहीं है, जबकि दूसरी भाषाओं में वह रूप विद्यमान है।

मरीच (काली मिर्च'; मिला॰ मेरिद्-सा (शबर)। शबर-भाषा में इसके लिए एक और ह्रस्वीकृत रूप मिलता है—'मिद्'। इससे प्रतीत होता है कि 'र' अन्तःपाती प्रत्यय है और उपर्युक्त शब्द एक संयुक्त पद है। ह्रस्वीकृत रूप द्रविड-भाषा में मिलता है—मिळकु (तमिल)।

लाङ्गल (हल); नंगल (पा॰)। मिला॰ अनेक उपसर्गों के साथ—अंकाल (aṅkāl—ख्मेर); लकुर, लकुत (काम); क-लिकोर (खासी); तेंगल, तंगाल (मलय); तिगल (बटक); नंकल (मकस्सर)। मुण्डारी में सन्ताली 'नेहल' शब्द विद्यमान है। इस शब्द का अध्ययन मनोरञ्जक है; क्योंकि द्रविड भाषा में भी यहीं से यह शब्द गया है। मिला॰ नाञ्जिल (तमिल); नेगल (कन्नड)। मुण्डारी के अनुपस्पृष्ट रूप का एक परिवर्त्तन, जिसमें क<ह होता है, विशेषतया ध्यातव्य है। इसका उदाहरण हल (संस्कृ॰) में देखा जा सकता है।

सर्षप (सरसों); सासव (प्रा॰)। मिला॰ सेसवी (मलय); ऐयवी (प्राचीन तमिल)। ससवी आग्नेय मूल का उधार है।

इस प्रकार के अध्ययन के लिए मुण्डारी आदि का तुलनात्मक अध्ययन करना होगा। तभी ऐसे आग्नेय मूलों का शोध हो सकता है।

इनके अतिरिक्त संस्कृत के अर्क (अकवन), उञ्छ (कण-कण चुनना, खोदना); उलूखल (ओखल); करीर (बाँस का अंकुर); काक (कौआ); काच, काज (जुआ में बहना); काञ्चिका, काञ्जिका (चावल का गीला भात); कानन (जंगल); कूट (राशि); कुटी (झोपड़ी); कुट्ट (कूटना); कुण्ड (भूमिस्थित विशेष प्रकार का गढ़ा, पात्र); कुद्दाल (कुदाल) आदि शब्दों के मूल द्रविड-भाषाओं में ढूँढ़ने पड़ेंगे।

एतावता यह सिद्ध होता है कि कृषि के विकास-क्रम में न केवल संस्कृत के अध्ययन और प्रमाण ही एकमात्र साधन हैं, प्रत्युत आदिभाषाओं और द्रविड-भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन भी यह सिद्ध करते हैं कि यह विकास-क्रम हजारों वर्षों से इसी प्रकार चला आ रहा है। कितने समाज नष्ट हो गये, भाषाएँ नामावशेष हो गईं और परम्पराएँ जाती रहीं; किन्तु अवशेष-रूप में विद्यमान विकीर्ण प्रमाण भी आज पर्याप्त सामग्री उपस्थित करते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि वैदिक संहिताओं, धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों, रामायण, महाभारत आदि पुराणों, अर्थशास्त्र आदि शास्त्रीय ग्रन्थों, शिलालेखों तथा ऐतिहासिक परम्पराओं और भाषाविज्ञान के अध्ययनों से हमें उपर्युक्त सम्पूर्ण सामग्री का संहत रूप प्राप्त होता है और वह कृषि की सत्ता, व्यवहार और विकास का समग्र रूप उपस्थित कर देता है। भारतीय कृषि के विकास का यह दिङ्निर्देश-मात्र है।

उपसंहार

यह दिङ्निर्देशित शब्द-सामग्री आज भी भारतीय भाषाओं में सुरक्षित है। बिहारी भाषाओं में भी यह सामग्री सम्पूर्ण रूप से सुरक्षित है। उन्हीं कृषिवाची शब्दों का यह कोश दो खण्डों में पूरा किया गया है। बिहार में प्रचलित कृषि के बिखरे हुए इन शब्दों के इस संग्रह से हम यह दावा नहीं कर सकते कि इसकी इतिश्री हो गई। अभी तो इसकी बहुत-सी सामग्री अनुपलब्ध ही रह गई है, फिर भी जितना कुछ किया गया है, वह अध्ययन की दिशा के लिए पर्याप्त अवलम्बन कहा जा सकता है।

शब्दों के संग्रह, अर्थ, पर्याय तथा दूसरी भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के विषय में प्रथम खण्ड की भूमिका में विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ की व्युत्पत्ति के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि आज के प्रचलित शब्दों के मूल संस्कृत-रूप के शोध में पर्याप्त प्रयास किया गया है तथा आधुनिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन का भी उपयोग किया गया है, फिर भी इसे सम्पूर्णता नहीं प्राप्त हो सकी है।

बिहारी भाषाओं के भाषाशास्त्रीय अध्ययन और उसकी उपलब्धि भी हमारे भूतपूर्व शोधनिदेशक तथा प्रधान सम्पादक डॉ॰ विश्वनाथ प्रसाद ने पूर्वखण्ड की भूमिका में विस्तृत विवेचना के साथ उपस्थापित की है, अतः उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं समझी गई। प्रथम खण्ड की भूमिका में सभी विषयों पर विवेचन हुआ था, लेकिन मूलभूत विषय 'कृषि' का विवेचन नहीं था और मैंने इसकी नितान्त आवश्यकता समझी। इसलिए, यथामति सम्पूर्ण प्रयास द्वारा यथोपलब्ध सामग्री का अध्ययन करके मैंने पूर्वोक्त वस्तु-तत्त्व को उपस्थित किया है। उस अध्ययन-क्रम में मुझे वेदों में कृषि-विषयक सामग्री की पर्याप्त प्राप्ति हुई है। यदि उस सम्पूर्ण सामग्री का अध्ययन प्रस्तुत किया जाय, तो एक बृहत्काय स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है।

एक बात और। यहाँ, जैसा पहले मेरा विचार था कि कृषि-विकास के साथ-साथ भारतीय कोशों की विकास-परम्परा का भी दिग्दर्शन कराया जाय; किन्तु वह मनोरथ पूरा न हो सका, यद्यपि वह भी नितान्त आवश्यक था। यों तो, पूर्वखण्ड की भूमिका में कोश-परम्परा के आधुनिक विकास का संक्षिप्त विवेचन किया ही गया है।

अस्तु; जैसे कृषिकोश के इस द्वितीय खण्ड को पूर्वखण्ड के बिना नहीं पढ़ा जा सकता, वैसे ही पूर्वखण्ड की भूमिका के बिना इस भूमिका का पढ़ना भी क्रमबद्ध नहीं होगा। दोनों के समान अध्ययन में ही पूर्णता है। और तभी, विद्वानों को शेष कथ्य एवं शेष सामग्री की उपलब्धि हो सकेगी। इत्यलम्।

—श्रुतिदेव शास्त्री

आत्मनिवेदन

इस कोश के निर्माण में लोकभाषा-अनुसन्धान-विभाग के आद्य निदेशक श्रद्धेय डॉ॰ विश्वनाथ प्रसादजी, भू॰ पू॰ निदेशक, क॰ मुं॰ भाषाविज्ञान तथा हिन्दी-विद्यापीठ, आगरा एवं निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय, नई दिल्ली तथा वर्त्तमान उपाध्यक्ष, केन्द्रीय वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली-आयोग, नई दिल्ली का प्रारम्भिक निदेशन ही मूल आधार है। यह उन्हीं की कृपा का फल है कि उनके सम्पादकत्व में प्रकाशित पूर्वखण्ड में स्वीकृत पद्धति के अनुसार ही यह खण्ड भी प्रकाशित हो रहा है: **मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः।** मैं इसके लिए उनका चिर ऋणी रहूँगा।

यह विभागीय कार्य है। कार्य की सुविधा के विचार से सम्पाद्यमान कार्य का समान विभाजन हुआ है। फिर भी, इस कोश-निर्माण में मेरे विभागीय सहयोगी, आत्मसम्मित सुहृद् तथा सहचर श्रीराधावल्लभ शर्माजी एवं श्रीविक्रमादित्य मिश्रजी का प्रशस्य सहयोग रहा है। मैं उन दोनों की सहयोग-निष्ठा के प्रति हृदय से आभार प्रदर्शित करता हूँ।

इस कोश के निर्माण में हमारे सभी परिषद्-निदेशकों की कृपापूर्ण दृष्टि निमित्त-कारण के रूप में उपस्थित होकर आई है, विशेष कर वर्त्तमान निदेशक पं॰ श्रीवैद्यनाथ पाण्डेयजी का वैदुष्यसहजात सुहृत्सम्मित निदेशन मेरे कार्यपथ को प्रशस्त करने में अनिवार्य सहायक सिद्ध हुआ है। मैं उनका चिर उपकृत हूँ।

परिषद् के वर्त्तमान प्रकाशनाधिकारी पं॰ श्रीहवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' न केवल विद्वान् और अपने कार्य के प्रति निष्ठावान् ही हैं, प्रत्युत मुझ-जैसे चिरकारी को निरन्तर कार्य-प्रवृत्त भी करते रहे हैं। इनके जननान्तर सौहार्द के प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन मैं अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझता हूँ। इस प्रसंग में, यदि कालप्रेक्षी कर्त्तव्यकुशल श्रीश्रीरञ्जन सूरिदेवजी के प्रति प्रमाद-शोधन के लिए साधुवाद न किया जाय, तो पूर्णाहुति के बिना किये गये यज्ञ के समान सभी कृत अकृत ही रह जायँ। एवं प्रकारेण, इस कार्य में जिन महानुभावों की थोड़ी या अधिक जो कुछ भी सहयोगात्मक प्रवृत्ति रही है, सभी के प्रति हम कृतज्ञ हैं।

विद्यावयोवृद्ध पं॰ मदनमोहन पाण्डेयजी, अध्यक्ष, ज्ञानपीठ प्रा॰ लि॰ पटना, इस कोश के मुद्रण के प्रति सदैव जागरूक और आस्थावान् बने रहे हैं, उनके इस सहयोग के बिना ऐसा प्राञ्जल मुद्रण सम्भव नहीं था, अतः उनका यह उदात्त कृत्य मेरे लिए नितरां धन्यवादार्ह है।

पूर्वखण्ड की भूमिका में जिन संग्राहकों और सहायकों को कृतज्ञता-पुरस्सर स्मरण किया गया है और उनका धन्यवाद-ज्ञापन किया गया है, वे सभी पुनः हमारे धन्यवाद के पात्र हैं और रहेंगे।

पटना

स्वाधीनता-दिवस, १५ अगस्त, १९६६ ई॰

—श्रुतिदेव शास्त्री

कृषिद्वादशी

१. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥ (ऋक्० १०।३४।१३)

२. निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन ।
सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम् ॥ (ऋक्० १०।१०१।५)

३. युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमेयात् ॥ (यजु० १२।६८)

४. शुनं सुफाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः ।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तनास्मै ॥ (यजु० १२।६९)

५. यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ (अथर्व० १२।४५)

६. शुनं वरत्रामायच्छ शुनमष्ट्रामुदिङ्गये ।
शुनं तु तप्यतां फालः शुनं वहतु लाङ्गलम् ॥ (पैं० सं० १२।६।२)

७. चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥ (मनु० १।३)

८. व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः ।
यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ (मनु० ९।३९)

९. कुमुद्वती पुष्करिणी सीता सर्वाङ्गशोभिनी ।
कृषिः सहस्रप्रकारा प्रत्यष्टा श्रीरियं मयि ॥ (कौ० गृ० सू० ९।१४।१०।६।७)

१०. यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः ।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥ (महा०; अनु० ६।६)

११. प्रजापतये कश्यपाय देवाय नमः सदा ।
सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च ॥ (अर्थ०, सी० प्र०)

१२. गोहितः क्षेत्रगामी च कालज्ञो बीजतत्परः ।
वितन्द्रः सर्वसस्याढ्यः कृषको नावसीदति ॥ (कृषिपराशर)

कृषिकोश

द्वितीय खण्ड

['च' से 'ह' तक]

चंचा—(सं०) खर-पात से बने हुए पुरुष की आकृति का पुतला, जो पशु-पक्षियों को डराने के लिए फसलवाले खेत में गाड़ा जाता है (सा०)। पर्या०—धूहा (चंपा०-२)।
[<चञ्चा (संस्कृ०)]।



चंदनिया—(सं०) वह बैल, जिसका रंग चंदन-जैसा हो (पट०-१)।
[चंदन+इया (प्र०)<चंदन<चन्दन-]।

चंदवा—(सं०) हल के पीछे के डंडे (परिहथ) के ऊपर की मूठ, जो हल चलाते समय हाथ से पकड़ी जाती है। पर्या०—चाँदी (गया), मूठ (उ० द० शाहा०)
[चंद+वा (प्र०)<चन्द्रक-]।



चँदिया—(सं०) ऊख के कोल्हू के पेट में रस चुलाने में सहायता पहुँचाने के लिए लगाया गया लकड़ी का छोटा पाचड़ (चंपा, उ० पू० मैं०)। दे०—रोड़ा।
[चँदिया<चन्द्रिका]।

चंदुली—(सं०) हल के पीछे के डंडे (परिहथ) के ऊपर की मूठ, जो हल चलाते समय हाथ से पकड़ी जाती है (द० प० शाहा०)। दे० चंदवा।
[चंदुल+ई, वा चंद+उली (प्र०) < चन्द्रिल-, < चन्द्रक-]।

चंद्रकला—(सं०) एक प्रकार का फूल (दर०-१)।
[<चन्द्रकला]

चंपा—(सं०) (१) एक प्रसिद्ध फूल, चमेली। (२) एक प्रकार का छोटा केला (चंपा०-१)।

चंपाकम्ला (सं०) (पट०-१)। दे०—चंपाकेरा।

चंपाकेरा—(सं०) एक प्रकार का केला, जिसमें चंपा-फूल-जैसी सुगंध रहती है। (दर०-१, अन्यत्र भी)।
[चंपा+केरा, चंपा < चम्पक-; केरा < केला < कदल-(=कदली)]।

चंपिया—(सं०) वह बैल, जिसका रंग चंपा-फूल की तरह हो (पट०-१)।
[चंपा+इया<चंपा<चम्पक-]।

चँराती—(सं०) वह फसल, जिसे कोई पशु चर गया हो। (चंपा०-१)।
[चँर+आती; चँर <चरल< √चर् (जाना और खाना); आती (प्र० १)]।

चइत—(सं०) चैत महीना, भारतीय वर्ष और वसंत ऋतु का प्रथम मास। मार्च के अंतिम और अप्रैल के आदिम १५-१५ दिन। इसकी पूर्णिमा में प्रायः चित्रा नक्षत्र पड़ता है, अतः चैत्र नाम पड़ा। करीब दो हजार वर्ष पूर्व से इसी मास से वर्ष का आरंभ माना जाता है। पर्या०—चैत।
[चइत<चैत्र<चित्रा+अ(=अण्); चैत्र-(संस्कृ०); चइत्त, चैत् (प्रा०); चैत (हिं०); चैत् (मै०)]।

चइता—(सं०) (१) वह खेत, जिसमें चने की फसल होती हो (द० भाग०)। (२) चैत में तैयार होने-वाली फसल का खेत। दे० चैता। (३) एक प्रकार का बारहमासा, गीत-भेद, जो चैत मास में गाया जाता है। पर्या०—चइतार (पट०-४, चंपा०-२) चइतावर (चंपा-२)।
[चइत+आ (प्र०)<चइत<चैत<चैत्र<चित्रा+अ(=अण्)]।

चइतार—(सं०) (१) चैत में तैयार होनेवाली फसल, रबी। (२) चैत में गाया जानेवाला बारहमासा गीत का एक भेद। (पट०-४, चंपा० २) (३) चैत महीने का मौसम (सर्वत्र)। दे०—चइत, चइता।
[चइत+आर (पु०) <चइत < चैत्र< चित्रा+अ (=अण्-प्र०)]।

चइतावर—(सं०) (चंपा०-२)। दे०—चइता; चइतार।

चइती (सं०)—(१) चैत मास में तैयार होनेवाली फसल, रबी। (२) चैत की पूर्णिमा। (वि०) चैत मास से संबद्ध।
[चइत+ई (प्र०)<चइत<चैत्र< चैत्र<चित्रा+अ (अण्)]।

चइतुआ—(सं०) चैत महीने में होनेवाली फसल (पट०-१)।
[चइत+उआ (प्र०)<चइत<चैत<चैत्र-]

चइतुआ लाहड़—(सं०) चैत महीने में होनेवाली अरहर (पट०-१)।

चउंकल—(क्रि०) दे०—चउकल, चौकल।
[चउँक+ल (प्र०)<चउँक<चउक्क<चतुष्क-]।

चउँकी—(सं०) दे०—चौकी।

चउँरी—(सं०) दे०—चौरी, चौर।

चउकल—(क्रि०) खलिहान में अन्न के ढेर को लाठी या सूप आदि से गोलाकार करना। (चंपा०-१)। पर्या०—चाकल (चंपा०-२, शाहा०-२), चउँकल।
[चउक+ल (प्र०) < चउक <चतुष्क < चतुर्+क(प्र०)]।

चउका—(सं०) (१) खेत आदि की मिट्टी काटते समय बेलदार की मजदूरी का हिसाब करने के लिए छोड़ा गया ऊँचा स्थान। (२) मिट्टी काटने की नाप। (३) गोबर आदि से लीप-पोतकर बनाया गया स्थान, जहाँ बैठकर खाया जाता है या कोई पवित्र कार्य किया जाता है।



[चउका<चउक्क<चतुष्क-]

चउखड़ा—(सं०) कीट-विशेष के काटने से पैदा हुआ जानवरों का एक रोग; जिससे कँपकँपी, अरुचि और जड़ता आती है (पट०-१)।

चउतरा—(सं०) दे० चबूतरा।

चउर—(सं०) बैलों का एक प्रकार का ऐब। इस ऐब-वाले बैल का सारा शरीर चाहे किसी भी रंग का हो, पर उसकी पूँछ का रंग सफेद होता है (सा०-१)। पर्या०—चवँर (शाहा०), चवर (चंपा०)।
[चउर < चँवर < चमर-, < चमरी = मृग-विशेष, वाक]

चक—(सं०) (१) खेतों का समूह या कृषि-योग्य भूमि का एक बड़ा खंड (गाइड०)। (२) खेतों का बड़ा सम्मिलित भाग, जो एक ही स्थान में हो (चंपा०-१)। पर्या०—चकला।
[चक < चक्क ; चक्र-(संस्कृ०); चक्क (प्रा०); चक० ग्रामसमूह, प्रदेश, मंडल, भूभाग, विभाग—(मो० वि० डि०)]।

चकइया—(सं०) अंगों से पूर्ण और स्वस्थ बैल (पट०-१)।

चकइया—(सं०) (१) एक प्रकार की चौड़ी सेम (पट०-१)। (२) चौड़ा आम (पट०-१)।
[चक + इया (प्र०) < चक्क <चक्क-!]।

चकठ—(सं०) दे०—चिकठ।

चकठ काश्तकार—(सं०) चकठ जमीन जोतनेवाला किसान। पर्या०—चकठ किसान।
[चकठ<चकावर्त (?) या देशी। चकौठा (हिं०)=एक प्रकार की जमीन, जिसकी लगान बीघे के हिसाब से नहीं निर्धारित होती, बल्कि घटती-बढ़ती रहती है]।

चकठ किसान—(सं०) दे०—चकठ काश्तकार।

चकठरैठ—(सं०) (१) नकदी कर। (२) खेती के योग्य भूमि को कृषि-योग्य बनाने के लिए निश्चित अवधि तक निर्धारित नकदी कर। (३) उपज के बँटवारे के बदले में कुछ थोड़े समय के लिए निर्धारित नकदी कर। (४) निश्चित अवधि के लिए अनाज के बदले में निर्धारित कर (गया०)—(गाइड०)।

चकबंद—(सं०) जंगली इलाके का वह भूखंड, जो किसी संताल मुखिया को खेती करने या रैयतों को बंदोबस्त करने के लिए दी जाती है (द० मुं०)।

चकबंदी—(सं०) एक निश्चित भूखंड को एक किसान के नाम से निर्धारित करने की व्यवस्था।

चक भंडार—(सं०) एक प्रकार का रैयत (द० मुं०)।

चकमुनरी—(सं०) सिपाहे में लगी लोहे की कड़ी, जिसमें रस्सी बाँधकर बैलगाड़ी खड़ी की जाती है (पट०-१)।

चकरी—(सं०) (१) दाल आदि दलने का छोटा जाँता। पर्या०—चक्की (प०), (२) लाठे के पिछले भाग के अंत में समभार के लिए मिट्टी या किसी दूसरी वस्तु का रखा गया बोझा (चंपा०, पट०, गया, गाइड०)। दे०—लेद। टि०—प्रायः मिट्टी का गोल पिंड बीच में छेद करके डाला जाता है अथवा कभी-कभी जाँते की चक्की ही डाल दी जाती है। (३) गुड़ का चक्राकार बृहत् पिंड (सा०, पट०, गया)। दे०—चाकी। पर्या०—चक्की (पट०)। (४) छोटा जाँता (चंपा०-१)। (५) घुटने की गोलाकार हड्डी।



[चकर + ई (अल्पा० प्र०) < चक, चक्रिन् (संस्कृ०), चक्की (प्रा०)]।

चकरिआ कदुआ (सं०) चक्की की तरह का गोल कद्दू (पट०-१)।

चकरिआ कोहड़ा—(सं०) चक्की की तरह का गोल कोहड़ा (पट०-१)।

चकबेवर—(सं०) एक प्रकार का रैयत (द० मुं०) (गाइड०)।

चकला—(सं०) (१) दे०—चक। (२) वेश्याओं के रहने का स्थान।
[चक+ला (प्र०) < चक, चक्कल-; चकला (ने)]।

चकुला—(सं०) दाल आदि दलने का मध्यम आकार का जाँता।
[चक+उला (अल्पा० प्र०)<चक-, चक्कल]।

(२) खेती के योग्य
के लिए निश्चित
र। (३) उपज के
थोड़े समय के लिए
निश्चित अवधि के
रित कर (गया०)—

का वह भूखंड, जो
ी करने या रैयतों को
ाती है (द० मुं०)।
ड को एक किसान
ा व्यवस्था।
ा रैयत (द० मुं०)।
ी लोहे की कड़ी,
ी खड़ी की जाती है

ने का छोटा जाँता।
ड के पिछले भाग के
मिट्टी या किसी दूसरी
(चंपा०, पट०, गया,
—प्रायः मिट्टी का गोल
ढाला जाता है अथवा
डाल दी जाती है।
ल् पिंड (सा०, पट०,
ा०—चक्की (पट०)।



तरह का गोल कद्दू

की तरह का गोल

का रैयत (द० मुं०)

। (२) वेश्याओं के

चकल-; चकला (ने)]।
का मध्यम आकार का

<चक-, चकल]।

चकलेदार—(सं०) (१) जमींदारों की ओर से नियत समय के लिए नियुक्त वह कर्मचारी, जो अनाज न देने पर किसानों के अनाज को रोककर रखता है (पू० मैं०)। दे०—छेंकनिहार। (२) खेत की खड़ी फसल की देखरेख करनेवाला व्यक्ति (गाइड०) पर्या०—अधवारा (३) एक जातीय उपाधि।

[चकले + दार (प्र०) < चकला (हिं०) + दार (फा०)। चकला <चकल<चक+ल-(प्र०)]।

चकोड़ा—(सं०) तीन पत्तोंवाली एक पशु-खाद्य घास (गया, द० पू०)।

[चकोड़ा<चकर्वड<चक्रमर्द (क)-]।

चकोह—(सं०) (१) नदी की धारा में वह स्थान, जहाँ पानी चक्कर काटता है (चंपा०-१)। (२) जल के बहाव का वह स्थान, जहाँ पानी की लहर एक केंद्र पर चक्कर खाती हुई घूमती है (सा०—१)।

[चक+ओह<चक्र+वाह-]।

चक्कड़—(सं०) मिट्टी का बड़ा ढेला या भाग, जो जमीन के खिसकने या हल से जोतने पर उखड़ता है (चंपा०-१)।

[चक्क+ड़ (प्र०)<चक्र; चक्कर (हिं०)—घुमाव, घूर्णन। चक्कर (ने०)=घूमना, भँवर]।

चक्का—(सं०) (पट०-१)। दे०—पहिया।

चक्की—(सं०) (१) जाँता। (२) दाल आदि दलने का छोटा जाँता (प०)। दे०—चकरी। (३) गुड़ का बना हुआ गोल चौड़ा पिंड (पट०, पट०—१, गया)। दे० चाकी।

[चक्क+ई<चक्की<चक्रिन्-]।

चखुरल—(क्रि०) जोते-कोड़े खेत से घास-पात निकालना (चंपा०-१)।

[चखुर + ल (प्र०)<चखुर<चखुर (?) < √छुर् =(खोदना, काटना)]।

चचरा—(सं०) कुआँ और कूंड़ की रक्षा के लिए कुएँ के मुँह पर रखा गया घास या पुआल (नेवारी) का पूला (चंपा०)। दे०—सीठा। (२) कट्टी का बना मचान।



[चचरा < चच्चर < चत्वर (संस्कृ०), चच्चर (प्रा०)]।

चचार—(सं०) कुआँ और कूड़ की रक्षा के लिए कुएँ के मुँह पर रखा गया घास या नेवारी का पूला (मा०)। दे०—सीठा।

[चचार<चच्चर<चत्वर (संस्कृ०); चच्चर (प्रा०)]।

चच्चर घर—(सं०) जंगल, बाग आदि में रहने के लिए बनी मड़ई (गया)। दे०—पाभा।

[चच्चर + घर, चच्चर < चत्वर; घर < गृह। (चत्वर-गृह, यथा—चत्वर तरु-(चौराहे का पेड़)]।

चटई—(सं०) तृण, सींक, धान के डंठल और ताड़ के पत्तों आदि का बना बिछावन या चटाई (चंपा०-१)।

[चटाई (हिं०)<कट (हिं० श० सा०)। चटाई < चटु = व्रतियों का आसन (चटु……व्रतिनामासने पुमान्—मेदि०) <चट (=काठ में प्रयुक्त कुशासन), चटाई (बं०), चटा, चटाई (अव०); चटाई (हिं०, पं०, गु०), चट (पु०), चटाई (स्त्री०) (मरा०), चटु>चटवी >चटई > चटाई]।

चटकल—(क्रि०) आग पर या धूप में रखने के कारण किसी बरतन की पर्त्त का उड़ जाना। ऐसा होने से बरतन में छेद हो जाता है (चंपा०-१)।

[चटक+ल (प्रा०) < चटक (अनु०) वा √चट् (चटति)=चटकना, टूटना]।

चटकल—(सं०) जूट का कारखाना।

[चट + कल < चट्टी + कल]।

चटकुनी—(सं०) तृण, सींक, धान के डंठल और ताड़ के पत्ते आदि की बनी छोटी आसनी, चटाई (चंपा०-१)।

[चटकु+नी (प्र०)<चटुक<चटु; मिला०—चटाई]।

चटकोहा—(सं०) गदराने के समय चने का पौधा (शाहा०)। दे०—चटकी।

[देशी, मिला०—चटक (अनु)]।

चटल—(क्रि०) कुएँ के पानी का कम होना (चंपा०-१)।

[चट+ल (प्र०) <चट <√चट्। यथा—उचाटन, उचाटन]।

चटाई—(सं०) (१) (चंपा०)। दे०—चटई। (२) फूस, नरकट या बाँस की फट्टी का बना हुआ बिछावन; चटैनी। (३) गाड़ी की पेंदी में अन्न गिरने से बचाने के लिए बिछाई हुई चटाई (मैं०)। पर्या०—हरियार (पट०), भंडारी (द० भाग०, गया, पू० मैं०)

[मिला०—चटई]।

चटान—(सं०) (१) कड़ी मिट्टी या पत्थर की चट्टान। पर्या०—ढोढ़र (द० प० शाहा०), पथरेढ़र (द० मुं०), पथरौटी (द० भाग०)। (२) चूना-पत्थर या सामान्य पत्थर का बना खंड (सं० द०) पर्या०—चट्टान (सं० द०), लईन (द० प० शाहा०)।

[चट्टान (हिं०) < चट्टा (हिं०), (हिं० श० सा०); चटान < चटन <√चट् = टूटना, करना]।

चटैल—(सं०) एक प्रकार की बरसाती लता का फल, जिसकी रसदार स्वादिष्ठ तरकारी बनती है। दे०—चठैल।
[देशी]।

चट्टा—(सं०) किसी कुएँ या तालाब में पानी के कम हो जाने की अवस्था (चंपा०-१)।
[चट्टा < चटल < चट+ल (प्र०) < √ चट्]।

चट्टान—(सं०) चूना-पत्थर या सामान्य पत्थर का बड़ा टुकड़ा (गं० द०)। दे०—चटान।
[चट्टान < चटन < √ चट्]।

चट्टी—(सं०) (१) चीनी बनानेवालों द्वारा प्रयुक्त चटाई या कपड़े का टुकड़ा, जिसपर रखकर धूप में चीनी सुखाई जाती है (द० भाग०)। यह घरेलू व्यवसाय में व्यवहृत होता है। दे०—पाल। (२) टाट का टुकड़ा या चटाई आदि। (३) वह बरतन, जिसमें ऊख के रस को उबालने के पहले एकत्र किया जाता है (गया)। दे०—नाद।
[चट्ट + ई (प्र०) < चट्ठ, < चट्टक = तरल पदार्थ रखने का काष्ठ-पात्र—(मो० वि० वि०)]।

चटैल (सं०) एक प्रकार की बरसाती लता का फल, जिसकी स्वादिष्ठ तरकारी बनती है। पर्या०—चटैल, खेखसा (गया), कौकड़ी (दे० भाग०)।
[देशी ?]।



चड़िया—(सं०) अन्न भूनने या रोटी पकाने का मिट्टी का बरतन (द० भाग०)। दे०—खपड़ी।
[चड़+इया (प्र०) < चड़ < चरु-]।

चड़िआर—(सं०) वह गड्ढा, जहाँ से चाँड़ के द्वारा पानी निकाला जाता है (गया, द० मुं०)। दे०—चाँड़।
[चड़+इयार (प्र० ?) < चड़ < चाँड़ < चण्ड या चन्द्र (?) या चरु-]।

चढ़ंती—(सं०) (१) एक प्रकार का रोपनी-गीत (चंपा०-१)। (२) उन्नति, अभ्युदय। (वि०) चढ़ता हुआ, उदय होता हुआ।
[चढ़ंती < चढ़ल (बिहा० क्रि०)]।

चढ़ल—(क्रि०) (१) पकने के बाद तंबाकू के पत्ते पर चित्ती (दाग) होना। पर्या०—गुलठियाएल; चिति-राएल (चंपा०)। (२) ऊपर चढ़ना।
[चढ+ल (प्र०)<चढ़<√चढ् (देशी क्रि०—चढइ); आ + √रुह्। (संस्कृ०); चड (प्रा०); चढ़ना (हिं०) = ऊपर जाना; चढनु (ने०); चढ़णो। (कुमा०); सरिबा (असa०) = चढ़ना; चड़ा (बँ०)=ऊपर चढ़ना; चढ़िबा (ओ०); चढ़ना, (पं०); चढ़ाम (ल०); चढणु (सि०); चढवुं (गु०); चढ़ुणा, चढ़णे (मरा०) चढ़ल (कश०); <चढ । चाश्न (कश्म०) = उड़ाना; चाहाउण (प० पहा०); = ऊपर उठाना; चारा (बँ०) = चाँड़, खेमा; चढ़णा (पं०) = चढ़ना; चाढण (ल०); चाड़हनु (सि०) <चढ्य (<चढ्य ?); चड़ (कश्म०)= कुएँ पर स्थित लाठे का खेमा; सड (सिंह०)—चढ़ना। 'ब्लॉक' इसकी तुलना चड (चडइ-प्रा०) से करते हैं और गायगर पच्छुइ (प्रा०)—जाता है से।—(मिला०)। मिला०— √चड् (प्रा०) और √चट् (संस्कृ०)]।

चढ़ाव—(सं०) वह ऊँचाई, जहाँतक करीन आदि से पानी ऊपर उठाया जाता है (गं० द०)। दे०—बोदर।
[चढ़ाव < चढल (बिहा०); चढ़ना, (हिं०); चढन (प्रा०) दे०—चढ़ल]।

चतरा—(सं०) (१) फसल का एक रोग, जिसमें सारा पौधा जल जाता है (पट०, गया, पट०-१)। (२) वह बैल, जिसके दोनों सींग छोटे और बराबर हों। (३) नागफनी का काँटा।
[चतरा < छत्रक-या < छत्राक; अथवा < चत्र; चात्र = (कील)-(मो० वि० वि०)]।



चथरी गेन्हारी—(सं०) एक प्रकार का साग, चौलाई का एक भेद (दर०-१)।
[चथरी+गेन्हारी (गी०); देशी]।

चद्दर—(सं) (१) नील छानने का कपड़ा (द० प० मै०)। दे०—छन्ना। (२) लोहा, पीतल आदि धातुओं का सपाट लंबा चौड़ा टुकड़ा। (३) वह वस्त्रखंड, जो ओढ़ने या बिछाने के काम आता है।
[चादर (हिं०), चादर (फा०) मिला—चन्द्रक= चन्द्राकृति गोल पदार्थ; छन्द, छदिर, छादन <√ छद्]।

चनकल—(क्रि०) रेंड़ी के फल के सूखने पर 'चन' आवाज के साथ फूटकर बीज का निकल जाना (चंपा०-१)।
[चनक+ल० (प्र०) < चनक (अनु०), मिला०— √चन् (चनति)—प्रसन्न होना (वै० प्र०)]।

चनकी—(सं०) (१) वह कड़ी मिट्टी, जो सूखने पर फट जाती है। पर्या०—सिगता (प०)। (२) ऐसी मिट्टी, जिसमें बारीक कंकड़ मिले हुए हों। पर्या०—गगरी केथल; पथरटिया (द० भाग०)।
[चनक+ई (प्र०) < चनक (अनु०), मिला—चनक <√चन् (चनति)= प्रसन्न होना, तुष्ट होना]।



चनरवाहा—(सं०) वह व्यक्ति, जो चानर से सिचाई करता है (गाइड०)।

चनरवाही—(सं०) (१) चानर के द्वारा की जानेवाली सिचाई। (२) चनरवाह को मिलनेवाला पारिश्रमिक (गाइड०)।

चनरिया—(सं०) वह गड्ढा, जिसमें से चानर द्वारा सिचाई के निमित्त पानी निकाला जाता है (गाइड०)।

चनवा—(सं०) ऊख के कोल्हू को मथानी सेल गकर फटने से बचाने के लिए उसमें चारों ओर लगाया गया लोहे का पत्तर। यह पहले कोल्हू में लगता था, जब वह लकड़ी या पत्थर का होता था (सा०)। दे०—मोटवार।

[देशी—वा चन + वा (प्र०) वा < चन < चन्द्र (?)]।

चनसुर—(सं०) (१) ओषधि-जातीय वनस्पति-विशेष। इसका क्षुप ६ इंच से १८ इंच तक का होता है; अनेक शाखाएँ होती हैं; सोआ-धनिया की तरह पत्तियाँ होती हैं, फूल छोटे और सफेद होते हैं। यह मेथी के साथ मसाले के काम में आता है। (२) एक प्रकार का साग (चंपा०-१)।

[चनसुर < चन्द्रशूर (संस्कृ०), चनसुर (हिं०), चाँदशूर (बं०), चन्सुर (ने०)]।

चना—(सं०) एक प्रसिद्ध दलहन, जो रक्त-पीत वर्ण का, भीतर पीला; बड़े दानों का, 'सूँग' युक्त होता है (सा०)। दे०—बूँट।

[चना < चणक-(संस्कृ०); चण; चणअ० (प्रा०); चना, बूँट (हिं०); चना, छोला (बं०); चण, चण्दा (गु०); हरभरा, हरभरे, हरभन्या; चणे (मरा०); चणा० (ने०); चिणा (मा०); चना, छोले (पं०); कडले, मोनै गडले (क०); चनगालु; शालगालु, सेनगालु, शनिकलु (ते०); नखूद (फा०), हमस, हमस, हुमस (अ०)]।

चनाकी—(सं०) (१) पेड़ में ही चनकनेवाली अंडी। (२) बड़-बड़ बोलनेवाला (मुं०-१)।

[चनाक + ई (प्र०) < चनाक (अनु०), वा < चनक < √ चन् (चनति)=प्रसन्न होता है]।

चनाबक—(सं०) एक प्रकार का धान; जो फाल्गुन-चैत में बोया जाता है और अगहन में काटा जाता है। प्रायः सं० उ० में ही प्राप्य है।

[देशी]।

चनियाना—(सं०) पुराने समय में निश्चित की गई रैयती जमीन, जो केवल मकान के लिए दी जाती थी और जिसका भूमि-कर निश्चित रहता था (पूर्णि०-गाइड०)।

चपचा—(सं०) सन के पौधों को सड़ाने के लिए खोदा गया गड्ढा (गाइड०)।

चपटवा—(सं०) धान के पौधों में लगनेवाली एक छोटी हरी मक्खी (द० प० शाहा०)।

[चपट+वा (कु० प्र०) चपरा (संम०) < चपरा < चिपटा < चिपिट; चर्पट वा < चीपट (हिं०)]

चपड़ा—(सं०) (१) एक कड़ी मोटी घास; जो बिना जोती जमीन पर, जहाँ हर वर्ष बाढ़ आया करती है, फैल जाती है। इसकी सफाई खोदने से ही होती है (शाहा०)। पर्या०—धुरुप, धुरवा (पट०, गया०, द० मुं०)। (२) लाह। (३) फावड़ा, कुदाल (पट०-१)

[चपड़ा < चर्पट (=चिपटा) (?)]।

चनी—(सं०) छोटा चना (पट०)। दे०—बूँटी।

[चना+ई (अल्पा० प्र०) < चना < चण, चण-क]

चत्रा—(सं०) पटुए का मोटा और भद्दा रेशा।

[देशी]।

चबूतरा—(सं०) बैठने के लिए बनी थोड़ी ऊँची चौरस वेदी, जो मिट्टी, ईंट या पत्थर से बनाई जाती है। पर्या०—चौतरा, पिंड (पट०, द० पू०), ओटा (पट०, गया, सा०)।

[चबूतरा < चत्वर-, चत्वर-(संस्कृ०); चौतरा (हिं०), चबुतरा, चौतारो (ने०, कुमा०); चौतारा (बं०), चौतरा (पं०); चोत्रो (गु०)]।

चबेना—(सं०) भुना हुआ अनाज। पर्या०—चबेनी, चरबन, भूँजा, भूँजना (शाहा०), मूढ़ी; भूँजा (द०, भाग०); भूँजा (उ० पू० मै०)।

[< चर्वणक-]।

चबेनी—भुना हुआ अनाज। दे०—चबेना।

[चबेना+ई (अल्पा० प्र०) < चबेना (< चर्वणक-]।

चभाड़—(सं०) वह खेत, जिसमें अधिक पानी लग जाने के बाद सूखने पर दरार फट जाती है और जोतने के समय मिट्टी के बड़े-बड़े चक्के उभर जाते हैं (सा०-१)। पर्या०—चवान (चंपा०)।

[देशी]।

चमुकी—(सं०) चाबुक (उ० प०)। दे०—चाभुक।

[चाबुक (हिं०), चाबुक—फा०]।

चभकुल थावर—(सं०) बोझा लेते समय भड़कनेवाला बैल (पट०-१)।

चभरखरवा (सं०) जानवरों का एक घातक रोग (पट०-१)।

चमरबथुआ—(सं०) बथुए की जाति का शाक-विशेष (दर०-१)।

[चमर +बथुआ—देशी, चमर < चमार <चर्मकार (कुत्सा०), बथुआ <वास्तुक]

चमार–(सं०) गाँवों में रहनेवाली एक निम्नश्रेणीय जाति, जिसका प्रधान व्यवसाय चमड़े का काम करना है; किंतु इस जाति के लोग मजदूरी करके भी अपनी जीविका चलाते हैं। ये चर्मशिल्पी अपने व्यवसाय एवं मजदूरी से कृषि-कर्म में सहायक होते हैं।

[चमार< चम्मर <चम्मआर < चर्मकार <चर्म+√कृ+अ (=अण्)। चर्मकार-(संस्कृ०), चम्मकार (पा०), चम्मआर, चम्मयर (प्रा०); चमार (हिं०); चमार् (ने०); चामार (बँ०); समार (अस) = चूना बनानेवाला; चमार (ओ०)=हंसिया, चोड़ा आदि बनाने वाला; चमार, चमियार (पं०); चमार (सिं०); चमार (गु०); चम्हार (मरा०); सोम्मारु (सिंह०)]।

चमोकन—(सं०) पशुओं की त्वचा में चिपटा रहनेवाला एक ऊष्मज कीड़ा (मुं०-१)।

[चमो+कन, < चमो-<चर्मन्+कन < स्कन्न (?) मिला०-चर्मरंग=कीट-विशेष (मो० वि० डि०), (चर्मचटी=चर्मचटी तु जतुनी गृह-माचिका—(भिका०); चमूकन (हिं०)]

चरँछिया—(सं०) चार आँछी (ऊपर का मुँह)-वाला चूल्हा। दे०—आँछी।

[चर+अँछि<चतुर्+अर्चि:]।



चर—(सं०) (१) अधिक पानी के ठहराव से बनी दलदल जमीन। (२) गुप्तचर, भेदिया (चंपा०-१, सा०)।

[चर < चर-, चक्र-]।

चरइ—(सं०) एक प्रकार का शाक, जिसकी पत्तियाँ हरी और बड़ी होती हैं (पट०-१)। पर्या०—चौलाई।

चरक—(सं०) (१) श्वेत-कृष्ण वर्ण का मवेशी। पर्या०—चरका; चरको (द० भाग०), रूपाधी (गया), रूपाधौर, रूपधर (अन्य०), चँवरा (उ० प० मै०), चरक (दर०-१)। (२) बैलों का रंग-विशेष। यह रंग कुछ-कुछ काला और सफेद होता है। (३) श्वेत कुष्ठ (चंपा०, अन्य०)।

[मिला०—कर्क=उजला घोड़ा (कर्कोऽसिते बड़ी शुक्लाश्वे दर्पणे घटे—मेदि०); चरक=श्वेतकुष्ठ < चक्र (हिं० श० सा०)]।

चरका—(सं०) (१) सफेद रंग का मवेशी। मवेशी का सफेद रंग। (२) बैल-गाय आदि का रंग-विशेष। यह रंग कुछ-कुछ काला और सफेद होता है। (मुं०-१)। (३) धान का एक रोग-विशेष (पाय)।

[चरक+आ (प्र०) < चरक < कर्क=उजला घोड़ा वा <चक्र—(?)]।

चरको—(सं०) उजला मवेशी; मवेशी का उजला-काला रंग (द० भाग०)। दे०—चरका।

[चरक+ओ (अ का 'ओ' ध्वनि-सा उच्चा०) मिला०—चरपक]।

चरख—(सं०) छोटी चर्खी। दे०—अंटी।

[चर्ख (फा०)=पहिए की तरह घूमनेवाली वस्तु; चरखा। मिला०—चराक्ष < चर+अक्ष=घूमती हुई धुरीवाला, वा चक्र-]।

चरखा—(सं०) रस्सी ऐंठने की घिरनी। पर्या०—चरखी।

[< चर्ख (फा०), वा < चक्र (?)]।

चरखा–(सं०) सूत कातने का प्रसिद्ध साधन-विशेष, जिसमें एक धुरी पर दो चक्के लगे होते हैं। पर्या०—रहठा (शाहा०), चरखा (द० पू०)।

[चर्ख (फा०)। मिला०—चराक्ष = घूमनेवाली धुरीवाला; चक्र]।

चरखी—(सं०) (१) रस्सी ऐंठने की घिरनी। दे०—चरख। (२) वह वस्तु, जिससे रुई औटकर उसका बीज निकाला जाता है।

[चरख + ई < (अल्पा० प्र०), मिला०—चरख]।

चरगोरी—(सं०) वह हेंगा, जिसे चार बैल खींचते हैं (मै०)। दे०—चौगोड़ा।

[चर+गोरी, चर> चार <चतुर्; गोर+ई (प्र०) < गोरा (बिहा०)=व्यक्ति; यथा:—एक गोरा; एक गोड़ा, दो गोड़ा। गोरी < गोरू < गोरूप, वा < गोडक-]।

चरचसी—(सं०) (१) जमीन की चौथी जोत, चौथी चास। (२) वह जमीन, जिसमें चौथी चास की जाय (शाहा०, गया, द०, भाग०)। दे०—चौनार।

[चर+चसी=चार+चास+ई (प्र०)]।

चरन—(१) (सं०) मिट्टी का बना और धूप में सुखाया हुआ लंबा नाद, जो मवेशियों के चारा खिलाने के काम आता है। आजकल यह ईंट-सीमेंट से भी बनता है। (शाहा०)। पर्या०—चरनी (शाहा०), गोरी (गया), गोंडी (द० भाग०)।(२) पैर, चरण।

[< चरन (क्रि०—बिहा०), चरना (हिं०) < √चर् (गतिभक्षणयोः)]।

चरनी—(सं०) चारा खिलाने के लिए मिट्टी का बना धूप में सुखाया हुआ लंबा नाद (शाहा०)। दे०—चरन।

[चरन+ई (प्र०), मिला०—चरन]।

चरपतिया—(सं०) (१) कपास या किसी दूसरी वस्तु के बीज के अंकुर की तीसरी स्थिति, जिसमें चार पत्ते निकलते हैं। पहले बीज का अंकुर फूटता है, तत्पश्चात् उसमें दो पत्ते निकलते हैं। यह दूसरी स्थिति होती है और चरपतिया के समय तीसरी स्थिति होती है। दे०—चौपतिया। (२) चार पत्तोंवाला अंकुर। (वि०) चार पत्तों से युक्त।

[चर+पतिया < चार + पत्ता+इया, चार <चतुर् (चत्वारः, चत्वारि, चतस्रः); पत्ता <पत्रक-]।

चरपतियो—(सं०) (१) कपास या किसी दूसरी वस्तु के अंकुर की तीसरी स्थिति, जिसमें चार पत्ते निकलते हैं (द० भाग०)। दे०—चौपतिया। (२) चार पत्तोंवाला अंकुर। (वि०) चार पत्तों से युक्त।

[चर + पतियो < चार + पत्ता + इयो (प्र०) < चतुष्पत्रित]।

चरबरधा—(सं०) (१) हल जोतने या गाड़ी चलाने में एक साथ प्रयुक्त चार बैल, जिनमें से दो काम करते हैं और दो विश्राम। दे०—चौबर। (२) चार बैलों से चलनेवाला हेंगा।



[चर+बरधा < चार+बरद, चार < चतुर्, बरद < बलद-; बलीवर्द-]।

चरलट्टी कुँइयाँ—(सं०) वह कुआँ, जिसमें चार लाठे चलाये जाते हैं (पट०-१)।

चरवाह्—(सं०) मवेशियों को चरानेवाला मनुष्य। पर्या०—चरवाहा, गोरखिया, गैवाइ (उ० पू० मै०)। चरवाही, चराई (सं०) =चरवाहे को दी जानेवाली मजदूरी।

[चर+वाह (प्र०) वा वाह<√वह् (प्रापणे); चर< चरन <√ चर्। चरवाहा (हि०); चर्वाहा (ने०)]।

चरवाहा—(सं०) मवेशियों को चरानेवाला मनुष्य। दे०—चरवाह।

[चर + वाहा (प्र०) अथवा <√वह् (=प्रापणे), चर < चरन<√चर्]।

चरवाहा—(सं०) जोते जानेवाले खेत में हल में चलनेवाले बैलों को अवकाश देने के लिए रखे गये अतिरिक्त बैलों को देखनेवाला लड़का (यत्र-तत्र)। दे०—अनवाह।

[चर+वाहा (प्र०)]।

चरवाही—(सं०) चरवाहे को दी जानेवाली मजदूरी। दे०—चरवाहा। पर्या०—चराई।

[चरवाह+ई (प्र०) <चरवाह=चर+वाह (प्र०) वा <√ वह् (प्रापणे); चर<चरन<√ चर्]।

चरस—(सं०) (१) गाँजे के पौधे के फूल और पत्ती से निकला हुआ एक प्रकार का गोंद; जो गाँजे की तरह पिया जाता है। (२) चमार का एक हथियार।

[चरस<चर्म; पहले चरस मध्य एशिया से चमड़े के थैलों या छोटे-छोटे चरसों में भरकर आता था। इसी से इसका नाम चरस पड़ गया—(हि० श० सा०)। चरस (बं०, ओ०, हि०, पं०, ने०, गु०, मरा०); चरसु (सिं०); चर्म (फा०)—संभ० भारत से उधार लिया गया शब्द—नेपा०]।

चरसेरा—(सं०) चार सेर की तौल, चार सेर का बटखरा। पर्या०—चरसेरी।

[चर+सेर+आ (प्र०)< चार+सेर, चार < चतुर्; सेर < सेटक (?)]।

चरसेरी—(सं०) चार सेर की तौल; चार सेर का बटखरा। दे०—चरसेरा।

[चरसेर + ई (प्र०) < चार+सेर; चार < चतुर् (चत्वारः, चत्वारि, चतस्रः) सेर < सेटक-(?)]।

चरांट—(सं०) चरागाह के लिए छोड़ी गई जमीन (गया)। दे०—परती। पर्या०—चरांत (शाहा०)।

[चर+आंट < चर+अन्त (?), चरान (हि०)]

चरांत—(सं०) (शाहा०)। दे०—चरांत।

[चर + आंत < चर < चरन <√चर् + आंत < अन्त (?)]।

चराई—(सं०) (१) चरवाहे को दी जानेवाली मजदूरी। दे०—चरवाहा। (२) चराने का काम। (३) वह खेत या मैदान, जिसमें गायें चरती हैं (द० प० शाहा०)। दे०—चरांट, परती। पर्या०—उखर (शाहा०), उबेरा (द० मुं०), बाध (गया), बहरसी (पट०), बहियार; आर (द० भाग०)। (४) गोचर भूमि में चराने का शुल्क (गाइड०)।

[चर + आई < चर< चरन <√ चर्]।

चराउर—(सं०) पशु-पक्षियों के अपने आहार की खोज में बाहर निकलने की प्रक्रिया (चंपा०-१)।

[चर + आउर (प्र०) < चर < चरन (बिहा०); चरना (हि०)<√चर् (गतिभक्षणयोः) या <चरावर्त <चर+आवर्त-(?)]।

चरागाह—(सं०) मवेशी चराने के लिए परती छोड़ी हुई जमीन (सा०-१)।

[चरा (हि०)+गाह (फा०)]।

चटी—(सं०) (१) एक प्रकार की घास, जिसे पशु खाते हैं (पं०)। पर्या०—चोरांत (गया, द० प० शाहा०), चोरांता (पट०), चुड़गुड़ो (द० भाग०), चुनड़ा (द० मुं०)। (२) मवेशियों के चरने की घास (चंपा०—१)। (३) पशुओं का खाद्य, घास, भूसा आदि (उ० पू० मै०)। दे०—चारा।

[चर+ई (प्र०) < चर्द < √चर्; मिला०—चर, चरी (संता०)=चारा]।

चरुआ—(सं०) (१) अन्न रखने के काम में आनेवाला एक प्रकार का मिट्टी का बड़ा बरतन (द०)। दे०—चरुई। (२) भोजन पकाने का बड़ा बरतन, हंडा। (३) अन्न रखने का मिट्टी का बरतन। पर्या०—चरुई (गं० द०)।

[चरु+आ < चरु, चरुक-। चरुव (बि०), चरुआ+ई (अल्पा० प्र०)=चरुई]।

चरुई—(सं०) अन्न रखने का मिट्टी का बरतन (गं० द०)। दे०—चरुआ।

[चरु+ई (अल्पा० प्र०) < चरु-, चरुक-]।

चरकांटी—(सं०) एक प्रकार की घास (दर०—१)।

[देशी, मिला०—छड़ (संता०) = छुट्टी, अवकाश। छड़कर, देड़कोर—(संता०)=समय काटना, बरबाद करना। चरि (ने०)=एक प्रकार की लता]।

चरुरमना—(सं०) चरागाह की जमीन (गाढ़इ०)।

चरैया—(सं०) गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं का बड़ा खुर, जो एक ऐब समझा जाता है; क्योंकि उससे उन्हें चलने में कठिनाई होती है (द० पू०)।

[चरैया < (?)]।

चरैल चूल्हा—(सं०) चार आँखी (ऊपर का मुंह)-वाला चूल्हा (द० प० शाहा०)। दे०—आँखी।

[चरैल + चूल्हा; चरैल < चार + एल (प्र०), चूल्हा—(संस्कृ०)]।

चलउंसी—(सं०) आटा या सत्तू आदि चूर्ण वस्तुओं को चालने के बाद चलनी में रह जानेवाला अन्न का मोटा अंश और भूसा (चंपा०)। दे०—चलौसी।

[चल+उंसी < चल+अंश (?)]।

चलना—(सं०) (१) अन्न साफ करने तथा छानने की एक प्रकार की छलनी। पर्या०—झरदा (गं० द०); तरछी (चंपा०); गुरचलना (उ० पू० मै०)। (२) नील के पानी को निकालने के लिए नीचे रखा हुआ छेदोंवाला तख्ता। दे०—डाला। (३) कुआं खोदने के समय भीतर से मिट्टी को बाहर निकालने का पात्र (शाहा०, सा०, द० मै०)। पर्या०—तरछी (चंपा०), छीटी (द० पू० मै०, उ० पू० मै०), कठुली, पथिया (उ० पू० मै०), कठवत (द० पू० मै०, शाहा०), तगाड़ी (द० पू० मै०), गैता, खंती (गं० द० कहीं-कहीं), छीटा (द० मुं०)।

[चलन+आ < चलन < चलनी < चालनी < चालि (ण्यन्त०) < √चल्]

चलनी—(सं०) (१) महीन छेदोंवाली बाँस की चलनी। इससे कोई भी अन्न चाला जा सकता है (चंपा०-१)। (२) आटा से चोकर आदि निकालने के लिए बना हुआ छेदोंवाला पात्र। यह बाँस की पतली सीकियों, तार या छेदवाले टिन से बनता है। दे०—चलनी।

[चलन+ई (प्र०) < चालनी; चालनम्, चालनी (संस्कृ०); चालनी (पा०); चालनी (प्रा०) चालनी (हिं०); चालन, चालनि (बं०); चालणि (ओ०); चालणी (गु०); चालण, चालणे (मरा०); सालनी (अस०); चालन (कश्म०), चाल्नु, चाल्नि (ने०)]।

चलल—(क्रि०) चलना, घूमना।

[चल+ल (प्र०) < चाल < √ चल् (> चलति (पा०); चलाइ (प्रा०); चलना (हिं०); चल्नु (ने०); चलुन (कश्म०)—उड़ना; चलणो (कुमा०); चला (बं०); चलिबा (ओ०); चलणा (पं०); (गु०); चालणे (मरा०)=पिछलना; सलिबा (अस०); सलनु हलनु (सिं०)। टर्नर महोदय के अनुसार संस्कृत की पाँच क्रियाओं से इस क्रिया का संबंध संभव है। वे हैं—(१) चलति (संस्कृ०); चलति (पा०), चलइ (प्रा०)। (२) चलति=काँपता है। यह पहले की 'चलति' से भिन्न है। चलति (पा०), चलइ (प्र०)। (३) चालयति—चलाता है, घुमाता है। चालेति (पा०), चालेइ (प्रा०)। (४) चालयति (दूसरी 'चलति' का प्रे०)=कँपाता है। चालेति (पा०) चालेइ (प्रा०), चाल्नु (ने०)। (५) चल्यति (संस्कृ०), चल्लइ (प्रा०), चल्वंस (रोमा०)—घूमता है। सलिबा (अस०), सलनु; हलनु (सिंह०)। क्रियाओं का 'स' और 'ह' संभवतः <√ सर्, < सृ का है न कि <√ चल् का]।

चलवुंसी—(सं०) दे०—चलौसी।

[चल+वुंसी < चल+अंश (?)। यहाँ 'व' की श्रुति है। ऐसे शब्दों में प्रायः तीन उच्चारण बिहारी भाषाओं में हैं—चल उंसी, चलवुंसी, चलौंसी। वा < चल—बुस (=भूसा) (?)]।

चलसा—(सं०) चालीस गाही (४०×५=२००)। ऊख के बीज की एक गिनती (पट०-१)।

चलाएल—(क्रि०) (१) बैल आदि का चलाना, जोतना (२) मजदूरों को काम पर लगाना। (३) जाँता,

लाठा आदि चलाना। चलना—प्रे०। (यौ०)—हर चलाएल=हल चलाना, हल जोतना। दे०—जोतब। पर्या०—चलावल।

[चल+आएल (प्र०) < चलब का प्रे० < चालि (प्रे० = चालयति) < √चल्; चलाना (हिं०); चलाउनु (ने०); चालणो (कुमा०); चलाव्युं (गु०); चलाविणे, चालाविणें (मरा०); चालान (बं०); सलाइबा (असं०); चलाइबा (ओ०); चलाउणा (पं०)]।

चलावल—(क्रि०) (१) बैल आदि का चलाना, जोतने के लिए प्रेरित करना। (२) जन-बनिहारों (मजदूरों) को काम पर लगाना। (३) जाँता, लाठा आदि चलाना। (४) किसी वस्तु को चलाना, प्रेरित करना।

[चल+आवल (प्र०) < चलल < √चल् दे०—चलाएल]।

चलिता—(सं०) एक प्रकार का फल (दर०-१)।

[देशी, चल्ता (ने०)=एक प्रकार का वृक्ष; जिसका फल खट्टा होता है। चालता, चल्ते (बं०)]।

चलौसी—(सं०) (१) अनाज के कूटने-पीसने के बाद चालकर निकाला गया मोटा अंश (पट०, प०)। दे०—चोकर। (२) सत्तू को चलनी में चालने पर उसका का वह मोटा अंश, जो चलनी में रह जाता है (चंपा-१)।

[चल+औसी < चल+अंश; मिला०—चलभुंसी < चल+भुस (=भूसा)-(?), चलनौस (हिं०)]

चहू—(सं०) एक प्रकार का पौधा (दर०-१)।

[देशी]।

चहका—(सं०) नदी पर का पुल (पट०-१)।

चहबच्चा—(सं०) (१) पानी का छोटा हौज। (चंपा०-१)। (२) ऊख का रस रखने का कुंड (गया)। दे०—हौद।

[चह+बच्चा < चाह (फा०)=कुआँ+बच्चा (हिं०)]।

चहल—(सं०) वह खेत, जिसका कीचड़ कभी नहीं सूखता और जो बिना जोते ही आबाद किया जाता है। पर्या०—कदोड़।

[चहल (हिं०—अनु०) = कीचड़; (हिं० श० सा०); चहाल, चहालो; चाहालो (ने०) = जल-विलग्न; चलाइ; चाहाल (ने०) = बाद, जलवृद्धि; पोखरी। मिला०—चाह (फा०) = कुआँ; चाही (फा०—कुएँ के पानी से सींची जानेवाली जमीन]।

चाँग—(सं०) (१) काफी बड़ा टोकरा, जो चार टोकरी के बराबर होता है और जिसमें भूसा ढोया जाता है। (२) भूसा आदि रखने के लिए बड़ा टोकरा; जिसमें चार टोकरी भूसा आदि रखे जा सकते हैं (द० पू० मै०)। पर्या०—टँगौर=चांग जैसा बड़ा टोकरा, जो रहर के डंठल से बने होने के कारण खड़ा होता है (द० पू० मै०)।

[चा + अंग < चार + अंग < चतुरंग-(?), < चाङ्गेरी; चाङ्गेरी; चङ्गेरिका=टोकड़ी (मो० वि० डि०)। मिला०—चाङ्ग=दाँतों की स्वच्छता या सुन्दरता (मो० वि० डि०)]।

(३) छींट (बावग) कर बोया जानेवाला एक प्रकार का धान (द० भाग०)।

[देशी; मिला०—चङ्ग=सुन्दरता, निर्णायक—(मो० वि० डि०); चाँगे (ने०)=एक प्रकार का खिलनेवाला छोटा पौधा। चौगुन (कश्म०) = एक प्रकार की औषधीय वनस्पति]।

चाँच—(सं०) (१) वह खेत, जिसे पुनः उर्वर बनाने के लिए कुछ दिनों तक आबाद नहीं किया जाता है। (द० भाग०)। दे०—परती। (२) बाँस की फट्टियों से बनाया गया मचान या पटरा। यह एक ही तरह की फट्टियों को नीचे दोनों तरफ दो बाँस के टुकड़े या पतली दो-तीन इंच मोटी लकड़ी के साथ कील से जड़कर या रस्सी से बाँधकर बनाया जाता है। पर्या०—चाँचर।

[< चञ्चा (संस्कृ०)=बेंतों या फट्टियों की बनी टोकरी या कोई दूसरी वस्तु। चाँचर; चाँचरि (ने०)= एक प्रकार का पक्षी]।

चाँचर—(सं०) (१) बाँस की फट्टियों से बनाया गया मचान या पटरा। दे०—चाँच।

[चाँचर < चञ्चा (?)। या < चच्चर (प्रा०) < चत्वर-(संस्कृ०)। < चच्चरी (प्रा०) < चर्चरी (संस्कृ०)]।

चाँचवाला घर—(सं०) बाग, जंगल आदि में रहने के लिए बनाई गई मँड़ई (द० भाग०)। दे०—पाम्हा।

[चाँच+वाला (प्र०)+घर; मिला०—चचरा < चञ्चा, < चच्चर < चत्वर-]।

चाँछी—(सं०) पकने और सूखने के पहले रबी की फसल को काटकर बनाया गया पशुओं का चारा (उ० पू० मै०)।

[देशी, संभ०—< चाँछल (बिहा० क्रि०=छिलना) < चच्छ (प्रा०) < √तक्ष् (संस्कृ०)]।

चाँछल—(क्रि०) (१) तेज हथियार से लकड़ी आदि किसी वस्तु को ऊपर-ऊपर से छीलना। (२) बाँस की करची (कमची) या किसी वृक्ष-पौधे आदि की टहनियों को काटकर दूर करना।

[चाँड़+ल (प्र०) < चाँड़ < चण्ड (देशी—प्रा०), √चड्]।

चाँड़—(सं०) (१) टूटे छप्पर, भारावनत वृक्ष की शाखाओं या किसी दूसरी वस्तु के सहारे के लिए लगाया जानेवाला खंभा। (२) दो ओर से बड़ी-बड़ी रस्सियों से बँधा हुआ लटकता बरतन, जिसे दो मनुष्य पकड़कर गड्ढे आदि से पानी निकालकर खींचते हैं (मग०, पू०-बिहा०, पट०-१)। दे०—सैर। चँड़िवाह—(वि०) = चाँड़ चलानेवाला मनुष्य। चाँड़ चलाएल—(क्रि०) चाँड़ चलाना। चड़ियार—(सं०) वह गड्ढा; जहाँ से चाँड़ के द्वारा पानी निकाला जाता है।

[चाँड़ < चण्ड (?) या < चार < √चट्; मिला०—चडुक=(तरल पदार्थ को उठाने का पात्र (मो० वि० हि०), या < चरु; चरक=पात्रविशेष; जिसमें चरु पकाया जाता है]।

(३) विभिन्न प्रकार के अनाज को रखने के लिए सात या उससे अधिक भागों में बँटा मिट्टी का बरतन (द० मुं०)। दे०—सतघरवा।

[< चडुक=किसी तरल पदार्थ को उठाने का पात्र चडुल=चंचल। चरु, चरुक = पात्रविशेष (मो० वि० हि०)]।

चाँड़ चलाएल—(क्रि०) चाँड़ चलाकर खेतों को सींचना। दे०—चाँड़।

चाँड़ल—(क्रि०) गरम लोहे को पीटकर बढ़ाना या लंबा करना (बिहु०)।

चाँतल—(क्रि०) किसी वस्तु को किसी दूसरी भारी वस्तु से दबाना। दबाकर रखना। पर्या०—चाँपल।

[चाँत+ल (प्र०) < चाँत < चत्त < √चत्=छिपाना। मिला०—चत्त (देशी)=परिखचित। चत्ता, चर्तुं; छर्तुं (गु०)=चित्त पड़ना]।

चाँदिल—(सं०) (१) अच्छी जमीन के बीच की ऊसर जमीन (शाहा०)। दे०—चाँप। (२) गंजा।

[चाँदिल < चाँदिल (बिहा०) = खल्वाट, गंजा < चन्द्रिल (?)]।

चाँप—(सं०) अच्छी जमीन के बीच की ऊसर जमीन (द० प० शाहा०)। पर्या०—चाँदिल (शाहा०)।

[चाँप < चप्प < √ चप्प् (देशी क्रि०); चाँप (हि०—दबाव, बंदूक का घोड़ा); चाँप (नें०)=बंदूक का घोड़ा; चपिड़ी (सिं०)=उत्तोलन-दंड; चाँपट (गु०)=दबाव; बंदूक का घोड़ा, चाप (मरा०)=बंदूक का घोड़ा; चाँप (मरा०)=स्प्रिंग, कमानी]।

चाँपल—(क्रि०) चाँपना, किसी भारी वस्तु से किसी दूसरी वस्तु को दबाना। दे०—चाँतल।

[चाँप+ल (प्र०) < चप्प (क्रि०—देशी)=दबाना। मिला०—चप्प—(संस्कृ०)=यज्ञीय पात्र। √चम्प्(=कँपाना), चाँपना (हि०)]।

चाँपी—(सं०) दो बस्तियों के बीच की निर्जन भूमि (चंपा-१)।

[मिला०—चाँपल]।

चाउर—(सं०) कूटे हुए धान का दाना; जिससे भूसी आदि निकाल दिये जाते हैं, चावल।

टि०—बिहार में चावल दो प्रकार के होते हैं—एक है अरवा; जो धान को बिना उबाले सुखाकर कूटा जाता है और दूसरा उसना; जो धान उबालने के बाद सुखाकर कूटा जाता है। अरवा अधिक पवित्र माना जाता है और देवकार्य में इसी का प्रयोग किया जाता है, किंतु उसना हलका और सुपच माना जाता है। पर्या०—चावल (पट०)।

[चाउल (देशी प्रा०); तण्डुल—(संस्कृ०); चावल (हि०); चाँवल; चामल (नें०); चाउल (कुमा०); साउल (असा०); चाउल (ओ०); चावल (पं०, ल०); चाँउल (सिं०); चावल (गु०, मरा०); तोमुल (करमी०); तुनोल (दरदी); < तण्डुल (संस्कृ०); तंडुल (पा०, प्रा०)। संम०—चाउर < चाउल < चंडुल < तण्डुल < √ तड् = (तण्ड्यन्ते—कण्ड्यन्ते=आहन्यन्ते इति तण्डुलाः]।

चाक—(सं०) (१) बरतन बनाने का कुम्हारों का चक्राकार उपकरण, चक्का। (२) अन्न रखने की कोठी का ऊपरी ढक्कन (पट०-१)।

[चाक < चक्र-(संस्कृ०), चक्क (पा०, प्रा०), चरयुस (करम०); चारकु (शिना०); चक्की (पहा०)=जाँता। चाको (कुमा०)=जाँता। चाक (कुमा०)=केले का घौद; साका (असा०)=पहिया; साक (असा०); चाक (बं०)=चाक, मधु का छत्ता। चाका (बं०)=गोल परिधि या वस्तु; चक (ओ०)=पहिया; चका (ओ०)=गोल; चाक (हि०) = पहिया, चाका=गोल; चक्र चक्क, चक्की (पं०); चक्कर (ल०); चकु (सिं०), चाक (गु०), चाकूँ (गु०)=मोटी गोल परिधि; चाक (मरा०); सक (सिंह०)]।

चाकर—(सं०) चाकरी करनेवाला, नौकर। (वि०) चौड़ी वस्तु।

[चाकर (हि०, फा०)]

चाकरान—(सं०) सभी प्रकार की नौकरी (गाइड०)।

चाकरी—(सं०) नौकरी।

चाकल—(क्रि०) (१) काटना। (२) अनाज की ढेरी को डगरे के सहारे गोलाकार बनाना (चंपा०-१)।

[चा+कल<चार+अंक (हि० श०सा०)। < चक्र <√चक् (?) या < चाक < चक्र]।

चाखल—(क्रि०) किसी वस्तु को चखना ; स्वाद लेना। पर्या०—चीखल। चखना, चिखना (सं०)=ताड़ी पीने के समय साथ में खाई जानेवाली घुघनी आदि।

[चाख+ल (प्र०) < चाख < चक्ष <√चक्ष् या <√ चष् (=खाना) > (चक्षिति (संस्कृ०) ; चक्खई (प्रा०) ; चाखना (हि०) ; चाख्नु (नें०) ; चाख्णो (कुमा०) : चक्खणा (पं०) ; चक्खण (ल०) ; चाखा (बं०) ; चाखि (ओ०); चाखवुं (गु०); चाखणे (मरा०); साखिबा (असं०)। मिला०—चेशीदन (फा०); चषति (संस्कृ०)=खाता है। चशीटन (पहा०)=सूचित करता है <√ चष्]।

चाटल—(क्रि०) चाटना। तरल पदार्थ को चाटकर खाना।

[चाट + ल (प्र०) < चाट <√चट्ट् (प्रा०) (=चट्टे है), चटेल (रोमा०) ; चाटणो (कुमा०) ; चाटा (बं०) ; चाटिबा (ओ०) ; चाटना (हि०) ; चाटणा (पं०) ; चाट्नु (नें०) ; चट्टन (ल०), चट्टु (सिं०) ; चाटवुं (गु०) ; चाटणे (मरा०) ; < चट, < चट्ट]।

चानर—(सं०) खेत सींचने के लिए प्रयुक्त बाँस की आयताकार टोकरी (गाइड०)।

चापुट—(वि०) चिपटा। पर्या०—चापुत।

[< चिपिट (संस्कृ०), चिपटा (हि०)]।

चापुत—(वि०) चिपटा। दे०—चापुट।

[< चिपिट (संस्कृ०) (?); चिपिटा (हि०)]।

चाबुक—(सं०) मवेशियों के हाँकने का पैना या छड़ी, जिसके छोर पर रस्सी या चाम का लंबा गुच्छा लटकता रहता है (पट०-१, अन्यत्र)।

चाभ—(सं०) काफी मोटा और खोखला विशेष प्रकार का बाँस (पट०-१)।

चाभल—(क्रि०) चबाना, खाना, स्वाद लेकर चबाने की क्रिया। पर्या०—चबायल, चबावल।

[चाभ+ल (प्र०) < चाभ < चर्व <√ चर्व्, > चर्वति, चर्वयति); चव्वइ (प्रा०), चबाना (हि०) ; चबाउनु ; चपाउनु (नें०) ; चाबणो (कुमा०) ; चबाइबा (असं०) ; चबान (बं०) ; चबाइ (ओ०) ; चबाणा (पं०) ; चब्बण (ल०) ; चबाइर (सिं०) ; चाववुं (गु०) चावणे (मरा०)]।

चाभी—(सं०) (१) बैलगाड़ी की धुरी में ठोकी हुई कील (पट०-१)। (२) ताला खोलने की कुंजी।

चाभुक—(सं०) (भाग०-१)। दे०—चाबुक।

चाम—(सं०) चमड़ा, खाल। पर्या०—चमड़ा, चमड़ी, खाल, खलड़ी।

[चाम < चर्मन् (संस्कृ०) ; चम्म (प्रा०); चाम, चमड़ा (हि०); चाम, चमड़ा (बं०); चम (ओ०) ; चम्म, चमड़ा (पं०, ल०) ; चमु, चमिड़ी (सिं०) ; चाम, चामड़ु (गु०) ; चाम, चामड़े (मरा०) ; सान (असं०) ; सम (सिंह०); चम (काश्मी०); चम (करम०); चम (दरदी) ; चाम ; चम्म (नें०)]।

चारचास—(सं०) (१) जमीन की चौथी जोत ; चौथी चास। (२) वह जमीन ; जिसमें चौथी चास की गई हो। दे०—चौसार।

[चार+चास (देशी)]।

चारा—(सं०) (१) घास, भूसा ; पुआल आदि, जो पशुओं के खाद्य हैं। (२) हाथी का खाद्य—पीपल या बड़ की टहनी। दे०—चरो। (३) पशुओं का घास आदि खाद्य। पर्या०—चरी (उ० पू० मैं०)। (४) एक प्रकार का कीड़ा, केंचुआ (चंपा०-१)।

[चारा < चार < चर्वक ; चारक (मिला०—चारयति = चराता है।) चारा (हि०); चारो (नें०) ; चारो (कुमा०) ; चारा (बं०) ; चरा (ओ०) ; चारो (गु०, सिं०) ; चारा (मरा०) ; चरो (संता०)]।

चालन—(सं०) प्रायः माघ महीने में की जानेवाली ऊख के खेत की पहली कोड़नी (कोड़ाई) (पट०)। दे०—अँधेरी कोरन।

[चाल+न (प्र०) < चालन <√ चल्]।

चालल—(क्रि०) (१) अन्न चालना। सत्तू, आटा आदि का चालना। (२) अल्हुआ (शकरकंद), आलू आदि कोड़ लेने के बाद खेत में छूटे हुए आलू आदि को कुदाल से थोड़ा-थोड़ा पुनः कोड़कर निकालना।

[चाल+ल (प्र०) < चाल <√ चल् > चालयति=चालता है ; चालना (हि०) ; चाल्नु (नें०) ; चालणो (कुमा०) ; चालवुं (गु०); चालणे (मरा०) चाला (बं०) चालिबा (असं०)]।

चालसा—(सं०) अन्न तौलनेवाले पुरुष का तौलने का शुल्क (गया, द० मुं०)। दे०—हटवाई।

[चाल+सा (प्र०)< चाल (देशी) (?) चालिस]।

चालान—(सं०) (१) वह पुर्जी, जो मिलफार्म (मिलों के अपने खेत) से ऊख भेजने के समय ऊख की तौल लिखकर गाड़ीवान या ट्रक-ड्राइवर को दे दी जाती है और (चीनी) मिल में पुनः ऊख तौलकर इस पुर्जी से उसका मिलान कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया से बीच में ऊख गायब होने की आशंका नहीं रहती है (बिह०)। (२) चीनी मिल में ऊख भरी गाड़ी का प्रवेश-पत्र। (३) बीजक।

चाव खइम—(सं०) कच्चा कुआँ (गाइड०)।

चाव पोख्ता—(सं०) ईंटों का बना पक्का कुआँ, इनारा (गाइड०)।

चावल—(सं०) कूटे हुए धान का दाना, जिसकी भूसी आदि निकाल दी जाती है (पट०)। दे०—चाउर।
[मिला० चाउर]।

चास—(सं०) (१) जमीन की एक बार की जोत। पर्या०—बाँह; (गया, प०), चास, चासि (दर०, पूर्णि०)। **एक बाँह**-पहली जुताई; **दो बाँह**-दूसरी जुताई। **पहिला चास**-पहली जुताई। **एक चास**-एक जुताई; जमीन की क्रमिक जुताई। **दू चास** दो-जुताई; जमीन की क्रमिक जुताई, **तीन चास**-तीन जुताई, जमीन की क्रमिक जुताई। **चार चास** (१)-जमीन की चौथी जुताई। चौथी चास (२)-वह जमीन, जिसमें चौथी चास की जाती है। **पान चास**-(१) जमीन की पाँचवीं जुताई, पाँचवीं चास (२) वह जमीन, जिसमें पाँचवीं चास की गई हो।

सौचास गंडा—(लोको०) ऊख के लिए खेत का सौ चास करना आवश्यक है।

पचास चास गंडा—गेहूँ के लिए खेत का पचास चास करना आवश्यक है।

तेकर आधा मोरी—उसका आधा (२५) चास करना धान के लिए उचित है।

तेकर आधा तोरी—और उसका आधा (१२) चास तेलहन के लिए आवश्यक है (गया)।
(२) खेत का एक बार आड़े ही जोतना (चंपा०-१)।
[देशी, संम० < कर्ष; चास (देशी)=(खेती, हल-विदारित भूमिरेखा (पा० स० म०)]।

चासनी—(सं०) (१) एक निश्चित सीमा तक आग पर पकाया हुआ ऊख का गाढ़ा रस, जिसमें रस का तार निकलने लगता है। इससे अधिक गाढ़ा होने पर रस गुड़ बन जाता है और उसके बाद चीनी बनती है (बिह०)। (२) चीनी या गुड़ को पकाकर बनाया गया रस।

चासल—(सं०) खेत को एक बार सिर्फ आड़े जोतना (चंपा०-१)।
[चास+ल (प्र०)। मिला०—चास]।

चासि—(सं०) (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—चास।

चासी—(सं०) खेतिहर, किसान (मुं०-१)
[चास+ई (प्र०) < चास (देशी) टि०—उड़ीसा की एक जाति को, जो खेती पर निर्वाह करती है, 'चास' कहते हैं (हिं० श० सा०)]।

चिचोर—(सं०) पानी में उपजनेवाली एक प्रकार की घास (चंपा०-१)।
[देशी]।

चिउरा—(सं०) धान को उबालकर और एक विशेष रीति से भूनकर गहरे ओखल में बिना सामवाले मूसल से कूटकर बनाया गया चिपटा खाद्य (चंपा०)। पर्या०—चूड़ा।
[चिउरा < चिपिटक; (संस्कृ०); चिपिटो (पा०)= चिपटा, चिविड, चिविड्ड, चिभिड्ड (प्रा): चिउरा, चिउड़ा, चूरा (हिं०); च्यूरा (कुमा०); चिउरा (ने०); चिरा (बँ०); सिरा (असा०); चिवडा (मरा०); चवडणे (मरा०)=दबाना। टर्नर के अनुसार इन शब्दों की व्युत्पत्ति < *चिप है। चिपा (बँ०)=दबाना; चिपिबा (ओ०); चिपनु (सिं०), चिपवुँ (गु०); चिपणे (मरा०); < *चिप्प, जैसा कि 'चिप्पियमाणो' (पा०) में है। चर्पटः (संस्कृ०) = चिसपड़ा—नेपा०]।

चिउरी—(सं०) अधपका भूना हुआ जौ (उ० प०)। पर्या०—चौरी (द० मैं०); फरही (पू० मैं०, शाहा०), फरही (पट० गया०)।
[चिउर+ई (प्र०) <चिउर< चिउरा <चिपिट। दे०—चिउरा]।

चिकठ—(सं०) (१) एक प्रकार की नकदी काश्तकारी, भूमि, जो शिकमी से भिन्न होती है। नकदी दो प्रकार की होती है, शिकमी या सिकमी और चिकठ या चकठ। सिकमी के लिए दे०—शिकमा या सिकमी। पर्या०—चकठ।

टि०—चिकठ भूमि अस्थायी कर-प्रबंध के अंदर आती है। इसमें भूमि कृषि-योग्य होने पर भी अकृष्ट (बिना जोती-बोई) होती है। उस भूमि को किसी रैयत के हाथ कृषि-योग्य बनाने के लिए एक निश्चित अवधि तक एक निश्चित भूमिकर पर सौंप दिया जाता है। दोनों दलों के मध्य यह ठीका-जैसा होता है। कर बहुत साधारण रखा जाता है। यदि कोई व्यक्ति पूर्णतया लिखित पत्र के अनुसार उस भूमि को कृषि-योग्य बनाने में ध्यान नहीं देता, तो पुनः उससे वह भूमि लेकर दूसरे को दे दी जाती है और जबतक वह भूमि कृषि-योग्य नहीं होती, तबतक एक या अनेक के पास जाती रहती है। तदनंतर भावली या शिकमी के रूप में कर दी जाती है। यह चिकठ भूमि मौरूसी नहीं हो सकती और यह भूमि-कर, ठीका की अवधि समाप्त होने पर, घट-बढ़ भी सकता है।

हों, जेठुआ उपज में दूसरी उपज की अपेक्षा सवा रुपया प्रति बीघा अधिक भूमि-कर होता है।—(ग्रिय०—बि० पी० ला०, पृ० ३३१)।

[मिला०—चिक्कट (हिं०)]।

चिकनकौर—(सं०) थोड़ा खानेवाला पशु (द० मुं०)। दे०—निखोराई।

[चिकन+कौर; चिकन < चिकना (बिहा०); चिकना (हिं०); चिक्कण (संस्कृ०); चिक्कण, चिक्किण (प्रा०); कौर < कवल-]।

चिकनजिब्भो—(सं०) थोड़ा खानेवाला पशु (द० भाग०)। दे०—निखोराई।

[चिकन+जिब्भो < चिक्कण+जिह्व-(< जिह्वा)]

चिकना—(सं०) (१) एक प्रकार के प्रसिद्ध तेलहन के बीज, जिनसे तेल निकाला जाता है, अलसी। पर्या०—तीसी, तेलहन, तोरी। (२) जानवरों का एक रोग; जिससे वे पूँछ उठाये रहते हैं और निरंतर अपना सींग झाड़ते रहते हैं (पट०-१)। (३) तेल या घी (पट०-१)। (४) चाकलेट रंग का तिकोना लंबा तेलहन, अलसी। दे०—तीसी। (वि०) चिकना; स्निग्ध। चिकनाएल (क्रि०)=चिकनाना, मोटा-ताजा होना।

[< चिक्कण, संभ० अधिक चिकना होने के कारण 'चिकना' नाम पड़ा है]।

चिकनाएल—(क्रि०) चिकनाना, मोटा-ताजा होना। (वि०) चिकनाया हुआ। पर्या०—चिकनावल, चिकनायल, चिकनाओल।

[चिकना+आएल (प्र०) < चिकना < चिक्कण (संस्कृ०)-(?)]।

चिकनाओल—(क्रि०) दे०—चिकनाएल।

[चिकना+आओल (प्र०) <चिकना <चिक्कण-]।

चिकनायल—(क्रि०) दे०—चिकनाएल।

[चिकन+आयल < चिकना < चिक्कण-]।

चिकनावल—(क्रि०) दे०—चिकनाएल।

[चिक्कन+आवल (प्र०) > चिकना < चिक्कण-चिक्कण—]।

चिकनिया—(सं०) थोड़ा खानेवाला पशु (द० पू० मं०)। दे०—निखोराई।

[चिकना+इयाल (प्र०) <चिकना <चिक्कण-]।

चिकनी—(सं०) एक प्रकार का पशु-खाद्य, घास (द० प० शाहा०, गया)। दे०—चिकना।

चिकरल—(क्रि०) (१) हल्ला करना, किसी को संबोधित करके जोर से बुलाना। (२) भूख आदि लगने पर अकेले होने पर मवेशियों का बोलना।

[चिकर+ल (प्र०) < चिकर <चीत्कार < चीत (अनु०+कार < √कृ; चीक्कार,चिकरना (हिं०)]।

चिक्क—(सं०) मांस बेचनेवाली एक मुस्लिम जाति (चाप०)।

चिखुरनी—(सं०) हाथ से की जानेवाली घास आदि की सफाई। पर्या०—उखटनी (चंपा, मैं० पट०, गया, द० मुं०)। धकुरई (द०, भाग०), (शाहा०) में कोई विशेष नाम नहीं)। हाथ से निकाएल (मुहा०) हाथ से निकौनी करना। चिरखुराई—(सं०) सोहनी के लिए दी जानेवाली मजदूरी। दे०—सोहाई।

[चिखुरन+ई (प्र०) <चिखुरल (क्रिा०); चिखुरना (क्रि०)-(देशी०)-(हिं० सा०) संभ० √चखर या <चक्षुर् (वङ्गल०) < √क्षुर्=काटना, छिलना]।

चिखुरल—(क्रि०) खेत में से घास आदि का हाथ से निकालना या निकौनी करना, जिससे घास निकल आती है और मिट्टी नीचे रह जाती है (वि०)। निकौनी करके निकाली हुई घास आदि (सा० १)। उदा०—खाड़ा होख त० फोड़, बइठ त० चिखुर—खड़ा रहते हो, तो कोड़ो और बैठते हो, तो हाथ से निकौनी करो।

[चिखुर+ल (प्र०)< √चखर् (वङ्गल०), <√ क्षर् या √चुक्षुर् <√ क्षुर् = काटना, छिलना]।

चिखुराई—(सं०) खेत से घास-पात की सफाई के लिए दी जानेवाली मजदूरी (उ० प०)। दे०—सोहाइ।

[चिखुर् + आई (प्र०) < चिखुर; मिला—चिखुरनी]।

चिग्घार—(सं०) (१) हाथी का बोलना। (२) पीड़ा-जनित क्रंदन।

[चिग+घार < चीत्कार (?)]।

चिग्घारल—(क्रि०) चिग्घारना, पीड़ा से तड़पकर क्रंदन करना।

[चिग्घार+ल (प्र०) <चिग्घार <चीत्कार (?)]।

चिचहोर—(सं०) (१) धान के पौधे की वृद्धि को रोकनेवाली एक घास (पू०)। दे०—चिचोर। (२) एक एक पशु-खाद्य घास (पू०)। दे०—चिचोर।

[देशी]।

चिचिरा—(सं०) लता में फलनेवाला उजली धारी-वाला एक लंबा फल, जिसकी तरकारी बनती है। पर्या०—चिचुरा (गं० उ०), चैंता (पू० मैं० भाग०), चैंता (सा०)।



[चिचिंडा (हिं०); चिचिंडा, चिचिंगा (बँ०); चिचिंडो (सिं०); टरकाकडी; टरकाकड़ी, गोइारवल (मरा०); पंडोला, पंडोलां, पंडोलुं (गु०); पोटला काया, पोटल काया (ते०)]।

चिचुरा—(सं०) लता में फलनेवाला उजली धारीवाला एक लंबा फल, जिसकी तरकारी बनती है (सं० उ०, चंपा०—१)। दे०—चिचिरा।

[मिला०-चिचरा]।

चिचोर—(सं०) (१) धान के पौधे की वृद्धि को रोकनेवाली एक घास (गया)। पर्या०—चिचोरी (मै०), चिचहोर (पू०), चिचोरो (द० भाग०), लेंड़ई (उ० प०)। (२) एक पशु-खाद्य घास (गया)। पर्या०—चिचोरी (मै०), चिचहोर (पू०), चिचोरो (द० भाग०, मै०), लेंड़ई (उ० प०)। (३) पानी में होनेवाला एक फल। (४) पानी में उपजनेवाला एक कंद, जो खाने में मीठा लगता है (मुं०-१)।

[देशी, मिला०—चिचिण्ड—(संस्कृ०)=एक प्रकार की तरकारी]।

चिचोरी—(सं०) (१) धान के पौधे की वृद्धि को रोकनेवाली एक घास (मै०)। दे०—चिचोर। (२) एक पशु-खाद्य घास (मै०)।

[देशी]।

चिचोरो—(सं०) (१) धान के पौधे की वृद्धि को रोकनेवाली एक घास (द० भाग०)। दे०—चिचोर। (२) एक पशु-खाद्य घास (द० भाग०, मै०)। दे०—चिचोर।

[देशी]।

चिखी—(सं०) भतिया या बतिया। कद्दू आदि की आरंभिक फली।

चिट्ठुरा—(सं०) पोस्ते का बीज-कोष, जिसके भीतर दाना न लगा हो (गया)।

[< चटुल (=चंचल, सुंदर, कोमल—(मो० वि० डि०) < चटु+ल]।

चिट्ठुरा लागल—(मुहा०) चने आदि का गदराना (गया)। उदा०—चट्टा धरलस हय-बूँट गदरा रहा है (पट०)।

चितखोवा मयन—(सं०) वह बैल, जिसकी आँखें बड़ी-बड़ी और भयावनी हों (पट०-१)।

[चिट्ठुरा+लागल < चिट्ठुरा < चटुल, लाग+ल (प्र०) < लाग < √लग्]।

चितरसेली—(सं०) अजवाइन का एक भेद (मै०)। दे०—अजमोदा।

[चितर+सेली < चित्रशिरस्क (?)]।

चितरा—(सं०) चौदहवाँ नक्षत्र, चित्रा। यह नक्षत्र आश्विन मास में पड़ता है। इस समय में बरसा हुआ पानी खेती के लिए अच्छा नहीं माना जाता।

[< चित्रा]।

चितला—(सं०) चितकाबर देह का बैल (पट०-१)।

[चित+ला < चित्रल-]।

चितलाहा—(सं०) चितकबरे रंग की आँखोंवाला बैल (पट०-१)।

चिनवा—(सं०) एक पशु-खाद्य घास (पू० मै०)।

[चिन+वा (स्वा० प्र०) < चिन < चीनाख < चीन (?)]।

चिनियाँ—(सं०) (१) एक प्रकार का उजला, लंबा और कोमल ऊख। इसका रस और गुड़ अच्छा माना जाता है। (२) चीनी-जैसा मीठा पदार्थ। जैसा—चिनिया केला, चिनिया बदाम।

[चिनि+याँ (प्र०) < चीनी < चीन (?)]।

चिनिया-चिनियाँ—(सं०) दे०—चिनियाँ।

[चिनि+या (प्र०) < चीनी < चीन]

चिनिया केरा—(सं०) दे०—चिनिया केला।

[चिनिया + केरा ; चिनिया < चीन, केरा < केला < कदल- (=कदली)]।

चिनिया केला—(सं०) एक प्रकार का केला, जो छोटा, मीठा और पतला छिलकावाला होता है। इसकी उपज बिहार में, विशेषकर मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर सबडिविजन में, बहुतायत से होती है।

[चिनिया+केला ; चिनिया < चीनी < चीन ; केला < कदलक-(=कदली)]।

चिनिया बदाम—(सं०) मूँगफली। यह जमीन के अंदर होती है। इसकी फलियाँ करीब एक इंच की होती हैं। फली के ऊपर एक कड़ा बीजकोष होता है, जिसके अंदर पतली झिल्ली-जैसे छिलके के नीचे दो दलोंवाला दाना होता है। प्रत्येक फली के अंदर एक से तीन तक दाने होते हैं। दाने बादाम की गिरी से मिलते-जुलते होते हैं। इनसे खाद्य तेल निकाला जाता है। इसकी लता चकवड़ के पौधे-जैसी होती है। इसकी उपज दक्षिणी-पश्चिमी प्रदेशों और मध्यप्रदेश में अधिक होती है। बालू में भूनकर या तेल आदि में भूनकर भी यह खाया जाता है। पर्या०—मूँगफली, मोमफली (चंपा०), मूड़फली।

[चिनिया+बदाम ; चिनिया < चीन ; बदाम < बादाम (फा०) ; वाताद (संस्कृ०)।

चिनिया बेदाम—(सं०)—(पट०-१)। दे०—चिनिया बदाम।

चिन्ना, चीना—(सं०) निम्न श्रेणी का एक महीन अन्न, जिसका पौधा धान के-जैसा होता है ; यह उबालकर या भूनकर खाया जाता है। भूने चीने को माड़ा

कहते हैं। पर्या०—चीन (पू० मै०), चीन्ह (द० प० शाहा०), चीना। चिन्ना (पट०-१)।

[चिन्ना < चीनाक ; चीनाक (संस्कृ०) ; चीना, चेना (हिं०) ; चिने (बं०); राळे (मरा०); चीणा ; चीणे (गु०) ; चीनक (क०) ; उरजाम, उरजन (फा०) ; बारेंगा (अ०)]।

चिन्नी, चीनी—(सं०) पीली शक्कर या बूरे को साफ कर बनाया गया सफेद दानेदार मीठा पदार्थ, चीनी।

[चिन्नी < चीन। चीनी (हिं०) < चीन (हिं० श० सा०), सिता, शर्करा (संस्कृ०) ; सक्कर, बूरा, भूरा, सफेद खाँड़, चिन्नी (हिं०) ; चिनि (बं०) ; चिनी (बं०); चिनी साखर (मरा०); साकरिया खाँड़ (गु०) ; सक्कर (सं०) ; अस्सोकर (अ०) ; शकर (फा०) ; शुगर (अं०) ; सक (फ्रें०) ; अजुकर (स्पे०)]।

चिन्हल—(सं०) दे०—चीन्हल।

चिमल—(क्रि०) ऊख का चूसना।

चिमा—(सं०) (१) रस निचोड़ा हुआ ईख का डंडा। (२) मुँह से चबाकर रस चूसा हुआ ईख का गुल्ला, सीठी (मुं०-१)।

[चिमल+आ < चिमल, चामल (बिहा०) ; चिमना (हिं०) < √ चर्व्]।

चिमनी—(सं०) मिल या फैक्टरी में लोहे की चादर का बना हुआ लंबा बंबा, जिससे धुआँ निकलता है। (बिहृ०)। पर्या०—बंबा, बांमा (भोज०)।

चिरागाह—(सं०) चरागाह के लिए छोड़ी गई परती जमीन (शा०, पट०, द० मुं०)। दे०—परती।

[चिरा+गाह ; चिरा < चरा < चर (संस्कृ०+ गाह (फा०)]।

चिरागी—(सं०) जमींदारों द्वारा तेली से नकद माल-गुजारी न लेकर तेल के रूप में ही लिया जानेवाला कर।

[चिराग (फा)+ई (प्र०)]।

चिरैया—(सं०) (१) जुए के बीच में दिया जानेवाला पखड़, जो बैल की गरदन रखने के स्थान से भीतर की ओर रहता है। यह लोहे या लकड़ी का बना होता है (पू० मै०)। (२) आठवाँ नक्षत्र, पुष्य, जो बरसात में पड़ता है। (३) चित्रा नक्षत्र (पाप)। (४) पक्षी।

[देशी, मिला०—चिड़ा ; चिरैया < चिड़िया < चटक (?) ; चिरैया (हिं०)=चिड़िया। वर्षा का नक्षत्र। परिहल का सिरा, जिसे जोतनेवाला पकड़ता है (हिं० श० सा०)। मिला०—चिड़ा (नक्षत्र के अर्थ में)]।

चिलंबा—(सं०) दे०—चिलम (गाइड०)।

चिलम—(सं०) (१) लकड़ी या बाँस की बनी चचरी, जिसे किसी नाली के आरपार रखकर मिट्टी की बनी नाली के साथ संबद्ध कर दिया जाता है, जिससे पानी दूसरी नली तक पहुँच जाता है (गाइड०)। (२) तंबाकू पीने का विशेष ढंग का बना मिट्टी का बरतन।

चिलमिल—(सं०) एक प्रकार का पौधा (दा०-१, पूर्णि०-१)।

[< चिलविल्व ; चिरिबिल्व (संस्कृ०), चिलविल्ल (प्रा०) ; चिलबिल (हिं०)]।

चिहुँकल—(क्रि०) चिहुँकना, चौंकना, किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर मवेशी या किसी व्यक्ति का भड़कना। (वि०) चिहुँका हुआ भड़का हुआ।

[चिहुँक+ल (प्र०) < चिहुँक < चवँक्कि (प्रा०) < चमत्+√कृ (संस्कृ०), चिहुँकना (हिं०)]।

चिहुकार—(सं०) किसी चीज को देखकर भड़कनेवाला मवेशी (गं० द०)। दे०—फेफरियाह।

[चिहुक+आर (प्र०) <चिहुँकल (बिहा०), चौंकना, चिहुँकना। (हिं०) < चमत्कृ (संस्कृ०), चवँक्कि (प्रा०)]।

चिउरी—(सं०) मकई के अधपके दानों को कूटकर बनाया गया चिउड़ा (चंपा०-१)।

[चिउरा+ई (प्र०) < चिपिट-]

चीढ़—(सं०) एक प्रकार का पौधा (दर०-१)।

[चीर, चीढ (हिं०)]।

चीन—(सं०) (१) निम्न श्रेणी का महीन दानों का एक अन्न, जिसका पौधा धान के-जैसा होता है, यह उबालकर या भूनकर खाया जाता है। भूना हुआ चीना माढ़ा कहलाता है (पू० मै०)। दे०—चिन्ना। (२) एशिया महादेश का एक बड़ा देश।

[चीन < चीनाक < चीन-]।

चीना—(सं०) एक प्रकार का अन्न। इसे भूनकर माढ़ा तैयार किया जाता है (चंपा०-१)।

[चीना < चीनाक < चीन]।

चीना, चिन्ना—(सं०) निम्न श्रेणी का महीन दानों का एक अन्न, जिसका पौधा धान के-जैसा होता है ; यह उबालकर या भूनकर खाया जाता है। भूने हुए चीनी को माढ़ा कहते हैं। दे०—चिन्ना।

[चीना < चीनाक < चीन]।

चीनिया—(सं०) (१) चीनी-जैसा रंग का बैल (पट०-१)। (२) उजला छोटा और बहुत मीठा एक ऊख (पट०-१)।

चीनिया कयरा—(सं०) दे०—चिनिया केला ।

चीनी—(सं०) पीली शक्कर, भूरा, या गुड़ को साफ करके बनाया गया सफेद दानेदार मीठा खाद्य पदार्थ । पर्या०—चिन्नी ।

टि०—चीनी ऊख के रस को उबालकर गाढ़ा करके उससे छोआ निकालकर और मसाले से साफ करके बनाई जाती है । पहले यह गाँवों में ही गुड़ तैयार करके बनाई जाती थी । उस समय सेंवार आदि से उसकी सफाई होती थी, किंतु अब यह गाँव का उद्योग नहीं रहा, बल्कि कारखानों में तैयार की जाती है और इसके लिए आधुनिकतम वैज्ञानिक प्रक्रिया अपनाई जाती है । भारत में चीनी का उत्पादन एकमात्र ऊख से होता है, किंतु विदेशों में चुकंदर जैसी मीठी वस्तुओं से भी चीनी बनाई जाती है ।

[चीनी < चीन । चीनी (हिं०) ; (ने०)] ।

चीनी के कारखाना—(सं०) चीनी तैयार करने का स्थान । पर्या०—चीनी के गोदाम, खँड़सार, खँड़सारी (सं० द०) ।

[चीनी के कारखाना (का०)] ।

चीनी के गोदाम—(सं०) तैयार चीनी के रखने का स्थान । दे०—चीनी के कारखाना ।

[चीनी के गोदाम, गोदाम < गोडाउन (अं०)] ।

चीनी गोदाम—(सं०) मिल के अंदर वह स्थान, जहाँ चीनी बोरों में भरकर रखी जाती है । इस प्रकार के गोदाम प्रत्येक मिलों में बने होते हैं (बिह०) ।

चीनी, चिन्नी—(सं०) पीली शक्कर, बूरे या गुड़ को साफ करके बनाया गया सफेद दानेदार मीठा पदार्थ ।

चीन्ह—(सं०) (१) निम्न श्रेणी का महीन दानों का एक अन्न, जिसका पौधा धानके-जैसा होता है, इसे उबालकर या भूनकर खाया जाता है । भूने हुए चीना को माढ़ा कहते हैं (द० प० शाहा०) । दे०—चिन्ना ।

[चीन्ह < चीनाक (संस्कृ०) संभ० < चीन ; चीनाक > चीनाअ < चीना > चीन्ह । यहाँ 'अ' के स्थान में 'ह' की श्रुति है] ।

(२) जान-पहचान, चिह्न, संकेत ।

[चीन्ह < चिह्न] ।

चीन्हल—(क्रि०) जानना, पहचानना । (वि०) जाना हुआ । पर्या०—जानल, चिन्हल । चिन्हल-जानल, जानल-पहचानल=(यौ०)—जाना-पहचाना हुआ; सुपरिचित ।

[चीन्ह+ल (प्र०) < चीन्ह < चिह्ना < √चि (> चिनोति, परि+चिनोति=परिचय प्राप्त करता है, पहचानता है ।); < चिह्न (संस्कृ०) > (चिह्नयति), चिन्ह (प्रा०); चीन्हना (हिं०); चिन्नु, चिन्हु (ने०) ; चेनुन (कश्म०) ; चिन्नो (कुमा०), सिनिवा (असं०) ; चिना (बँ०) ; चिनई (गु०)] ।

चुअरी—(सं०) जल से युक्त नदी, तालाब आदि की सतह का गड्ढा (पू० पट०) । दे०—चूई ।

[चुअ+री (प्र०) <चुअल (चूना, बहना) < √च्यु (=च्यवति=गिरता है, बहता है)] ।

चुअल—(क्रि०) चूना, गिरना, टपकना । (वि०) चूआ हुआ । पर्या०—चूअल ।

[चुअ+ल (प्र०) < चुअ < च्यव या च्युत- < √च्यु; चूना (हिं०); चुहनु (ने०); चुवो (कुमा०); चुया (बँ०); चुआ, ढबा (ओ०); चोना (पं०) ; चुआउणा (पं०)=चुआना, अभिषव करना । चोवण (ल०)=दुहना; चुमड़ (सि०); चुवँ (गु०) । टर्नर के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति का संस्कृत मूल संदिग्ध है । मिला०—च्युतः (संस्कृ०) ; च्युतिः—गिरना ; बहना । जैसे 'नयनच्युतिः' में । चुती ; चुति (पा०), चुआ, चुअ (प्रा०)—च्यवते (संस्कृ०) ; चवति (पा०), चुअइ (प्रा०) या श्च्योतति ; स्च्योतति > चोना (पं०), श्च्योतयति > चोवा (पं०) ; चोवण (ल०)=दुहना ; बँ०, ओ० ; के शब्दों का मूल संदेहास्पद है—(नेपा०)] ।

चुआएल—(क्रि०) दे०—चुआवल, चुआएल ।

[चुआ+एल, आएल (प्र०) < चुआ < च्युत या < च्यव- < √ च्यु । दे०—चुआवल] ।

चुआवल—(क्रि०) चुअल, चूअल क्रि० का प्रे० ।

[चुआ + वल, चु + आवल (प्र०) < चु, चुआ < च्यव - या < च्युत < √ च्यु । मिला०—चुअल । चुवाउनु (ने०) ; चुआना (हिं०) ; चुआन (बँ०) ; चुआइबा (ओ०); चुआउणा (पं०)] ।

चुइन—(सं०) नदी या पैन की सतह से बनाया गया जल-मार्ग, जिससे होकर पानी निकलता है । (२) पानी एकत्र होने का स्थान (गाइड०) । दे०—चूई ।

चुकंदर—(सं०) गाजर की जाति का एक प्रसिद्ध मीठा कंद । (पट०-१) ।

चुक—(वि०) अत्यंत खट्टा । पर्या०—चूक । टि०—यह 'खट्टा चूक' (यौ०) रूप में अधिक आता है ।

[चुक < चुक्र—(संस्कृ०)=अमली, खट्टा] ।

चुकल—(क्रि०) चूकना, भूल करना, लक्ष्यभ्रष्ट होना, समाप्त होना, पूरा होना, चुकता हो जाना । (वि०) चूका हुआ, समाप्त, पूरा हुआ । पर्या०—चूकल ।

[चुक+ल (प्र०), < चुक < चुक्क <√ चुक्क् (>चुक्कति); चुक्कइ (प्रा०)=गिरता है । या <√च्युत्+कृ (संस्कृ०); चूकना (हिं०); चुकण (पं०); चुक्नु (ने०);

चुक्येमु (तिना०) ; चुका (बँ०) ; चुकाइवा (ओ०) ; चुक्कन (उ०) ; चुकड़ (सिं०) ; चुकवुं (गु०) ; चुकणे (मरा०)] ।

चुकाएल—(क्रि०) दे०—चुकावल ।

चुकाओल—(क्रि०) दे०—चुकावल ।

चुकावल—(क्रि०) चुकल, चुकल क्रि० का प्रे० । चुकाना, चुकता करना ; समाप्त करना । (वि०) चुकाया हुआ, चुकता किया हुआ, समाप्त किया हुआ । (सं०) चुकती, देना, पावना । पर्या०—चुकाएल, चुकाओल ।

चुकौआ—(सं०) निश्चित स्थान और समय पर प्रदेय निर्धारित भूमि-कर या सूद आदि (सं० उ०) ।

चुक्का—(सं०) (१) पानी पीने का छोटा-सा मिट्टी का पात्र (पट०-१) । पर्या०—किसोरा, कसोरा, रमलोटा, रमकोरवा, कोरवा । (२) एक प्रकार का ग्रामीण खेल, गोल चुक्का (द० भाग०) ।

चुगुल—(वि०) सुपक्व, पका हुआ आम आदि (मुं०-१) ।
[देशी] ।

चुचुहिया—(सं०) (१) सूखा, बाढ़ या ओले आदि से बचाव के उपाय न होने के कारण नष्ट हुई फसल (पट०) । दे०—बिगरल फसल । (२) एक प्रकार का पक्षी ।
[देशी] ।

चुटकिआवल—(क्रि०) (१) खेत जोतकर उसमें चुटकी से धान का बीज गिराना । करीब एक बित्ते की दूरी पर इस तरह से बीज गिराया जाता है, ताकि रोपा-जैसा ही हो जाये (चंपा०-१) । (२) चुपके-से किसी चीज को चुरा लेना । (३) चुटकी से मसलना । (४) मजाक करना (मुं०-१) ।
[चुटकी+आवल (प्र०) < चुटकी (अनु०); < चुटकी (हि०, पं०, सिं०, गु०, मरा०, ओ०); चुटकि (बँ०)=अमहत्त्वपूर्ण; चुट्‌कि, चुट्‌कि (ने०)] ।

चुटकी—(सं०) (१) चुटकी से धारी में बोने की प्रक्रिया । (२) हल से जोती हुई पंक्ति में चुटकी से बोने की प्रक्रिया (सं० द०) ।

टि०—धारी या चुटकी लगाने की प्रक्रिया में आगे-आगे हल चलता है और पीछे-पीछे बीज बोनेवाला डाली में बीज लेकर चलता है । तत्पश्चात् जोती गई पंक्ति (धारी) में जबतक वह (धारी) मिट्टी से ढक नहीं जाती, बोनेवाला बीज गिराता जाता है । इस प्रकार बीज अधिक गहरा चला जाता है और फसल होने पर उसके डंठल अधिक दृढ़ होते हैं, जिनसे वे हवा के झोकों से भी टूटते या गिरते नहीं । (२) हाथ की दो अँगुलियों के मिलने से बनी एक मुद्रा या आकार ।

चुटकी लगावल (मुहा०)—चुटकी से बीज बोना ।

चुटकी बजावल (क्रि०)—चुटकी बजाना ।

[चुटकी (अनु०), चुटकी (हि०, सिं०, गु०, मरा०, ओ०); चुटकि (बँ०)=अमहत्त्वपूर्ण; चुट्‌कि, चुट्‌कि (ने०)] ।

चुड़ा—(सं०) (दर०-१, पूर्णि०-१) । दे०—चूड़ा, चिउड़ा ।

चुतड़ा—(सं०) (१) मनुष्य की कमर के नीचे का पिछला भाग । (२) मवेशियों का पिछला भाग । पर्या०—चुतड़, चूतड़ ।

[चुत+ड़ा (प्र०) < च्युत; च्युति =(जननेन्द्रिय) < √च्यु । चूतड़ (हि०); चुतड़् (ने०); चुतर (पं०); चुतड़ (सिं०); चुताड़ (मरा०)= जननेन्द्रिय; चोथ (काम०)=जननेन्द्रिय < चुत—(नेपा०) ; चुत (बँ०) ; चूत (हि०) ; चुत (पं०) ; चुत (अ०)=लालटेन की पेंदी ; चुति (सिं०) ; चूत (गु०) ; चूत (मरा०)] ।

चुप्पा—(सं०) जानवरों का एक रोगविशेष, जिसमें उनके ओठों पर फुंसियाँ हो जाती हैं । (वि०) चुप रहनेवाला ।

चुतरी—(सं०) हल के पीछे की मूठ का वह भाग, जो नीचे जमीन की ओर रहता है (चंपा०-१) ।



[देशी, मिला०—चूतर, चूतड़ (विहा०, हि०) = कमर के नीचे का पिछला भाग] ।

चुभकी—(सं०) छोटा गड्ढा, जो मछली मारने के लिए खोदा जाता है (पट०-१) ।

चुलपजरसु—(सं०) नदी से पहले-पहल पैन में पानी लाते समय उसकी धारा के किनारे पड़नेवाले गाँवों को पानी देने की व्यवस्था (गाइड०) ।

चुलाएल—(क्रि०) (१) छींटना, बीज बोना, भदई या शरत्कालीन अनाज का बोना (पट०) । दे०—बूनल । (२) किसी तरल पदार्थ को चुलाना । (३) शराब चुलाना । पर्या०—चुआएल ।

[चुला+एल (प्र०) < चूला < च्यवन < √ च्यु (=गिरना)] ।

चुल्हइवन—(सं०) गुड़, हल्दी आदि के तैयार करने में प्रयुक्त चूल्हों के ऊपर लगनेवाला प्रति चूल्हा आठ आने का कर (गाइड०) ।

चुल्हा—(सं०) (१) चूल्हा, आग जलाने का मिट्टी का बना वह विशेष स्थान, अथवा लोहे आदि का बना विशेष साधन ; जिसपर बरतन रखकर भोजन पकाया जाता है। (२) नीचे खोदकर और ऊपर सानी हुई मिट्टी से घेरकर बनाया गया बड़ा चूल्हा, जिसपर कड़ाह रखकर चीनी, गुड़ आदि बनाये जाते हैं या धान आदि उबाला जाता है। पर्या०—चूल्हा, चुल्हि, चूल्ही, चुल्ही।

[चुल्ही का पुं० <चुल्लि—(संस्कृ०, प्रा०), चूल्हा; चूल्ही (हिं०); चुलो, चुलि (ने०) ; चुलो (कुमा०) ; चोल (कश्म०) ; चुल्लि, चुला (बँ०, ओ०); चुल्ही (पं०); चूल्ह (अ०) ; चुलिह (सिं०) ; चूलो, चूल (गु०) ; चूल (मरा०) ; चूला (मरा०) = बड़ी चूल्ही]।

चुल्हा खानल—(मुहा०) चूल्हे को बनाने के लिए ढाँचा तैयार करना (पट०-१)।

चुल्हानी—(सं०) चूल्हे के पास की जमीन (पट०-१)।

चुल्हा पारल—(मुहा०) चूल्हे का ढाँचा तैयार करना (पट०-१)। दे०—चुल्हा खानल।

चुल्ही—(सं०) छोटा चूल्हा। दे०—चुल्हा।

चुवावल—(क्रि०) दे०—चुआवल।

चुहँड़ी—(सं०) (पट०-१)। दे०—चुहाँड़ी।

चुहाँड़ी—(सं०) नदी, सोते आदि के किनारे गीली रेत में पानी निकालने के लिए खोदे गये छोटे गड्ढे (मुं०-१, पट०-१)।

[देशी, संभ० चु+हाँड़ी < चु <चूना <√च्यु ; हाँड़ी < हंडिका, या चुहा + भाँड़ी ; चुहा < चूहा (देशी) ; भाँड़ी < भवट]।

चुहानी—(सं०) घर के भीतरी भागवाला घर।

गाँवों में किसानों के घर के बीच में कोठी रखकर उसे दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है। एक ओर से भीतर जाने का मार्ग बना रहता है। भीतरी भाग को चुहानी और मार्ग को 'चुहानी-दुआरी' कहते हैं (चंपा०-२)।

चूअल—(क्रि०) दे०—चुअल।

[चूअ+ल (प०) < चूअ < च्यव <√ च्यु]।

चूआँ—(सं०) (१) वह गड्ढा, जहाँ से अच्छी मिट्टी खनकर निकाली जाती है। पर्या०—खँहार (पट०), मटिखान (द० प० मैं०, गया, शाहा०), मटखना (द० प० शाहा०, मैं०), मटखना (द० भाग०), मटकोर (पट०, द० मुं०), मटियार (द० पू० मैं०) ; कोहड़ेगर (सा०), मटखम (उ० प० मैं०)। (२) जंगल से युक्त नदी, तालाब आदि की सतह का गड्ढा। दे०—चूईं।

[चूआँ < चुआन < चूअन (बिहा०) ; चूना (हिं०) >√ च्यवन <√ च्यु (?)]।

चूईं—(सं०) जल से युक्त नदी, तालाब आदि की सतह का गड्ढा (ग० उ०)। पर्या०—चुअरी (प० पट०), चूआँ, चुइन (गाइड०)।

[चूईं > च्युति-(?) <√च्यु]।

चूक—(सं०) (१) दवा के काम आनेवाला नीबू का औटाया हुआ रस (पट०-१)। (२) खट्टी वस्तु।

चूड़ा—(सं०) अधपके या पके धान को उबालकर निश्चित परिमाण में भूनकर ओखल में बिना साम के मूसल से कूटकर बनाया गया चिपटा खाद्य-विशेष। दे०—चिउड़ा। पर्या०—चुड़ा (दर०-१, चंपा०)।

[चूड़ा < चिउरा < चिपिटक-]।

चूड़ा तारल—(मुहा०) चूड़ा कूटने के लिए पानी में धान भिगोकर उबालना (पट०-१)।

चूड़ी—(सं०) (१) गुना, लहर, जो कोल्हू आदि के चक्के में बना रहता है (री०)। (२) चूड़ी, जो स्त्रियों के हाथ का गहना है। (३) बाजरे का कूटा हुआ चूड़ा (पट०-१)।

चूनल—(क्रि०) (१) गिरे हुए किसी अन्न को एक-एककर उठाना। गिरे हुए आम आदि को उठाकर इकट्ठा करना। लकड़ी आदि के टुकड़े को उठाना (चंपा०-१)। (२) चावल आदि खाद्य पदार्थ से विजातीय वस्तु को निकालना। पर्या०—बीनल।

[चून+ल (प०) < चयन <√चि (>चिनोति चिनुते (संस्कृ०) ; चिनोति (पा०) ; चिनइ, चुणइ (प्रा०) ; चिनना (हिं०)=दीवार में ईंटों को बैठाना, चुनना ; चुन्नु (ने०) ; चुनाउनु (प० पहा०); चुना (बँ०) ; चिनना, चुनना (पं०); चुंडण, चुण्णरा (ल०); संभ०<√चुण्ट् > चुण्टति—(नेपा०)। चुणनु (सिं०); चिणवुँ, चुणवुँ (गु०)=सहेजना ; चिणणे (मरा०)=दीवाल उठाना ; चुणणे (मरा०) = चुनना < चिनयति—(नेपा०)]।

चूर—(सं०) (१) ऊख के कोल्हू के मोहन के ऊपर का घुमनेवाला अंतिम भाग। यह पुराने ढंग के कोल्हू में होता था, किंतु आजकल भी लोहे के सिलिंडरों के ऊपर लोहे का चूर-जैसा बना होता है। (उ० पू० मैं०) पर्या०—चूरिया, मुंड। (२) केले का पौद (मुं०)।

[चूर < चूड, चूडा (संस्कृ०) ; चूडो ; चूला (पा०); चूण्डा, चूला (प्रा०) ; चूई (दरदी) = केश, चुला (असं०)=खड़ाऊँ आदि में लकड़ी का गोड़ ; चुलि (असं०)=केश ; चुला (बँ०)=केशगुच्छ ; चूल (ओ०) ; चूड़ा (हिं०)=चोटी, चूल (हिं०) ; चूला (पं०)=पीछे के भाग में नीचे की हड्डी ; चूल (पं०)=चूर ; चूर (पं०)=चूर ; चूर (ल०) ; चूरी (ल०)=कनपट्टी का केश ; चूड़ा (सिं०) ; चूड़ी (सिं०)=जूलड़ ; चूड़ (मरा०)=धान का गुच्छा ; सिलु (सिंह०)]।

चूरिया—(सं०) ऊख के कोल्हू के मोहन के ऊपर का घूमनेवाला अंतिम भाग। दे०—चूर।

[मिला०—चूड़ी, दे०—चूर]।

चैंबाउर—(सं०) एक प्रकार का धान (चंपा०-१)।

[देशी, वा < चङ्गपूर < चङ्ग-(= सुन्दर)+पूर (=भरा हुआ)]।

चेंगना—(सं०) छोटा बच्चा। बकरी आदि छोटे और तिर्यग्योनि के बच्चे के लिए व्यवहृत होता है। कभी-कभी मनुष्यों के छोटे बच्चों के लिए भी प्रयुक्त होता है।

[देशी, वा < चिङ्गर (= जलवृश्चिक) ; वा चिक्कण (=स्निग्ध), सुन्दरी, (सो०)—सुन्दर]।

चेंगरा—(सं०) एक प्रकार की मछली। दे०—चेंगना।

[देशी, वा < चिङ्गट (=जलवृश्चिक)]।

चेंगवा—(सं०) (१) बैंगन का एक भेद, जो गोल होता है। दे०—बैंगन। (२) एक प्रकार की मछली। पर्या०—चेंगरा।

[देशी, वा < चिङ्गर (=जलवृश्चिक) < चिङ्गिर= एक प्रकार का चूहा]।

चेंगौल—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी, वा चङ्ग (=सुंदर)+पूर (=भरा हुआ (?)]।

चेंच—(सं०) शाक जाति की एक पशु-खाद्य घास (प०)। पर्या०—गड़ौछो (चंपा०, पट०), सरौंची (गया, द०, भाग०) सरजुंची (गया, द० मुं०)।

[देशी, मिला०—चिञ्चा = इमली; चिञ्चा, चञ्चु (= चेचुना, एक प्रकार का छोटा क्षुप, जिसका शाक बनाया जाता है।)—(मा० प्र०)]।

चेंचा—(सं०) कुदाल से काटा गया मिट्टी का टुकड़ा, ढेला (पट०-१)।

चेखान—(सं०) बड़ा ढेला (चंपा०-१)। पर्या०—चेपा (भाग०)।

[चेखान < √ चहन ; चालन > √खन् (चङ्खन्यते, चालयते (यङन्त), चङ्खनीति, चाखनीति (यङ्लुग्०)]।

चेपा—(सं०) ढेला (भाग०)। दे०—चेखान। पर्या०—ढेला, ढेल।

[चेपा < चिप्पट ; चिपिट, चिपिटक (?)]।

चेपुआ—(सं०) रस निकालने या चूस लेने के बाद ऊख का बचा हुआ नीरस भाग (मं० द०)। दे०—खोइया।

[देशी, मिला०—√चप् > चपयति (संस्कृ०) ; चप्पइ (प्रा०) ; चाँपना (हिं०) ; चेप्नु (ने०); च्याप्णो (कुमा०) ; सापिबा (असं०) ; चापा (बँ०)=दबाना ; चापिबा (ओ०) ; चापना (पं०) = दबाना ; चप्पण (पं०)=ढक्कन ; चापणे (मरा०) ; चिपिवु (कश्म०) = धोपना ; चिप्पण (पं०)=कपड़े पर छपाई करना ; चिपवु (सिं०)=दबाना ; चिपवुं (गु०) ; चिपणे, चेपणे (मरा०)]।

चेफुआ—(सं०) रस निकल जाने के बाद ऊख का बचा हुआ नीरस भाग, सीठी (शाहा०, सा०-१) दे०—खोइया।

[दे०—चेपुआ]।

चेरी—(सं०) हल में कभी-कभी लगाया जानेवाला दूसरा पच्चड़ (पू० मै०)। दे०—चैली।

[चेरी <चूरी ; चूड़ी <चूडी < चूड, चूल (?)]।

चैलखी—(सं०) (१) हल में कभी-कभी लगाया जानेवाला दूसरा पच्चड़ (द० पू० मै०)। दे०—चेली। (२) जलाई जानेवाली लकड़ी का चीरा हुआ छोटा या पतला टुकड़ा।

[चेल + खी वा चेल्खी < चीरी ; चीरिका (=वस्त्रखंड, चीर)—(?) ; वा < चिल्ल < √चिल्ल् (=चंचल होना, शिथिल होना, भावप्रदर्शन करना); चिल्ल (दे०) = जिसकी आँखें मींची हों, चौंधित आँखोंवाला]।

चेल्हवा—(सं०) एक प्रकार की मछली।

[चेल्हवा < (?), मिला०—चोरल्लि = एक बड़ी मछली (मो० वि० डि०)]।

चैत—(सं०) चैत्र, भारतीय वर्ष का और वसंत ऋतु का प्रथम मास (मार्च के अंतिम और अप्रैल के आदि के (१५-१५ दिन)। इसकी पूर्णिमा में प्रायः चित्रा नक्षत्र पड़ता है, अतः इसका चैत्र नाम पड़ा है। करीब दो हजार वर्ष से इसी मास से भारतीय वर्ष का आरंभ माना जाता है। दे०—चइत।

[चैत < चैत < चैत्र < चित्रा + अ (= अण्) ; चैत (हिं०) ; चैत् (ने०)]।

चैता—(सं०) (१) वह खेत, जिसमें चने की फसल होती हो (द० भाग०)। (२) चैत में तैयार होनेवाली

फसल का खेत। (३) एक प्रकार का लोकगीत, जो चैत में गाया जाता है। दे०—चइता। पर्या०—चइतार (पट०-४, चंपा०-२), चइतावर (चंपा०)।

चैतार—(सं०) (१) चैत में होनेवाली फसल, रब्बी। (२) चैत में गाया जानेवाला लोकगीत। (३) चैत महीने का मौसम (सर्वत्र)। दे०—चैत।

चैती—(सं०) चैत में होनेवाली फसल, रब्बी। (वि०) चैत महीने से संबद्ध, जैसे—चैती पूर्णिमा।

चैतुआ चूड़ा—(सं०) सत्तू (पट०-१)।

चैली—(सं०) (१) हल में कभी-कभी लगाया जानेवाला दूसरा पचड़ (गं० उ०, गया०, द० प०)। पर्या०—चेलखी (द० पू० मै०), चेरी (पू० मै०); पचड़ (उ० पू०, मै०; शाहा०), पपड़ी (गं० द०); ऊपरी पाटी (द० भाग०)। (२) ईंधन के लिए चीरा हुआ लकड़ी का लंबा टुकड़ा।

चोंगा—(सं०) (१) बाँध आदि के आरपार तक पानी जाने के लिए मिट्टी का बनाया गया नल (पट०-१)। (२) हल के पीछे लगाई गई बाँस की नली, जिसके द्वारा बीज सिराउर में डाला जाता है (पट०-१)। (३) गोल मँगरा खपड़ा, जो पानी निकालने के लिए पनाले में लगाया जाता है (पट०-१)।

चोंप—(सं०) (१) पलास के पेड़ या ताड़ के पत्ते के वृंत की छाल से बनी रस्सी (मै०, गया)। दे०—चोप। (२) पलास के पेड़, केले या ताड़ के पत्ते के वृंत की छाल।

चोकठल—(क्रि०) फल आदि का गरमी आदि से सिकुड़ जाना (चंपा०-१)।

चोख—(वि०), चोखा, तेज, शुद्ध। दे०—चोखा—२,३।
[चोख < चोक्ख < चोक्ष—]

चोखा—(सं०) (१) उपजाऊ और ताकतवर मिट्टी (उ० प०, गया, द० मुं०)। दे० बरियार। (२) अच्छा और उत्तम माल। (३) तीक्ष्ण।
[< चोक्ष<=साफ, अमिश्रित, उत्तम; (चोक्षो गीते शुची दक्षे तथा तीक्ष्णमनोज्ञयोः—(मेदि०), चोक्ख (पा० भा०); चोखा (हिं०)=तेज; चोखो (ने०; कुमा०)=शुद्ध, साफ, अमिश्रित; सोका (असo)=तेज; कुशल; चोखा (बां), चेका (बां) (बं)=शुद्ध, दक्ष, तेज; चोखा (ओ०)=अच्छा, ताजा; चोक्खा (पं०); चोखा, चोखड़ा (ल०); चोखो (सिं०)=अच्छा, साफ चावल; चोख (गु०)=शुद्ध; चोखा (गु०)=चावल; चोखा (मरा०)]।

चोट—(सं०), किसी वस्तु से लगा आघात।
[चोट (हिं०); चोट् (ने०, कुमा०), <चोट (अस), चोट (बं०); चोट (ओ०); चोट (पं०, सिं०); चोट (गु०); चोट (मरा०)<√चुट्, √चुण्ट् (आघात करना, दबाना) (>चुटति, चुण्टति)]

चोटिया आमन—(सं०) बैलगाड़ी के पहिये का वह आमन, जिसके सिरे पर एक ओर कील ठोकी रहती है (पट०—१)।

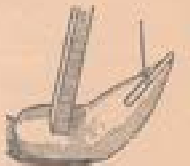
चोत—(सं०) पशु के मलद्वार से एक बार में गिरनेवाला गोबर (प०)।
[< च्योत < √ च्यु + त < श्च्योत —< √श्च्युत् (=गिरना, अलग होना), या < च्युत< √च्यु (च्यवति), चोथ (हिं०)]

चोना—(सं०) ऊख के कोल्हू की गेंदी में रस के निकास के लिए कटी हुई नाली (द० मुं०)। दे० नरदोइ।
[चोना <चुअन <+च्यवन< √च्यु]

चोप—(सं०) (१) आम के फल की डंठी से निकला हुआ रस, जिसके लगने से घाव हो जाता है। (२) शामियाने का खंभा (चंपा०-१)। (३) पलास के पेड़ या ताड़ के पत्ते के वृंत की छाल से बनी रस्सी (प०, अन्य०)। (४) पलास के पेड़, केले या ताड़ के वृंत की छाल। पर्या०—चोंप (गया)।
[देशी>मिला०—चोपड़ (=स्निग्ध—मो० वि० हि०), चोप्पड़ (<म्रक्ष)=घी, तेल आदि स्निग्ध पदार्थ, पा० स० म०); चोप (ने०); चेप (हिं०); चोपड़ (हिं०) चोपड़ना, चोपड़ँ (गु०); स्निग्ध; चोपड़ (=मरा); स्नेह, चिकना पदार्थ <+चोप्प- (देशा०)]।

चोपा—(सं०) रस निकालने या चूसने के बाद ऊख का शेष भाग (द० भाग०)। दे० खोइया।
[मिला० चोप]।

चोभी—(सं०) (१) फाल को गिरने से बचाने के लिए उसके ऊपर से हल में ठोकी हुई लोहे की दो ओर से टेढ़ी-नुकीली और पतली कील (द० पू० मै०)। दे० करआर। (२) गड़ासी के फलक का वह नुकीला अंश, जो बेंट के अंदर रहता है (उ० पू० मै०)। दे० खूरा।



[<चुभल (बिहा०) चुभना (हिं०)< √क्षुभ्]

चोरकिल्ली—(सं०) किल्ली को कुंड से बाँधनेवाली रस्सी (चंपा०, उ० प० मै०)। दे० कनेटी।
[चोर+किल्ली<चूर+किल्ली=चूर<चूरी, चूड़ी (=) गोल वलय, जो कुंड के ऊपर लगा रहता है), किल्ली <कील]।

ार-चौरकिल्ली

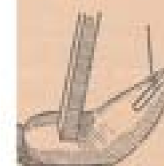
०, सि०); चोर
√चुन्द् (आघात
]
पहिये का वह
और कील ठोंकी

बार में गिरने-

< इच्योत —<
, वा < च्युत<

में रस के निकास
)। दे० नरदोइ।
<√च्यु]
डंडी से निकला
व हो जाता है।
-१)। (३) पलास
की छाल से बनी
ा के पेड़, केले या
चोप (गया)।
स्नेहप—मो० वि०
आदि स्निग्ध पदार्थ,
ह०); चोपड़ (हि०)
; चोपड़ (=मरा);
(नेपा०)]।
जुताने के बाद उस
खोइया।

रने से बनाने के
ठोंकी हुई लोहे की



(हि०)<√चुम्]
ड से बाँधनेवाली
दे० कनैटी।
ी=चूर<चूरी, डूरी
र लगा रहता है),

चौरांत—(सं०) एक पशु-खाद्य घास (गया, द० प० शाहा०)। दे० चरी।
[चोरांत-देशी-]

चोरांता—(सं०) एक पशु-खाद्य घास (पा०)। दे० चरी।
[देशी]।

चौकल—(क्रि०) (१) दे०—चउंकल, चउक्कल। (२) चौंकना, चकित होना, चौकन्ना होना।
[चौंक+ल (प्र०) < चौंक < चौंकन्ना <चउ-क्कोण (प्रा०) < चतुक्कोण (पा०) <+चतुष्कोण—(संस्कृ०)—(प्राकृ०), वा <चतुष्कर्णक->चतुक्कण्णक (पा०)>चउकण्णअ (प्रा०) >चौकन्ना]।

चौकी—(सं०) (१) खेत जोतने के बाद ढेलों को फोड़ने के लिए बना हुआ काठ का एक मोटा लंबा फलक। दे०-हेंगा। (२) सोने-बैठने के लिए लकड़ी का चौकोर या दूसरे ढंग का बना फलक, जिसमें चार पाये रहते हैं। (३) थाना। पर्या०—चौकी।
[चौकी <चौकी <चउक्की (प्रा०) <चतुक्की (पा०)<+चतुष्की (संस्कृ०); चौकी (हि०,पं०); चौकी (ने०); चौक्को (कुमा०)=लकड़ी का बना हुआ आसन या खाट। चौकी (बं०, ओ०)=चौकी, थाना; चौकी (सिं०)=चौकी; चोकी (गु०); चौकी (मरा०); बिहा० के अतिरिक्त और किसी भाषा या बोली में चौकी या चोकी का अर्थ 'हेंगा' नहीं होता है]।

चौगियाएल—(क्रि०), हेंगे से खेत के ढेलों को फोड़कर बराबर करना। दे०—चौकियावल। पर्या०—चौगियावल, चौगियायल।
[चौंग्+इयाएल (प्र०) < चौंग <चौक < चतुष्क-]।

चौगियावल—(क्रि०) जोती हुई जमीन को चौरस करने के लिए उसपर हेंगा चलाना (दर०-१)। दे०-चौकियावल, चौगियाएल।
[चौंग्+इयावल (प्र०)<चौग-<चौक <चतुष्क-]

चौंगी—(सं) हेंगा। दे०-हेंगा (दर०-१)। चौगियाएल (क्रि०)=हेंगाना।
[चौंगी<चौकी <चउक्की < चतुष्क]

चौर—(सं०) (१) कुएँ के अंदर बगल की दीवार के किसी भाग के गिरने से गड्ढे के रूप में बना हुआ स्थान (पट०, गया)। दे०-खोंबर। (२) दलदल जमीन। दे० झील। (३) खेतों के बीच का जलाशय।
[चौर<चुण्ट (=जलाधार-मो० वि० डि०), मिला०—चत्वर; चओर (देशी)=पात्र (पा० स० म०)]।

चौएठा—(सं०) खेत के बीच चारों ओर से लंब-गोल आकार की जुताई (पट०)। दे० चौकेठा।
[<चतुष्काष्ठक-(२), <चतुष्क]

चोकंदार—(सं०) वह बैल, जो हमेशा कान उठाये रहता है और थोड़ी आहट पाकर चंचल हो जाता है। (पट०-१)।

चौक—(सं) (१) खेत के बीच चारों ओर लंब-गोल आकार की जुताई (प०)। दे०-चौकेठा। (२) पूजा-प्रतिष्ठा आदि के लिए चावल आदि के आटे से बनाया गया चौकोर या कमलाकार मंडल। (३) नगर या बड़ी आबादी का वह प्रधान स्थान, जहाँ चारों ओर से आकर सड़कें मिलती हों अथवा जो चारों ओर का केन्द्र हो। (४) बड़ी हवेली आदि का बाहरी आँगन।
[चौक < चउक्क (प्रा०) < चतुक्क (पा०) < चतुष्क—चतुर्+क (प्र०) (संस्कृ०) चौक (हि० पं०); चौक्, चोक् (ने०); चोक (कुमा०)=आँगन; चौका (बं०, ओ०)=वर्गाकार स्थान, जो गोबर आदि से लीप-पोतकर बनाया जाता है। चौक (ओ०)=वर्गाकार; चौका (अ०)=रसोईघर; चौकु (सिं०)=वर्गाकार स्थान; चोक (गु०) चौक (मरा०); बिहा० के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा या बोली में चौक का अर्थ खेत की विशेष प्रकार की जुताई नहीं होता है। चौका (बिहा०)=रसोईघर, खाने के लिए लीप-पोतकर बनाया गया वर्गाकार या गोल स्थान। यह शब्द (अ०) और (बं०, ओ०) से मिलता-जुलता है]।

चौक नारन—(सं०) हेंगा खींचने के लिए उसमें लगी रस्सी, जो जुए (पालो) से बँधी रहती है (पट०)। दे०-बरही।
[चौक+नारन; चौक< चउक्क < चतुष्क; नारन<नार+न् (प्र० का आगम) < नाल, नाड, वा <नड् ? (?)]।

चौकल—(क्रि०) (१) धान आदि के पुल्लों को एक के ऊपर दूसरे को बिछाकर एक सिलसिले से सजाना। (२) अनाज से भरे बोरों की छल्ली लगाना (मु०)। दे०-चउकल, चउंकल (३) चौकन्ना होना।
[चौक+ल (प्र०) < चतुष्क-चतुष्कोण-(संस्कृ०); चउक्कोण (प्रा०); दे० चौंकल]

चौका—(सं०) (१) खेत आदि की मिट्टी काटते समय ठेकेदार की मजदूरी का हिसाब करने के लिए छोड़ा गया ऊँचा स्थान। (२) मिट्टी काटने की नाप (मुं०-१)। (३) गोबर आदि से लीप-पोतकर

बनाया गया स्थान, जहाँ बैठकर खाया जाता है अथवा कोई पवित्र कार्य किया जाता है। दे०-चलका।

[चौका <+ चतुष्क (संस्कृ०), चउक्क (प्रा०), चौका (बँ०, ओ०)=लीप-पोतकर बनाया गया वर्गाकार स्थान; चौका (ज०)=रसोईघर]।

चौकिदार--(सं)-- दे० चौकीदार।

चौकियावल--(क्रि०) जोते हुए खेत को हेंगे से चौरस बनाना (मुँ०-१)।

[चौकियावल चौकी+आवल (प्र०) < चौकी <चउक्की (प्रा०) <+चतुष्क, वा + चतुष्कोण (संस्कृ०), चउक्कोण (प्रा०), चउक्कोण (प्रा०)]।

चौकी--(सं०) (१) खेत जोतने के बाद ढेला फोड़ने तथा खेत को बराबर करने के लिए लकड़ी का बना एक मोटा तख्ता (पू० बिहा०, दर०-१)। (२) सोने-बैठने के लिए लकड़ी का बना चौकोर फलक, जिसमें चार पाये लगे रहते हैं।

[चौक+ई (प्र०) < चतुष्की, दे०-चौकी]।

चौकी घुमाएल--(क्रि०) हेंगा चलाना, चौकी देना। दे०-हेंगाएल।

[चौकी+घुमा+आएल (क्रि० प्र०); चौकी < चतुष्की, घुमा <घूर्ण < √ घूर्ण]

चौकीदार--(सं०) सरकारी वेतन पर सरकार की ओर से नियुक्त पहरा देनेवाला एवं खबर रखनेवाला। दे०-गोड़ैत। चौकीदारी (सं०) (२) चौकीदार का काम। चौकीदार को मिलनेवाला पारिश्रमिक या वेतन.। (३) किसानों से प्राप्य चौकीदारी कर।

[चौकी (हिं०)+दार (फा० प्र०)]।

चौकीदारी--(सं०) (१) चौकीदार को मिलनेवाला पारिश्रमिक या वेतन। (२) चौकीदार का काम। (३) किसानों से प्राप्त होनेवाला चौकीदारी का कर। पर्या०--चरिहानी (उ० प०), गोड़ैतक मूठ (उ० प० मै०); गोड़ैती (द० पू० मै०), फनिलाना (पट०), नोंचा (गया)।

[चौकी+दार+ई (प्र०)]।

चौकेठा--(सं०) (१) कुएँ आदि की गोल परिधि बनाने के लिए विशेष प्रकार की वृत्तखंड ईंट (द० पू० मै०)। दे०-बक्खी।

[चौक+एठा < + चतुष्क + इष्टक (?)]।

(२) खेत के बीच चारों ओर से की जानेवाली लंब-गोल आकार की जुताई। पर्या०--चौएठा (पट०), आरोपास (गया), चौबगली (चंपा०; गया), चौगठिया; चौक (प०); चौगेठ (सा०, चंपा०); भौंरिया (द० मु०); चौकेर (उ० प० मै०)।

(३) खेत के बीच चारों ओर से की गई चौकोर जुताई; जिसमें एक रेखा दूसरे को न काटे।

[< + चतुष्काष्ठक (?) वा < चतुष्क--]।

चौकेर--(सं०) खेत के बीच चारों ओर लंब-गोल आकार की जुताई (उ० प० मै०)। दे०-चौकेठा।

[चौ+केर < चतुर् +कोण (?)]।

चौखर--(सं०) हल जोतने या गाड़ी चलाने में एक साथ प्रयुक्त चार बैल, जब उनमें से दो काम करते हैं और दो विश्राम। पर्या०--चौखरिया, चरखरथा, फेरफार (द० प० मै०)।

[< + चतुष्क (?) वा + चतुष्खण्ड > चउखंड > चौखड, चौखर]।

चौखरिया--(सं०) हल जोतने या गाड़ी चलाने में एक साथ प्रयुक्त चार बैल, जबकि उनमें से दो काम करते हैं और दो विश्राम। दे०-चौखर।

[चौखर+इया (प्र० <+ चतुष्क वा + चतुष्खण्ड- > चउखंड > चौखड]।

चौखार--(सं०) (१) जमीन की चौथी जोत, चौथी चास। (२) वह जमीन, जिसमें चौथी चास की जाय (पू० मं० गया)। पर्या०--चरचसी (शाहा० गया, द० भाग०), चारपास।

[< + चतुष्क (?) < + चतुष्खण्ड (?)]।

चौगठिया--(सं०) खेत के बीच चारों ओर से लंब-गोल आकार की जुताई (प०)। दे०-चौकेठा।

[चौगठ+इया (प्र०) < + चतुष्काष्ठक, चतुष्क (?)]।

चौगेठ--(सं०) खेत के बीच चारों ओर से लंब-गोल की जुताई (सा०, चंपा०)। दे०-चौकेठा।

[< चतुष्काष्ठक (?), <चतुष्क (?)]

चौगोड़ा--(सं०) वह हेंगा, जिसे चार बैल खींचते हैं (उ० पू० मै०)। पर्या०--चरगोरी (मै)०, दोहार (द० भाग०), चौबरदा (सर्वत्र)।

[चौ+गोड़ा < +चतुर्गोटक (?) वा गोड़ा < गोणी (अव०--पा० स० म०), गावी, गोणी गोला गोपोलिका--(महा० भा०), <+गो=गाय, बैल]।

चौघाँव--(सं०) करीन आदि से खींचने में पानी की सतह से चौथा उठान या जलाशय, जहाँ से दूसरे करीन आदि के द्वारा पानी और ऊपर उठाकर ले जाया जाता है। दे०-एघाँव।

[चौ+घाँव, चौ<+चतुर्, चतुर्थ, घाँव-(?)]]।

चौठ—(सं०) (१) मकान बनाने या बेचने के समय जमींदार को किसान की ओर से मिलनेवाला शुल्क या कर (सं० उ०)। पर्या०—जरचौठ (पू० मै०), चौथैया (पट०, द० मुं०), सलामी। (२) चतुर्थी तिथि। (वि०) चौथा।

[< चतुर्थ, चतुर्थांश]।

चौठैया—(सं०) (१) जमीन की उपज में से एक चौथाई जमींदार और तीन चौथाई किसान में बाँटने की प्रणाली (पट०, गया०, प०)। दे०-चौथैया। (२) कपास चुननेवाले मजदूर या मजदूरिन को दी जानेवाली चुनी हुई कपास की चौथाई मजदूरी (उ० पू० मै०)। दे०—पई। (३) पचास पान की पत्तियों की एक राशि (सं० उ०)। दे०—कोरी।

[चौठ < पैया < चतुर्थ, चतुर्थांश। दो सौ पान की एक ढोली होती है और पचास उसका चतुर्थांश]।

चौथैया—(सं०) (१) जमीन की उपज में से एक चौथाई जमींदार और तीन चौथाई किसान में बाँटने की प्रणाली (चंपा०, द० प० मै०)। पर्या०—चौठैया (पट०, गया; प०)। टि०—अन्य स्थानों में यह प्रणाली व्यवहृत नहीं होती।

टि०—सं० द० में निम्नांकित व्यवहार प्रचलित था। किसान-जमींदार में अन्न के बँटवारे में सम भाग का वितरण असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य था। यदि कहीं बराबर भाग का व्यवहार था भी, तो वह ऊँची श्रेणी के किसानों के साथ अथवा जहाँ जिस किसान को दीवानी अदालत का निर्णय मिला हुआ था; उसमें, जिसमें जमींदार पर आधा भाग लेने के लिए निषेध लगा दिया गया था। जमींदार के भाग में नौ आना (९/१६) और किसान के भाग में सात आना (७/१६) तो प्रचलित रीति थी। जमींदार संग्रह, सिंचाई और फसल की देखभाल के नाम पर दो आना अधिक की माँग करता था। जमींदार अपवाद-स्वरूप ही आधे हिस्से से कम लेता था; क्योंकि अनावृष्टि होने या जंगली या ऊसर भूमि में किसान के अत्यधिक परिश्रम करने पर ही यह छूट थी और वह भी केवल एक, दो या तीन वर्षों के लिए। प्रायः इस भाव में वृद्धि होती रहती थी। यथा—प्रथम वर्ष में जमींदार उस तरह की जमीन के बँटवारे में एक चौथाई, द्वितीय वर्ष में एक तिहाई और तृतीय वर्ष में दो पंचमांश और इसके अनंतर सारी उपज में से आधा हिस्सा लेता था। जब जमींदार १०६ (बिहार टेनेंसी ऐक्ट) धारा के अनुसार तीन पंचमांश जमींदार लेता था और दो पंचमांश किसान, तब इसका अर्थ था कि जमींदार के साथ विशेष समझौता हुआ और वह जमीन उसकी खुदकाश्त है। धारा ६१२ के अनुसार बोझों के बँटवारे को छोड़कर शेष सारे भाग फसल की दौनी के बाद अनाज-मात्र पर बाँटे जाते थे। हाँ, किसान को पुआल आदि मिलते थे (ग्रिय०)। यह व्यवहार पुराने टेनेंसी ऐक्ट के अनुसार होता था, अब तो उस प्रकार की जमींदारी-प्रथा ही समाप्त हो गई।

(२) मकान बनाने या बेचने के समय जमींदार को मिलनेवाला शुल्क या कर (पट०; द० मुं०)। दे० चौठ।

[चौथ+पया<चतुर्थक,<चातुर्थिक-]।

चौदंत—(सं०) चार दाँतोंवाला मवेशी (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[चौ०+दंत<चतुर्दन्त-]।

चौपट—(वि०) नष्ट, ध्वस्त, बरबाद।

[मिला०—चौपट (हिं०)=बरबाद, खुला स्थान; चौपट (नें०)=चौकोर, खुला स्थान; खुला मैदान; चौपट्ट (नें०)= बहुत सख्त; चौपट्टा (मरा०)=खुला हुआ चौरस स्थान; चौपट्ट (पं०)=अकस्मात्]।

चौपट्टा—(सं०) गेहूँ की फसल के साथ उगनेवाली एक घास (द० प० शाहा०)। पर्या०—तितिली; पुपरा (द० भाग०), पिपरा (पट०, गा०, पू०)।

[देशी, संभ० चौ+पट्टा<चतुष्पत्रक-]।

चौपड़—(सं० (१) वह खुला स्थल, जहाँ चार सीमाएँ, मेंड़ें या मार्ग आकर मिलते हैं (चंपा०; द० पू० मै०)। दे० चौमुख। (२) गोटियों से खेला जानेवाला एक प्रकार का खेल; जो शतरंज की तरह कपड़े की बिसात या जमीन पर चिह्न बनाकर खेला जाता है। (३) चौपड़ खेल की बिसात और गोटियाँ आदि।

[चौपड़<चउपथ (प्रा०)<चतुष्पथ-या चतुष्पथ। चौपड़<चउपद (प्रा०)<चतुष्पट (संस्कृ०)]।

चौपतिया—(सं०) (१) कपास या किसी दूसरे बीज के अंकुर की तीसरी स्थिति, जिसमें चार पत्ते निकलते हैं (उ०)। पहली स्थिति में बीज से केवल अंकुर निकलता है और दूसरी स्थिति में अंकुर से दो पत्ते। (२) चार पत्तोंवाला अंकुर। पर्या०—चरपतिया, चरपतियो (द० भाग०), चउपतिया।

[चौ+पतिया<चातुष्पत्रिक-(संस्कृ०), चउपत्तिअ (प्रा०)]।

चौपाल—(सं०) ग्रामीण जनों, के उठने-बैठने या पंचायत आदि करने के लिए बना खुला स्थान ।
 चौपाल < चउपाल < चतुष्पाद, चतुष्पाल (?); चौपाल, चोपारा (हि०)] ।

चौबगली—(सं०) खेत के बीच चारों ओर से लंब-गोल आकार की जुताई (चंपा०, गया) । दे०—चौकेठा ।
 [चौ+बगल+ई; चौ<चउ<चतुर्+बगल (अ०)]

चौबटिया—(सं०) वह स्थल, जहाँ चार सीमाएँ, मेंड़ें या मार्ग आकर मिलते हैं । दे०—चौमुख ।
 [चौ+बटिया < चतुर्वाट-, < चातुर्वर्त्मन; चुवाट (कश्म०) ; चौबाटो (ने०) ; चौबाटा (कुमा०); चौबाटो (सिं०); चौपाटे (गु०)=चारो ओर; चौबाटा (मरा०)] ।

चौमंडी—(सं०) खेत की चौड़ाई की ओर से की जानेवाली जुताई (द० भाग०) । दे०—फारनी ।
 [चौ+मंडी (?)] ।

चौमसिया—(सं०) माघी फसल के काटने के बाद रोपा गया ऊख (सं० द०) । दे० चौमास ।
 [चौ+मसिया<चातुर्मास्य-] ।

चौमांस—(सं०) वह जमीन, जिसमें बीज बोने के लिए चास की जाती है (सं० उ०) । दे०—बिढ़ार ।
 [चौ+मांस<चातुर्मास्य-चतुर्मास-]।

चौमांस जोतल—(मुहा०) (१) अगली वर्षा में बोने के लिए माघ महीने में जमीन को जोतना (पू० मैं०, चंपा०) । दे० माघड़ जोतल । (२) (सं०) माघ मास में जोती जानेवाली जमीन ।
 चौ+मांस+जोतल; चौमांस<चातुर्मास्य, जोतल< युक्त (संस्कृ०); जुत्त (प्रा०); जोत (बिहा०, हि०); <√युज्+त (=क-प्र०)] ।

चौमास—(सं०) (१) वह खेत, जो वर्षा ऋतु में आबाद नहीं होता, लेकिन जोता जाता है । पर्या०—पलिहर । (२) ऊख रोपने के पहले खेत में माघी फसल के बोने की प्रक्रिया (सं० द०) । दे०—जरी । **चौमसिया** (सं०) माघी फसल काटने के बाद रोपा गया ऊख । (३) गेहूँ आदि फसल के लिए अच्छी तरह सावधानी से जोती-कोड़ी जानेवाली जमीन । मिला०—खिट्टा या खीटा । दे० पलिहर । (४) वर्षा और शरद् के चार मास, जिनमें आषाढ़ शुक्ल एकादशी से कार्त्तिक शुक्ल एकादशी तक के चार मास का समय होता है ।
 [चौ+मास<चातुर्मास्य-<चातुर्मास-(संस्कृ०); चातुर्मास्स, चतुमास (प्रा०); चाउमासी, चतुमास (प्रा०); चौमास (हि); चौमास, चौमासा (ने०)=भादो से लेकर चार मास का समय, चौमाहा, चुमाहा (पं०)=चार महीने का वेतन; चोमासु (गु०)=बरसात; चौमास (मरा०)] ।

चौमुख—(सं०) (१) वह स्थल, जहाँ चार सीमाएँ, मेंड़ें या मार्ग आकर मिलते हैं (सा०-१) । पर्या०—चौबटिया, चौराहा, चौपड़ (चंपा०, द० पू० मैं०) । (२) उपनयन, विवाह आदि संस्कारों के समय कलश पर जलाया जानेवाला वह दीपक, जिसमें चार मुँह होते हैं या चार बत्तियाँ जलती हैं । (वि०) चार मुखोंवाला ।
 [चौ+मुख < चतुर्मुख; चतुमुख (पा०), चउमुख (प्रा०)] ।

चौर—(सं०) (१) नीची और दलदली जमीन । (२) वह विस्तृत और गहरा भूखंड, जहाँ बाढ़ के समय नदियों का या वर्षा का पानी जमा हो जाता है (मुं०-१ । (३) चरागाह (दर०-१) ।
 [दे०- चौर, मिला० चौर (हि०)=जंगल के बीच खुली जगह; चौर् (ने०)=मैदान, चरागाह; चौड़ (कुमा०)] ।
 (४) अन्न रखने के लिए जमीन में बनाया हुआ गड्ढा (द० पू० मैं०) । दे० खाद ।
 [< चत्वर [illegible]

चौरस—(वि०) [illegible]तल जमीन या पटरा आदि (चंपा०-१) ।
 [चौर+अस; चौ+रस<चतुरस्र;चउरस (प्रा०)] ।

चौराहा—(सं०) वह स्थल, जहाँ चार सीमाएँ, मेंड़ें या मार्ग आकर मिलते हैं । दे०—चौमुख ।
 [चौ+राहा < चौ (हि०)+ राहा (फा०) चौ< चतुर् (संस्कृ०); राहा<राह (फा०)] ।

चौरहा—(सं०) (१) वह भूमि, जिसका भूमि-कर चावल के रूप में चुकाया जाता हो । दे०—मनखप । (२) उपज के लिए लगनेवाला एक निर्धारित कर, जो चावल के एक निश्चित परिमाण के रूप में दिया जाता है (गाइड०) ।
 [चौरा+हा (प्र०) < चाउर < चावल; तण्डुल (संस्कृ०) ।

चौरिया—(सं०) वह आम, जो कच्चा खाने में भी मीठा लगे (मुं०-१) । (वि०) दूध-जैसा उजला ।
 [संभ०—चउँरी < चमरी < श्वेत पुच्छवाली पहाड़ी गाय, याक वा < चाउर < चावल] ।

चौलइ—(सं०) दे०—चउइ ।

चौलहा—(सं०) चावल के रूप में दिया जानेवाला भूमि-कर (पट०-१) ।

चौहद्दी—(सं०) किसी स्थान या खेत के चारों ओर की सीमा-(सा०-१, गाइड०)।

[चौ+हद्दी <चौ (हि०)<चतुर् (संस्कृ०)+हद्दी (फा०)]।

छ

छकड़ा—(सं०) (१) छह दाँतोंवाला वयस्क बैल। दे०—छदाँत। (२) बैलगाड़ी। बड़ी गाड़ी, जिसे छह बैल खींचते हैं।

[छकड़ा<शकट्य-(गाड़ी के योग्य बैल); छकड़ा< छकड़ा, सकड़ (प्रा०) < शकट, शकट्य=गाड़ी में जोते जाने योग्य बैल। वा छक+ड़ (प्र०) < छक < षट्क (?)। प्राचीन संस्कृत में शकर-(=बैल) और शकरी (=गाय) प्रयुक्त हुए हैं—ह्वर्ग०, अथर्व०। अतः, प्रतीत होता है कि वैदिक भाषा से सीधे लोकभाषा में छकड़ा, छकड़ी शब्द चले आये हैं। अतः, छकड़ा < शक्वर- <√ शक्+वरच् (शक्ति-संपन्न); छकड़ी < शक्वरी<√शक्+वरच्; छकड़ा (ने०)=माला का एक प्रकार प्रक्षेप, छकड़ा (बँ०)=छह का समूह; छकड़ी (हि०); छक्कड़ (पं०)=छह पाई; छकड़ी (गु०)= छह का समूह; सकड़ा (मरा०)। ये सभी शब्द मध्यकालीन भारो० भाषा के (ड़) के आगम के साथ<षट्कः निर्मित है, जिसका अर्थ है—छह संख्या। छक्कन (पा०, प्रा०); छक्का (बँ०)—छह संख्यावाला ताश का पत्ता; छक्का (हि०, पं०), छक्को (गु०); सक (मरा०)]।

छकड़ी—(सं०) छह दाँतोंवाली वयस्क बाछी। दे०—छह दाँत।

[छकड़ा+ई (स्त्री० प्र०) <छकड़ा<सकड़ (प्रा०) < शकट (संस्कृ०) (लाक्ष०) वा < शक्वरी। दे०—छकड़ा]।

छकनी—(सं०) हाथ में लेकर चलने या मवेशियों के चलाने की सीधी पतली छड़ी (द० भाग०)। दे०—छड़ी।

[छक+नी (प्र० ?) < छक < शङ्कु-(?)=कील, छड़ी वा < शङ्कन-(=डरानेवाली वस्तु) <√ शङ्क् (शङ्कते, शङ्कयति)]।

छकुनी—(सं०) मवेशियों को हाँकने के लिए प्रयुक्त छोटी छड़ी; जिसमें चाबुक लगा रहता है। दे०—छाकुन।

[छकु+नी (प्र० ?)<छकु<शङ्कु—? वा<शङ्कना (=डरानेवाली)<√शङ्क् (शङ्कते, शङ्कयति)]।

छक्कड़—(सं०) छह दाँतोंवाला वयस्क बैल। दे०—छदाँत।

[छक्कड़<शक्वर-। दे०—छकड़ा]।

छगँड़बल—(क्रि०) पेड़-पौधों को ऊपर से काटना या उसकी डाल काटना (चंपा०-१)।

छगराएल—(क्रि०) बकरी को संगम की इच्छा होना (प०)। (वि०) संगमेच्छुक बकरी।

[छगर+आएल (क्रि० प्र०)<(छागल की कामना करना)<छगर<छागल, छगल-(=बकरा)]।

छगरी—(सं०) दूध देनेवाली छोटी जाति की एक मादा पशु, बकरी, छागर का स्त्री०। दे०—छेरी।

[छगर+ई (स्त्री० प्र०) < छगर < छागल, छगल-]।

छटँकी—(सं०) एक सेर के सोलहवें भाग की तौल।

[छ+टँकी < छ+टाँक, छ (षोडश=सोलहवाँ)+ टाँक<टंक<टंकन; वा छट+अंक<षट्+अंक-]।

छटाँक—(सं०) (१) पाँच तोले या एक सेर के सोलहवें भाग के बराबर की तौल। दे०—कनवाँ। (२) एक आने का सोलहवाँ भाग। दे०—छदाम।

[मिला०—छटँकी]।

छड़ियाएल—(क्रि०), झुंड में से निकालकर पशुओं को गाँव की ओर ले जाना (द० भाग०)। दे०-निकासल।

[छड़िया+आएल (क्रि० प्र०)<छाँटल (बिहा०), छाँटना (हि०) < चटन-(संस्कृ०) = खंडन, यथा-उच्चटन, उच्चाटन <√ चट्]।

छड़ी—(सं०) हाथ में लेकर चलने या मवेशियों को हाँकने की सीधी-पतली लकड़ी। पर्या०—गोदी (प०), छाकन (चंपा०, उ० प० मै०), छकनी (द० भाग०)।

[छड्डिका (देशी), यष्टि-(संस्कृ०)]।

छतना—(सं०), वह टूटी हुई टोकरी, जिसका मुँह फैल गया हो (पट०, गया)। दे०—छितनी।

[छतना < छत+ना (प्र०) < छत्र-< छत्राक-(?); छाता (हि०), छतौना (अव०), < छत्र-]।

छतावल—(क्रि०), किसी हल्की चीज का पानी में तैरने लगना या ऊपरवाली सतह पर ही स्थित रहना, डूबना नहीं (चंपा०-१)।

[छत+आवल (प्र०) < छद<√छद् (?)]।

छतिवन—(सं०) एक प्रकार का पेड़। सप्तपर्णी नामक एक वृक्ष (चंपा०-१)।

[छति+वन < सप्तपर्ण+ई (संस्कृ०), छत्तिवण्ण (प्रा०)]।

छत्तरभंगुर—(सं०), वह बैल, जिसका डिल्हा (ककुद्) हिलता चलता है और एक ही ओर गिरता है। यह बैल का ऐब है (सा०-१)।

[छत्तर+भंगुर<छत्र (उपलक्ष०)=ककुद)+भङ्गुर-]।

छत्ता—(सं०) (१) महुए के फूल का छत्ता। पर्या०—कोँच। (२) एक प्रकार का छत्राकार बरसाती क्षुप। (३) कपड़े आदि का बना बरसा आदि से बचानेवाला साधन-विशेष।
[< छत्र-<छत्र, छत्राक-]।

छदंत—(सं०) छह दाँतोंवाला पशु (दर०-१, पूर्ण०-१)।
[छ+दंत < षड्दन्तः षोडन्]।

छदाँत—(सं०) छह दाँतोंवाला वयस्क बैल। पर्या०—छक्कड़, छकड़ा (पु०), छकड़ी (स्त्री०)। लोको०—गुड़ल बरधा छकड़ी—जैसे ही बैल मरा (दुर्वचन है) कि वह छकरी हुआ।
[छ+दाँत<षड्दन्त-]।

छद्दर—(सं०) छह दाँतोंवाला बैल (पाप०)।
[छद+दर-<षड्+दन् (=दन्त)]।

छद्दरी—(सं०) (पट०-१)। दे०—छद्दर।

छनौटा—(सं०), ऊख के खौलते हुए रस के झाग या मैल को निकालनेवाली लोहे की बनी चौड़ी छिछली कलछी; जिसमें बहुत-से छेद रहते हैं। पर्या०—पौना, झँझरा (पट०, गया)।
[छन+औटा (प्र०), छन < छानल (बिहा०) <छानना (हिं०)<छादन < √छद् (अपवारणे)]।

छन्ना—(सं०) (१) नील को छाननेवाला कपड़ा। पर्या०—चद्दर (द० प० मैं०)। (२) वह बरतन, जिसमें कोल्हू से ऊख का रस चूता है। दे०—खोरा। (३) कोल्हू से जिस बरतन में रस चूता है, उसके ऊपर रखा जानेवाला छेद किया हुआ मिट्टी का बरतन या टोकरी। पर्या०—रसछन्ना, छेनी, तरौड़ी (सा०, चंपा०), छिट्टा (पू० मैं०), छिरहिरा (शाहा०), डलिया (द० मुं०)।
[छन्ना-<छानल (बिहा०), < छानना (हिं०)< छादन< √छद् (=अपवारणे) अथवा<छरण]।

छप-छप—(क्रि० वि०) किसी वस्तु के काटने या जल में तैरने की छप-छप की ध्वनि (सा०-१)।
[अनु०]।

छपटल—(क्रि०) पेड़-पौधों के ऊपरी भाग या उसकी डाल-टहनी आदि को काटना। पर्या०—कतरल। छर्वेड़वल (चंपा०)।
[छपट+ल (प्र०) < छपट < छप< √छप्> छपयति]।

छपटा—(सं०) (१) धान के पौधों को खानेवाला लंबी आकृति का एक हरा कीड़ा (उ० प०)। पर्या०—पचकट्टा, पतकट्टा (मैं०)। (२) एक प्रकार का कीड़ा, जो धान के पौधों को काट डालता है (चंपा०-१)।
[छपट+आ (प्र०) <छपटल (बिहा०),< छप्< √छप् (छपयति)-?]।

छपरबंद—(सं०) गाँव में स्थायी रहनेवाला रैयत। पर्या०—डिही (उ० पू० मैं०), देही (पट०, गया), बारीवस्त (द० पू०)।
टि०—काश्तकार दो प्रकार के होते हैं—एक स्थायी रहनेवाले, दूसरे अस्थायी। दे०—पाहीकाश्त।
[छपर+बंद<छप्पर<छदिपर्ण=बंद<बंध-]।

छपुआ रसीद—(सं०) जमींदार से मिलनेवाली छपी हुई रसीद (पट०-१)।

छप्पन छुरी—(सं०) चीनी-मिल का एक विशेष यंत्र (रो०)।

छप्पा—(सं०) टप्पा किया हुआ गीली मिट्टी का एक गोल पिंड, जो बुरी नजर से बचाने के लिए अनाज की राशि के ऊपर कभी-कभी गोबर के बदले रखा जाता है। दे०—चापल।
[छप्पा<छाप<छापल (बिहा०), छापना (हिं०)]।

छरका—(सं०) बाँस की पतली करची (चंपा०-१)।

छरकी—(सं०) (१) जलाशय या अहरे का बाँध (द० पू० मैं०)। दे०—अहरा। (२) चाबुक (पट०, गया)। दे०—चाबुक। (३) बाँस की पतली करची (चंपा०-१)।
[छर+की (प्र०) < छड़ी < छड्डी (प्रा०), यष्टि-(संस्कृ०)]।

छरछरावल—(क्रि०) (१) ढेर लगा देना। (२) छर-छर कर गिराना (मुं०-१)। (३) नमक आदि किसी क्षार पदार्थ के घाव या कटे स्थान पर लगने से कष्ट होना।
[अनु०, या छर+छर+आवल (प्र०)<छर+छर <छर<क्षर< √क्षर् (?)]।

छरहर—(सं०) (१) खेत में थोड़ा-थोड़ा पानी होना, विशेषकर धान के बीज के उखाड़ने के समय (चंपा०-१)। (२) पेड़-पौधों का दूर-दूर पर होना। (वि०) लंबा पतला व्यक्ति या वस्तु।
[देशी]।

छराही—(सं०) बारीक कंकड़ी मिली हुई कड़ी मिट्टी (द० पू० मैं०)। दे०—अकराह।
[छर+आही (प्र०) < छर—कण]

छलका—(सं०) दे०—छिलका (गाइड०)।

छल्ला—(सं०) (१) कुएँ और कूँड़ की रक्षा के लिए कुएँ के मुँह पर रखी गई चमड़े की बनी एक विशेष वस्तु (सा०-१)। (२) भार ढोनेवाले बैलों की पीठ पर रखी जानेवाली बोरे आदि की गद्दी (गं० द० पू०)। दे०—पन्हेली।
[मिला०—छल्लि=वल्कल, छाल]।

छल्ला बखरा—(सं०) भार ढोनेवाले बैलों की पीठ पर रखी जानेवाली टाट आदि की बनी गद्दी (सं० द० प०)। दे०—कन्हेली।
[छल्ला+बखरा; मिला०—छल्ला]।

छल्ली—(सं०) अनाज आदि से भरे बोरों की तह। छल्ली लगावल (मुहा०)—भरती बोरों को तह करके या एक पर दूसरे को चढ़ाकर एक सिलसिले से रखना।
[मिला०—छल्ला]।

छवघर—(सं०), वह बैल, जिसके छह दाँत हो गये हों (सा०-१)।
[छव+घर<छव<षट्, घर<√ धृ]।

छवन्नी—(सं०), प्रति रुपया छह आना वार्षिक ब्याज।
[छव+अन्नी<छव<षट्, अन्नी<आना<आणक; आणो]।

छहट्टा—(सं०) खेत का वह स्थान, जहाँ पेड़ आदि की छाया के कारण अच्छी फसल नहीं उपजती हो (मुँ०-१)।
[छह+ट्ठ<छाया+अट्ट]।

छहलल—(क्रि०), चिकनी चीज पर किसी चीज के पड़ने से उसका फिसल जाना (चंपा०-१)।
[छहल+ल (प्र०) < छरण, खरण (प्रा०) < क्षरण<√क्षर्]।

छहलाउ—(वि०), चिकना स्थान, जहाँ से कोई चीज फिसल जाय (चंपा०-१)।
[छहल+आउ (प्र०) < छहल<छहलल]।

छहा—(सं०) वह अन्न, जिसमें दूसरी किस्म का अन्न मिला हो (चंपा०-१)।
[देशी]।

छाँकल—(सं०) (१) किसी बहती हुई वस्तु को पानी से बाहर निकालना (मुँ०-१)। (२) शरबत आदि तरल वस्तु को कपड़े आदि से छानना।
[छाँक+ल (प्र०); छानना (हिं०)। संभ०—< शलाका=पक्षी आदि के पकड़ने की लग्गी (मो० वि० डि०)=शलाकयति]।

छाँछ—(सं०) (१) वह हलकी जमीन, जो अपनी उपजाऊ शक्ति खो चुकी होती है (गया)। दे०—झूस। (२) मक्खन निकाला हुआ मट्ठा।
[मिला०—छच्छिका (संस्कृ०)=पनीर, मक्खन निकाला दूध या दही]।

छाँटल—(क्रि०) (१) फसल के डंठल से अनाज निकालने के लिए दूसरी दौनी करना (प०)। दे०—डँटी दाँवल। (२) एक बार कूटे हुए चावल को दुबारा हल्के कूटना, जिससे उसमें सफेदी आ जाय। (३) मिली वस्तुओं को अलग-अलग करना। (४) पेड़-पौधों की शाखा आदि काट-छाँटकर उन्हें साफ करना।
[छाँट+ल (प्र०); छाँटना, छाँटना (हिं०) < √ चटन< √चट्=अलग करना, तोड़ना या <शदन< √शद्=अलग करना, आघात करना]।

छाँद—(सं०) वह रस्सी, जिससे पशुओं के दोनों पैर बाँध देते हैं, ताकि वे भाग न सकें। दे०—छान।
[छाँद<छन्द; √छन्द्=रोकना, बाँधना]।

छाउर—(सं०) (१) राख, भस्म। दे०—राख। (२) राख (चंपा०-१)। (३) खाद।
[छाउर<छार; (उ की श्रुति के साथ) (?)]।

छाउर पटायल—(क्रि०), खेतों में राख की खाद देना (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[छाउर+पटायल; छाउर<छार; पट+आयल (प्र०) <पट < पाट (?) < पाटयति]।

छाकुन—(सं०) मवेशियों के हाँकने के लिए छोटी छड़ी, जिसमें चाबुक लगा रहता है। पर्या०—छकुनी, छिटकन (द० प० शाहा०), पिटौर (गया)।
[देशी]।

छागर—(सं०), एक प्रकार का बकरा, जो साँड़ की तरह स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है (उ० पू० मैं०)। पर्या०—बोकड़ा (उ० पू० मैं०), बोका (चंपा०, प०) बोतू (पट०, भाग०), बोतो (द० पू० वि०), बीयड़ (द० प० शाहा०), विअहन (शाहा० के शे० भा०)।
[< छागल]।

छाड़न—(सं०) (१) नदी की धारा बदल जाने के कारण निकली हुई वह जमीन, जहाँ पहले धारा बहती थी (चंपा०-१, पट०-१)। (२) परित्यक्त वस्त्र। (३) रेतीली भूमि के बीच स्थित जल का प्रदेश (सा०-१)। दे०—डाब। (वि०) परित्यक्त।
[छाड़न<छर्दन (संस्कृ०); छड्डन (प्रा०)]।

छाड़ा—(सं०) ऋण के रूप में लिये गये अन्न के बीज पर दिया जानेवाला सूद (पट०)। दे०—आधी।
[देशी]।

छान—(सं०) (१) विशेष प्रकार से बँटी हुई डोरी, जिससे मवेशियों के अगले दोनों पैर बाँधे जाते हैं (मुँ०-१)। (२) मवेशी को खूँटे से बाँधने के लिए विशेष प्रकार की रस्सी। पर्या०—गूड़ा (उ० प० मैं०, गया, शाहा०), गोड़ाँव (द० प० शाहा०), गोड़ार (पट०, गया), गोड़ावन (गया, द० मुँ०), डेढ़ीराजोर (गया, उ० प० मैं०), गत्ती (द० पू० मैं०), जोर (चंपा०, उ० प० मैं०), जोरी, गोड़ानी (द० भाग०)।

(लोको०) गदहा गेलाह् सरग, छान लागले गेलैन्हि—गदहा स्वर्ग गया, तो छान भी उसके साथ ही गया, अर्थात् बेवकूफों या पीड़ितों के सुख में भी उनके साथ बंधन लगा ही रहता है। (३) वह विशेष प्रकार की रस्सी, जिससे पशुओं का भागना रोकने के लिए उनके पैर बाँधे जाते हैं।

[< छन्द]।

छानन—(सं०) (१) नहर या पैन आदि का मुँह खोलकर जमीन की सतह से ऊँचे जलप्रवाह के द्वारा खेत को पानी में डुबाकर की जानेवाली निरंतर सिंचाई (पट०, गया)। दे०—अपटा। (२) किसी नाली के बिना खेतों के मार्ग से ही पानी ले जाकर पटाने की प्रक्रिया (गाइड०)। (३) किसी तालाब या सरोवर आदि से पटाया हुआ खेत (सा०, पट०)। पर्या०—फोर (द० प० शाहा०, मं० द०—कहीं-कहीं), मेलवानी, मेलानी (द० भाग०), छिट्टा।

[<छानन<छन्दन, या छादन-?]।

छानल—(क्रि०) (१) एक विशेष प्रकार की रस्सी से मवेशियों के अगले, दोनों पैरों को बाँधना। (२) नदी आदि की धारा से किसी वस्तु को निकालना। दे०—छाँकल। (३) शरबत आदि तरल पदार्थ को कपड़े आदि से छानना। (वि०) छान लगा हुआ मवेशी। पानी से निकाली हुई वस्तु। छाना हुआ तरल पदार्थ।

[छान+ल (प्र०) <छान <छन्द <√ छदि]

छान्ह—(सं०) वह छोटी रस्सी, जिससे घोड़ा या घोड़ी के अगले दोनों पैर बाँध दिये जाते हैं और उसे चरने को छोड़ दिया जाता है, जिससे वह कहीं भाग न जाय (चंपा०-१)। दे०—छान।

[< छन्द, छन्दन]।

छापा—(सं०) (१) पशुओं को रोककर रखने के लिए लकड़ी आदि का बनाया गया घेरा (द० मुं०)। दे०—घेरान। (२) माँग की पूर्ति न करने पर जमींदार के द्वारा खेत या खलिहान में किसान के अनाज को रोक रखने की प्रक्रिया (उ० प०)। (३) छापा मारना। (४) किसी प्रकार की मुहर या ठप्पा।

[<छापक, छपन (२) <√छप्]

छापी—(सं०) (१) पत्तों का बना छाता (चंपा०-१)। (२) एक टोकरी घास का ढेर (चंपा०-१)।

[<छाप <√छप्]।

छारन—(सं०) (१) वह स्थान, जिसे नदी की धारा छोड़कर दूसरी जगह चली गई हो। (२) किसी नदी की धारा के हट जाने के बाद फिर से निकली हुई जमीन। पर्या०—दीयर, दियरा, दिअरा (पट०, चंपा०), दीला (द० प० शाहा०) दीरा (द० मुं०),। (३) नदी का सूखा हुआ तल। पर्या०—मरन (उ० मै०), बोड़ (पट०, शाहा०), भोर (द० प० शाहा०)।

[< छर्दन (संस्कृ०); छड्डुन (प्रा०)]।

छारल—(क्रि०) (१) छौनी करना। (२) भर देना (मुं०-१)। दे०—छावल। (वि०) छौनी की हुई या भरी हुई वस्तु।

[छार+ल (प्र०) < छार < छाद <√छद्]

छारी—(सं०) घास-पात जलाकर बनाई हुई खाद (द० भा०)। दे०—खादर।

[< छार-]

छाली—(सं) (१) पकाये जा रहे ऊख के रस का फेन (री०)। पर्या०-फेन (मग०), महिया (भोज०)। (२) दूध के गरमाने पर ऊपर जमी मलाई।

छावल—(क्रि०) किसी घर के ऊपर छप्पर डालना (चंपा०-१)।

[छाव+ल (प्र०) <छाव <छाद् <√छद्]।

छाही—(सं०) एक प्रकार का छप्पर, जो मचान के ऊपर छाया के लिए बना रहता है (उ० पू० मै०)। दे०—भोंपड़ी।

[< छाया या < छदि-]।

छिटलाहर—(सं०) खेत में पानी छींटकर सींचनेवाला व्यक्ति (पट०)।

छिचनिया—(सं०) हत्थे से पानी छिड़ककर खेत को सींचनेवाला पुरुष (पट०, गया)। दे०—हथवाहा।

[छिचन+इया (प्र०) < सिचन (हिं०), सेचन (संस्कृ०) < √ सिच्]।

छिच्चा—(सं०), खेत में पानी छिड़कने का एक औजार, जिसके नीचे का भाग सूप-जैसा लकड़ी का बना होता है। उसके ऊपर बाँस आदि का डंडा लगा रहता है।

[छिच+आ (प्र०) <√ सिच्]।

छिछलहिया—(सं०) किसी नदी की धारा के हट जाने से निकली हुई जमीन (द० प० शाहा०)। दे०—तरी।

[छिछल+हिया (प्र०)< छिछला <छिछ+ला (प्र०) < छिछ < तुच्छ < तुच्छ- (?)]।

छिछलही—(सं०) छोटा या छिछला पोखरा (सा०-१)। (वि०) उथली वस्तु।

[छिछल+ही (प्र०) < छिछल- < तुच्छ < तुच्छ- (?)]।

छिछला—(वि०) उथला (चंपा०)।
[छिछ+ला (प्र०) <छिछ < तुछा <तुच्छ < तुच्छ-(?)]।

छिजल—(क्रि०) (१) धान का झड़ना। दे०—खिजल (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) किसी वस्तु का नष्ट होना।
[छिज+ल (प्र०) <छीजल < √ चि (क्षय होना); < क्षीयते (संस्कृ०); । छिज्जति (पा०); छिज्जइ (प्रा०)—(नेपा०)। छिजेर (सिंधा०)= फट रहा है। छेजुन (कश्म०)=चूकना, शांत होना। छिजना (हिं०); छिज्जणा (पं०); छिजणु (सिं०); छिज्नु (ने०)]।

छिटउआ—(सं०) पानी छींटकर सींचना (पट०-१)।

छिटकन—(सं०) मवेशियों के हाँकने के काम में आनेवाले चाबुक में लगी हुई छोटी छड़ी (द० प० शाहा०)। दे०—छाकुन।
[देशी]।

छिटका—(सं०) (१) बँधे हुए पानी के निकास का बाँध, जिसे काट देने से फालतू पानी बह जाता है (मुं०-१)। (२) छींटा।
[छिटका < छिटकल (बिहा०); छिटकना (हिं०) < क्षिप्तक < √ क्षिप्]।

छिटकी—(सं०), छींटा (चंपा०-१)।
[छिटका+री (अल्पा० प्र०) <क्षिप्तक <√क्षिप्, खित्त, छित्त (प्रा०)]।

छिटल—(क्रि०) (१) फसल के बीज को छींटकर बोना (दर०-१)। पर्या०—छींटल। (२) छींटना। बीज बोना। पर्या०—चुलाएल। भदई या शारदीय अनाज के बोने के लिए भी प्रयुक्त होता है। (३) छींटना, बीज का बोना।
[छिट+ल (प्र०) <क्षिप्त <√क्षिप्; छींटना (हिं०); छिट्नु (ने०); छिटा (बँ०); छिराइबा (ओ०); छिलर्ना (पं०)=बिखर जाना; छिलरावणा (पं०)= बिखेरना; छिट्णु (सिं०)=छींटना]।

छिटा—(सं०), धान के खेत में छींटकर बोये जानेवाले खेसारी, चना, सरसों आदि अनाज (गाइड०)।

छिटि—(सं०) पैने में चाबुक की तरह बँधी रस्सी (उ० पू० मैं०)। दे०—पैन।
[देशी, वा संभ०— < क्षिप्ति- (संस्कृ०); छिति, खिति (प्रा०)]।

छिटि—(सं०) चाबुक (उ० पू० मैं०)।
[देशी, वा संभ० – < क्षिप्ति- (संस्कृ०), छित्ति; खित्ति (प्रा०)]।

छिटुआ—(सं०), (१) छींटकर बोने की प्रक्रिया (गं० उ०)। दे०—बावग। (२) बिना जोती हुई जमीन में छींटकर अनाज बोने का प्रकार; जैसे, खेसारी आदि अनाज धान के खेत में बोये जाते हैं। दे०—छिट्टा (गं० द०)।
[छिट+उआ < छिट्टा < छिटल (बिहा०), छींटना (हिं०)<क्षिप्त <√ क्षिप्]।

छिट्टा—(सं०) (१) फावड़े-जैसे फलकवाली लकड़ी की बनी वस्तु, जिसमें लंबा डंडा लगा रहता है और जो खेतों में पानी पटाने के काम में आता है। नाली के द्वारा खेतों में छोटे गड्ढे में पानी एकत्र किया जाता है और उसे छिट्टा से उपछकर खेत सींचा जाता है (द०-भाग०)। दे०—हत्था।



[< छिटल बिहा०), छींटना (हिं०) < क्षिप्त <√ क्षिप्]।
(२) कोल्हू से जिस बरतन में रस चूता है, उसके ऊपर रखा जानेवाला छेद किया हुआ मिट्टी का बरतन या टोकरी (पू० मैं०)। दे०—छत्ता। (३) किसी तालाब या सरोवर आदि से पटाया हुआ खेत। दे०—छानन। (४) बिना जोती हुई जमीन में छींटकर अनाज बोने का प्रकार। जैसे, खेसारी आदि अनाज धान के खेतों में बोये जाते हैं। पर्या०—छिटुआ (गं० द०), जँगली बावग; पैरा (गया, चंपा०) पाएर; समार (पट०, द० मुं०)। छींटा, छिट्टा (सं०) वह जमीन, जिसमें एक बार जोतकर बीज छींट दिये जाते हैं। जाड़े की फसल (धान) काटकर उस (दोफसिला) जमीन में बोई जानेवाली रबी की फसल। मिला०—पलिहर या चौमास, जो गेहूँ आदि के बोने के लिए बहुत सावधानी के साथ जोती-कोड़ी जाती है। (५) छींटकर बोने की प्रक्रिया। दे०—बावग (गं० उ०)। (६) टोकरा; बड़ी डलिया। (वि०) छींटी हुई वस्तु।
[< क्षिप्तक<√ क्षिप्]।

छिट्टी—(सं०), (१) नमक बनानेवाली कोठी के ऊपर के ढक्के पर फैलाई हुई घास आदि। दे०—छत्ता। (२) टोकरी, डलिया।
[देशी, मिला०—क्षिप्त<√क्षिप्]।

छितना—(सं०) वह पुरानी टोकरी, जिसका मुँह फैल गया हो (द० भाग०)। दे०—छितनी।

[< छितरावल (बिहा०), छितराना (हि०) <छिप्त (=ई)+करण]।

छितनार—(वि०) चौड़े मुँह का बरतन आदि (चंपा०—१)।

[छितना+र (प्र०)<छितरायल (बिहा०), < छिन्न-<√छिद् (?)]।

छितनी—(सं०) वह पुरानी टोकरी, जिसका मुँह फैल गया हो। पर्या०—छतना (गया), छितना (द० भाग०)।

[छित+नी (प्र०) < छित-(?); छिद्र-(संस्कृ०); छित्त, छित्त (पा०)]।

छिनवा—(सं०) मोट के पानी को खाली करनेवाला मनुष्य (द० प० शाहा०)। दे०—डूरनिहार।

[देशी]।

छिप—(सं०) बाँस आदि का या किसी दूसरे पौधे का उपरला भाग (भाग०-१)। पर्या०—छीप।

छिपकट्टा—(सं०) डंठल के बिना ही अनाज की बाल की कटाई (प० पू० मैं०)। दे०—बलकट।

[छिप+कट्टा; छिप<छीप संम०<शिफा (=पौधों की जड़। शाखा; केशों का गुच्छा) या < शिप-(शाख, नाक)? कट्टा < काटल (बिहा०); काटना (हि०) <√कृत्]।

छिमड़ी—(सं०) छीमी (मुं०-१)।

[छिम+ड़ी (प्र०) < शिम्बि-(संस्कृ०), छीमी (हि०)]।

छिमड़ी, छीमड़ी—(सं०), रहर या किसी दूसरे दलहन अनाज की फली (पू०)। दे०—ढेँढ़ी।

[छिम+ड़ी (प्र०) < शिम्बि-(संस्कृ०), छीमी (हि०)]।

छिमड़ा—(सं०) डाभी घास के ऊपर निकलनेवाले उसके फूल का वह अंश, जो कपड़े आदि में गड़ जाता है (मुं०१)।

[छिम+रा (प्र०) < छिम<शिम्बि-(?)]।

छिमी—(सं०) किसी दलहन फसल की फली। इसमें उस फसल के दाने रहते हैं और फली या छीमी के अंदर फल रहता है (चंपा०-१)।

[छिमी < शिम्बि-; (संस्कृ०) छीमी (हि०)]।

छिमोई—(सं०) एक पशु-खाद्य घास (द० मुं०)। दे०—छिमोई।

[देशी]।

छिरकनी—(सं०) जोतने के बाद पानी पटाया हुआ खेत (प०)। पहले पानी छिड़ककर खेत सींचे जाते हैं, जिससे मिट्टी मुलायम हो जाती है। पर्या०—पनौआ (द० प० शाहा०), पनौला (शाहा०)।

[छिरकन + ई (प्र०) < छिरकल (बिहा०); छिरकना (हि०) < क्षरण<√क्षर्]।

छिरकल—(क्रि०) पानी छिड़ककर खेत सींचना, पानी छिड़कना।

[छिरक+ल (प्र०) < छिरक < क्षरक<क्षरक <क्षर+क <√ क्षर् (?)]।

छिरयावल—(क्रि०) छींट देना। बिखेरना (मुं०—१)।

[छिर+यावल (प्र०); छिर् < संम० - <√ शृ (=बिखरने) या <√ क्षप् या <√क्षर्]।

छिरहिरा—(सं०), ऊख के कोल्हू से जिस बरतन में रस चूता है, उसके ऊपर रखा जानेवाला छेद किया हुआ मिट्टी का बरतन या टोकरी। इससे छनकर रस नीचे नाद में जमा होता है (शाहा०)। दे०—छाबा।

[देशी]।

छिरिकनी—(सं०) दे०—छिरकनी।

छिरियावल, छिरयावल—(क्रि०) दे०—छिरयावल।

छिलका—(सं०) (१) नदी-नालों में बाँधा जानेवाला ऐसा बाँध, जिसके ऊपर से पानी बह सकता हो (पट०-१)। (२) फल आदि का उपरला भाग, छाल या छिलका (पट०-१)। (३) आहर, पैन या बाँध आदि में बनाया गया पक्का ढालू और छिछला पुल या बाँध, जिसके ऊपर से पानी बहता है। इस तरीके से आहर आदि का उतना ही पानी बाहर जाता है, जितना कि उस पुल या बाँध से ऊपर होता है (गाइड०)।

छिलल—(क्रि०) (१) छीलना। (२) किसी पदार्थ के ऊपर के भाग को काटकर अलग करना। (३) खेत से घास आदि को छीलकर निकालना।

[छिल+ल (प्र०) <√ शॄ (बिखरने) अथवा <√ छल्ल (पा०) <√ तक्ष् (संस्कृ०) या <√ शील् (=साफ सुथरा करना, संस्कृत करना)। मिला०—छल्लि (संस्कृ०) = छाल, छिलना (हि०); छिल्नु (ने०); छिला (बँ०); छिल (पं०)= छिलका; छिल, छिलु (सि०)=छिलका, छिलवूँ (गु०), छिलण (मरा०)]।

छिल्ला—(सं०) (१) खुरपी से छीलकर एकत्र की गई घास (दर०-१, पूर्णि०-१, मुं०-१)।

[छिल्ल+आ (प्र०]<छिलल (बिहा०),<छिलना (हि०); मिला०—छिलल]।

छिल्ला गड़ल—(क्रि०) घास छीलना या खोदना (मुं०-१)।

छींचल—(क्रि०) (१) थोड़े पानी से सींचना। (२) खेत की जमीन को थोड़ा तर कर देना, जिससे मिट्टी हल्की हो जाय।

[छींच+ल (प्र०) < √ सिच् (संस्कृ०) √सिञ्च् (प्रा०); सींचना (हिं०); सिञ्चु (ने०); सिंजना (पं०); सिञ्जण (सिं०)=नम करना; सींचवूं (गु०); शींपणे (मरा०)]।

छींटल—(क्रि०) छींटना, छींटकर बीज बोना। दे०—छिटल। (वि०) छींटी हुई वस्तु।

[छींट+ल (प्र०) < क्षिप्त < √ क्षिप्, छित्त, खित्त (प्रा०), दे०—छिटल]।

टि०—रबी की फसल की बुआई में दो प्रकार व्यवहृत होते हैं। एक तो खेतों को जोत-कोड़कर तैयार करके बीज चारों ओर बिखेर दिये जाते हैं और ऊपर से आवश्यकतानुसार हेंगा दे दिया जाता है। ऐसे बोने को छिटल या छींटल कहते हैं। इस प्रक्रिया को 'छींटा' या 'छिट्टा' कहते हैं। इस प्रकार की बुआई से उपजनेवाली फसल और बीज को भी छिट्टा या छींटा कहते हैं। दूसरा प्रकार है—खेत को जोत-कोड़कर तैयार करके पुनः आगे-आगे हल चलता है और उसके पीछे उस खुदी हुई पांत में एक विशेष प्रकार की बांस की नाली द्वारा या चुटकी से एक-एक बीज के दाने को गिराया जाता है। इसे 'धारी लगावल' कहते हैं। इसमें खेसारी की बुआई छींटकर, गेहूं-जौ की बुआई प्रायः धारी लगाकर और बूंट, मटर या जौ-बुट्टा आदि की खेती दोनों प्रकार से होती है।

छींटल—(क्रि०), किसी वस्तु को बिखेरना। छींटकर बीज का बोना। दे०—छिटल।

[छींट+ल (प्र०) < क्षिप्त-]।

छींटा—(सं०) (१) छींटकर बोया जानेवाला बीज। (२) छींटकर बोये हुए बीज से उपजनेवाली फसल (मुं०-१)। दे०—छिट्टा। (३) रबी की फसल। (४) जल की बूंद।

[छींट+आ (प्र०) < छींटल (बिहा०), छींटना (हिं०) < क्षिप्त-]।

छींटा—(सं०) (१) छींटकर बोने की प्रक्रिया (गं० द०)। दे०—बावग। (२) कुआं खोदने के समय भीतर से मिट्टी निकालने का पात्र (मैं० द० मुं०)। दे०—चलना।

[देशी, वा < क्षिप्तक (?)]।

छींटा, छिट्टा—(सं०) (१) वह जमीन, जिसमें एक बार जोतकर बीज छींट दिये जाते हैं। (२) जाड़े की फसल (धान) काटकर उस (दोफसिला) जमीन में बोई जानेवाली रबी की फसल। इसकी तुलना पलिहर या चौमास से कीजिए, जो गेहूं आदि बोने के लिए बहुत सावधानी के साथ जोती-कोड़ी जाती है।

[छींट+आ (प्र०) < क्षिप्त-]।

छींट अराजी—(सं०) कभी-कभी दो या दो से अधिक भूखंड, जिन्हें मिलाकर एक महाल बनाया जाता था और जिसे सन् १८४०-५० ई० के सर्वे में एक मौजा कहा जाता था (गाइड०)।

छींटा—(सं०) दे०—छींटा। (२) बांस की कमाची का बना हुआ बड़ा टोकरा (प० बिहा०)। पर्या०—दौरा (प० बिहा०, गं० द०, शाहा०)। (३) मदक का छोटा टुकड़ा। यह चिलम में भरकर लकड़ी के कोयले की आग को चिमटे से उसमें रखकर सुलगाकर पिया जाता है। (४) जल की बूंद।

[देशी, वा < क्षिप्तक—< √क्षिप्]।

छीटी (सं०) (१) कुआं खोदने के समय भीतर से मिट्टी को बाहर निकालने का पात्र (द० पू० मैं०, उ० पू० मैं०)। दे०—चलाना। (२) कोल्हू में ऊख के टुकड़े डालने के लिए प्रयुक्त टोकरी (उ० पू० मैं०)। दे०—छैंटी। आजकल के कोल्हू के आविष्कार के पहले पत्थर या लकड़ी का कोल्हू हुआ करता था। उस समय उसमें ऊख के टुकड़े काटकर ऊपर से डाल दिये जाते थे और बीच की मथानी या मोहन उसे दबाती थी, जिससे रस निकलता था। (३) बांस की कमाचियों की बनी हुई छोटी टोकरी (प० बिहा०)। दे०—छैंटी।

[छींट+ई (अल्पा० प्र०)<छींटा<क्षिप्तक (?)]।

छीप—(सं०) (१) पतले बांस के अंत में जोड़ा हुआ लकड़ी या बांस का दूसरा टुकड़ा (पट०, द० पू०)। दे०—बंस-जोर। (२) ढेकुल में लगी लकड़ी या बांस की लग्गी (चंपा०, उ० पू० मैं०, गाइड०)। दे०—बांस। (३) ऊख के ऊपर के शिखर की पत्तियां। (४) ऊख का ऊपर का भाग। (५) चारे के लिए काटा



गया ऊख के ऊपर का हरा भाग (पू० मैं०)। दे०—अगेंड़। (६) मिट्टी ढोनेवाले मजदूरों की पंक्ति में सबसे पीछे रहनेवाला मजदूर (चंपा०)। (७) बाँस का ऊपरवाला अंश। (८) मछली मारनेवाली बंसी में लगी डंटी (चंपा०-१)।

[< + छिप्र वा < शिफा, वा < छिप्त < √ छिप्]।

छीमड़ी, छिमड़ी—(सं०) अरहर या किसी दूसरे दलहन अनाज की फली (पू०)।

[छीम+ड़ी (देशी प्र०) < शिम्बि-]।

छीमी—(सं०) अरहर या मटर आदि किसी दूसरे अनाज की फली (गया)। दे०—ढेंढ़ी।

[< शिम्बि-]।

छीरा—(सं०) एक प्रकार का कीड़ा, जो दलहन, कपास और तंबाकू के पौधों में लगकर खा जाता है (चंपा०)। दे०—कपास।

[देशी]।

छीरी—(सं०) दलहन, कपास और तंबाकू के पौधों में लगनेवाला एक कीड़ा (द० प०)। दे०—कनाठा।

[छीरा+ई, (देशी)]।

छीलल—(क्रि०) खुरपी, कुदाल आदि से घास आदि का छीलना (चंपा०)।

[मिला०—छिलब]।

छीलल-चाँछल—(सं०) वह जमीन, जो घास गढ़ लेने पर चिकनी हो जाती है (सा०-१)। (वि०) छील-छालकर चिकनी की गई वस्तु। पर्या०—छीलल-छालल।

[छीलल+चाँछल; छील+ल (प्र०) चाँछ+ल (प्रा०); छील, मिला०—छिलब। चाँछ < √ चच्छा (प्रा०) < √ तक्ष् (संस्कृ०), तक्षति < चच्छई (प्रा०)]

छीलल-छालल—(सं०) दे०—छीलल-चाँछल।

छुट्ती—(सं०) मूल्य-निर्धारण के द्वारा अन्न के बँटवारे में अन्न की कम उपज के लिए पूरक (भत्ता) रूप में राशि में से अतिरिक्त अनाज निकालने की प्रक्रिया (गया)। दे०—छूट।

[छुट+ती (प्र०); छूटल (बिहा०); छुटना (हि०) <√छुट्]।

छुटती—(सं०) (१) जमींदार की ओर से पहरेदार को ऋण की चुकती में दिया गया द्रव्य-परिमाण। (द० पू० मैं०)। दे०—दहिहक्की। (२) कम उपज होने या उपज के अभाव होने के कारण भूमि-कर में प्राप्त छूट (पू० मैं०)। दे०—माफ।

छुट+ती (प्र०) छूट <छूटल (बिहा०), छूट (हि०) < छूटना < √ छुट् (=काटना, अलग करना)]

छुटबयगन—(सं०) टमाटर (पट०-१)।

छुटल—(क्रि०) दे०—छूटल।

छुटल-पटल—(सं०) काटने के बाद खेतों में गिरी और चुनी हुई अनाज की बाली (चंपा०, मैं०)। दे०—झरेंगा।

[छुटल+पटल, छुट+ल (प्र०) +पट+ल (प्र०) < छुटित+पतित (?)]।

छुटहा—(सं०) वह पशु, जो किसी तरह की देखभाल के बिना चरने के लिए छोड़ दिया जाता है (गया)। दे०—अनेरिया।

[छुट+हा (प्र०) <छुटल (बिहा०), छूटना (हि०) < √ छुट]।

छुट्टा—(सं०) (१) वह पशु, जो किसी तरह की देखभाल के बिना चरने के लिए छोड़ दिया जाता है (द० भाग०)। दे०—अनेरिया। (२) जोती-बोई जमीन।

[छुट+आ (प्र०) < छुटल (बिहा०); छूटना (हि०) < √ छुट्]।

छुट्टा कँड्डु—(सं०) खेत से बराबर पानी निकलते रहने पर भी फसल का हो जाना (पट०-१)।

छुट्टी—(सं०) (१) ऊँची श्रेणी के काश्तकारों को मिलनेवाली भूमिकर से मुक्ति (पू० मैं०)। दे०—माफी। (२) प्रति मन पौने तीन (2¾) सेर ऊँची जातिवाले रैयतों को और दो सेर नीची जातिवाले रैयतों को दी जानेवाली उपज-कर में छूट (गाइड०)।

[छुट्टा+ई (प्र०)]।

छुरिया साग—(सं०) छुरी की आकृति का एक शाक (पट०-१)।

छुरी इंजिन—(सं०) खुप्पनछुरी नामक यंत्र को चलानेवाला इंजिन (रो०)।

छूट—(सं०) मूल्य-निर्धारण के द्वारा अन्न के बँटवारे में अन्न की कम उपज के लिए पूरक (भत्ता) रूप में राशि में से अतिरिक्त अनाज निकालने की प्रक्रिया (प० मैं०)। पर्या०—गरकी (गं० द०, चंपा०), नाबुद (पट०), छुटती (गया), गरकी परती (द० मुं०), भरकी गरकी (द० भाग०)।

[<छूटल (बिहा०); छूटना < √ छुट्]।

छूटल—(क्रि०) छूटना। कम होना। असमाप्त रह जाना। हाथ आदि से किसी वस्तु का गिर जाना। (वि०) छूटा हुआ। त्यक्त।

[छूट+ल (प्र०); छूट< √छुट् <छुट्ट <छुट्य (?)— नेपा०। छुट्टो (प्रा०); छुट्टु (जै०); छुट्नो (कुमा०); छुटिबा (अस०)=दौड़ना; छुटा (बँ०); छुटिबा (ओ०); छूटना (हिं०); छुट्टना (पं०); छुटुन (ल०); छुट्वुँ (सिं०); छुटवुँ (गु०); सुटणें (मरा०)]।

छूटल खेत—(सं०) खेत के छोटे टुकड़े, जिनमें हल न लगा हो (सा०, चंपा०)। दे०—पैस।
[छूट+ल (प्र०)+खेत]।

छूटा—(सं०) (१) चरवाहे के बिना चरने के लिए छोड़ा गया मवेशी। (२) चरने के लिए छोड़े गये भेड़, साँड़, भैंसा आदि मवेशी (चंपा०-१)।
[छूट+आ (प्र०)]।

छेंउकी—(सं०) बाँस की पतली करची (चंपा०-१)।

छेंकनिहार—(सं०) (१) माँग के अनुसार अनाज न देने पर जमींदार की ओर से नियुक्त, किसान का अनाज रोककर रखने और देखरेख करनेवाला व्यक्ति (उ० प०)। पर्या०—चकलेदार (पू० मैं०), पियादा, बराहिल, सिरमान (द० पू०), बलरखवा (द० पू०)। (वि०) (२) छेंकनेवाला, रोककर रखनेवाला।
[छेंकनि+हार (प्र०); दे०—छेंकल]।

छेंकल—(क्रि०) (१) घेरकर रखना। छेंकना। रोक रखना। रास्ता या जलमार्ग को घेरना (चंपा०-१)। (२) गोबर या खाद के निमित्त गाँव-भर के पशुओं को एकत्र रोककर रखना (भाग०)। (३) अन्न, फसल, खेत आदि वस्तु को रोककर रखना।
[छेंक+ल (प्र०) < छेंक< छेक-(२) मिला०—छेक = गृहाश्रित पशु-पक्षी—'छेको गृहाश्रितमृग-पक्षिणोः'—मेदि०। <√ छद् (अपवारणे)=ढकना, पृथक् करना)—(हिं० श० सा०)]।

छेंका—(सं०) (१) छेंकने की क्रिया या भाव। (२) खेत में उगी घास को उजरा पशुओं को नहीं चरने देना। (३) निकट भविष्य में ब्याह के लिए बात पक्की कर 'वर' को छेंक रखने की विधि (मुं०-१)। (४) वह परती जमीन, जो जानवरों के चरने के लिए सुरक्षित रहती है (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[छेंक+आ (प्र०) < छेंकल]।

छेंबका—(सं०) ऊख की पहली सिंचाई (शाहा०)। दे०—गंडासार।
[देशी]।

छेउआ—(सं०) मोरहन की अपेक्षा दूसरी श्रेणी का तंबाकू (शाहा०)। दे०—मोरहन।
[देशी]।

छेकन—(सं०) नील के दरवाजे को बंद करनेवाला।
[छेक+न (प्र०) <छेंकल]।

छेकल—(क्रि०) दे०—छेंकल।

छेका—(सं०) (१) चरागाह (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) दे०—छेंका।
[छेक+आ (प्र०) < छेंकल]।

छेजल—(क्रि०), कोड़ना, खोदना (द० प० शाहा०)। दे०—कोड़ल।
[छेज+ल (प्र०); संभ०—< √ छि (= छ्यते, छीयते—कर्मकर्त्त०); अथवा <√ छिद् (द्वैधीकरणे= अलग करना,); (छिद्यते—कर्मकर्त्त०)]।

छेजनी—(सं०) (१) कोड़नी, कोड़ने की प्रक्रिया (द० प० शाहा०)। दे०—कोड़ल, कोड़नी। (२) खुरपी या कुदाल आदि से हल्की-हल्की कोड़ाई, छिछली, कोड़ाई (द० प० शाहा०)। दे०—खुरपियान।
[छेज+नी (प्र०); संभ० < √ छि (=छ्यते, छीयते—कर्मकर्त्त०) अथवा <√ छिद् (द्वैधीकरणे= छिन्न करना, काटना, छिद्यते—कर्मकर्त्त०)]।

छेड़ी—(सं०) (१) एक प्रकार का कीड़ा। दलहन, कपास और तंबाकू के पौधों पर लगनेवाला एक कीड़ा (उ० प० मैं०)। दे०—कनाठा। (२) बकरी।
[देशी]।

छेना—(सं०) (१) लोहा आदि काटने का लगभग ढाई-तीन इंच का ठोस लोहे का बना औजार-विशेष, जिसपर हथौड़ी मारकर कोई वस्तु काटी जाती है। (२) दूध को फाड़कर बनाया गया ठोस पदार्थ, जिससे रसगुल्ला आदि तैयार होते हैं।
[छेना < छिन्न-(२) <√ छिद्]।

छेनी—(सं०) (१) ऊख के कोल्हू से जिस बरतन में रस चूता है, उसके ऊपर रखा जानेवाला छेद किया हुआ मिट्टी का बरतन या टोकरी। दे०—छुवा। (२) छेना से छोटा औजार-विशेष। दे०—छेना। (३) तंबाकू के पत्ते में छेद होने की बीमारी (दर०-१, पूर्णि०-१)। (४) बढ़ई आदि शिल्पियों का औजार-विशेष, जिससे लकड़ी, पत्थर आदि काटे जाते हैं।
[देशी, मिला०—छेना]।

छेनीधरा सड़सी—(सं०) एक प्रकार की सड़सी, जिसका मुँह बड़ा और गोल होता है। वह विशेष रूप से छेनी पकड़ने के काम आती है (री०)।

छेमी—(सं०) अरहर या मटर जैसे अनाज की फली (सं० उ०, शाहा)। दे०—ढेंढी।
[< शिम्बि—]।

छेर—(सं०) (१) बकरा। पर्या०—बक्कर, बकरा, खँस्सी, खस्सी। स्त्री०—छेरी, बकरी।
[छेर < + छेलक (संस्कृ०); छेल, छेलग, छेलअ (प्रा०)। मिला०—छगल, छगलक (संस्कृ०); बकरा (हि०); बाखो (पुं०); बाखि (स्त्री०) (ने०); बकुरा (बँ०); बकरा (ओ०); बक्करा (पं०); बकिरो (सि०); बक्रो (गु०) बका (मरा०)]।
(२) छिछला जलस्रोत (शाहा०)। निचरइन—छेर (जलस्रोत) की शाखाएँ। (३) किसी मवेशी या बकरी आदि को जरूरत से ज्यादा पतला पखाना होना (चंपा०-१)।
[संभ०—<क्षर, वा सर < √सृ]।

छेरल—(क्रि०), पतला दस्त होना (मुँ०-१)।
[संभ०—√क्षर (संचलने), वा < सर < √सृ (सरति)]।

छेरी—(सं०) दूध देनेवाला स्त्री-जाति का चतुष्पद पालतू पशु, बकरी; छेर का स्त्री०। पर्या०—बकरी, छगरी (पू०)।
[छेर+ई (स्त्री० प्र०) < छेल-, छेलक-; दे०—छेर]।

छेरुआ—(सं०) (१) बधिया किया हुआ बकरा (गं० उ०)। पर्या०—खस्सी, खँस्सी। (२) बधिया (पौरुषहीन) किया गया पशु। साँड़ का विपरीत। पर्या०—बधिया। (३) वह खस्सी या बैल आदि पशु, जिसका अंडकोष निकाल लिया गया हो (चंपा०-१)।
[छेर+उआ (प्र०) < छेल-, छेलक-]।

छेव—(सं०) (१) कुदाल से काटा गया एकबार का मृत्खण्ड। (२) आघात के लिए किसी हथियार का एक बार का प्रयोग।

छेवल—(क्रि०), (१) किसी पौधे को ऊपर-ऊपर से काटना या छाँट लेना (मुँ०)। (२) कुदाल से छिछली कोड़ाई करना।
[छेव + ल (प्र०) < छेप—< √ क्षिप्; √ क्षिप्—किसी शस्त्र से आघात करना—(मो० वि० वि०)]।

छेवा—(सं०) छेवने का काम (मुँ०-१)।
[< (?) < √ क्षिप्]।

छेहड़—(सं०) (१) पतला। अलग-अलग, विरल। (२) वर्षा आदि का कुछ कम पड़ना या बीच में रुक जाना (चंपा०-१)।
[छेह+ड़ (प्र०) < छेह < छेप वा < छिद्र (?)]।

छेहड़ा—(सं०) (१) छाया। (२) किसी चीज का कुछ-कुछ अलग रहना, विरल (चंपा०-१)।
[छेह+ड़ा (प्र०) < छाँह < छाया]।

छेहर—(सं०) दूर-दूर पर की बुआई (सामा०)। दे०—पातर।
[छेह+र (प्र०) < छिद्र- < छिद्र- (?)]।

छेहुनी—(सं०) खेत में सोहनी करते समय सबसे दाईं ओर रहनेवाला पहला मजदूर (चंपा०-१)।
[देशी]।

छैंटा—(सं०) बाँस की कमचियों का बना हुआ खुले मुँह का बड़ा टोकरा; यह विशेषतः ताल के पत्तों या चोप के साथ मिलाकर बुना जाता है। दे०—टोकड़ा।
[<छिक्कक-(?)]।

छैंटी—(सं०) (१) कोल्हू में ऊख के टुकड़े डालनेवाली टोकरी (गं० उ०)। पर्या०—छीटी (उ० पू० मै०), ओड़ी (शाहा०, पू० मै०), खैंची (शाहा०, पू० मै०), ओड़िया (द० भाग०), बट्टा (पट०), पथिया (गया)। (२) बाँस की कमचियों की बनाई हुई छोटी टोकरी। पर्या०—छीटी, दौरी (प० बि०), बट्टा (गं० द०, पट०, शाहा०), पथिया (गया, उ० मै०) खोंचिया (द० मुँ०)।
[< छिक्कक-(?)]।

छोंड़—(सं०) अन्न रखने के काम में आनेवाला मिट्टी का एक प्रकार का बरतन (शाहा०)। दे०—छोंड़।
[मिला०—छोंडि-(हि० श० सा०); < क्षोणि (?)]।

छोंड़—(सं०) अन्न रखने के काम में आनेवाला एक प्रकार का मिट्टी का बरतन (गं० उ०)। पर्या०—छोँड़ (शाहा०)।
[मिला०—छौंड़ि-(हिं० श० सा०)।<क्षोणि-(?)।

छोँड़ी—(सं०), पानी या अन्न रखने का बरतन (उ० प०)।
[मिला०—छोंड़ि (हिं०) = मथानी < क्षोणि (संस्कृ०)=बड़ा पात्र-(हि० श० सा०)]।

छोआ—(सं०), गुड़ या राब को दबाकर निकाला गया काला तरल पदार्थ। पर्या०—सिरा (द० प० शाहा०), तगार (गया), गरिया (पट०), फांक (द० भाग०) = वह छोआ, जो तंबाकू के बनाने में प्रयुक्त होता है।
[संभ०—<छोटित (=छोड़ा हुआ, निकाला हुआ <√ छुद्; छोडअ (प्रा०), अथवा < स्नुत- (=बहा हुआ) <√ स्नु]।

छोट लोग—(सं०) (१) छोटी जाति के काश्तकार। दे०-राड़ जाति। (२) छोटी जाति के लोग।
[छोट+लोग (दौ०) < क्षुद्र+लोक-(?)]।

छोड़ देना—(सं०) परित्याग। परित्यक्त भूखंड। पर्या०—परब, फेरार (गाइड०)।

छोनी—(सं०), ऊख के कोल्हू की पेंदी में रस के लिए काटी हुई नाली (गया)। दे०—नरदोह।
[< छोष (?), या < छोणि-(?)]।

छोपल—(क्रि०), किसी चीज को ऊपर से काट लेना (चंपा०-१)।
[छोप+ल (प्र०) < √ छुप् या < √ क्षुप् अथवा क्षुप-(=काड़ी)+ल (ना० धा० प्र०)]।

छोपनी—(सं०) (१) तंबाकू के ऊपर का पत्ता काटना (द० पू० मैं०)। दे०—पत्ता तूरल।
[छोप+नी (प्र०) < √ छुप्, या √ क्षुप् अथवा < क्षुप (=काड़ी)+प (ना० धा० प्र०)]।
(२) मवेशियों की आँखों का ढक्कन, जो कोल्हू आदि चलाने के समय लगाया जाता है (शाहा०)। दे०—अनपट।
[छोपन+ई (प्र०) < छुपाना (हि०) < √ छिप् (?)]।

छोर—(सं०) (१) बरहे को कूँड़ से बाँधने के लिए गाँठ दी हुई छोटी रस्सी (प०)। दे०—पनछोर। (२) सिंचाई करनेवाले लट्ठे को बाल्टी से मिलानेवाली छोटी रस्सी, जिसमें सरकनेवाली गाँठ (फंदा) रहती है (द० प० शाहा०)। दे०—पनछोर। (३) किसी वस्तु का अंतिम किनारा।
[< चूड < चूडा (?)]।

छोरी—(सं०) (१) बरहे को कूँड़ से बाँधने के लिए गाँठ दी हुई छोटी रस्सी। दे०-पनछोर। (२) फाँस देकर बनाई हुई रस्सी का एक टुकड़ा, जिसे बरतन में बाँधकर पानी खींचनेवाली रस्सी (उबहनी) से बाँध देते हैं (चंपा०, द० पू० मैं०)। दे०—पनछोर। (३) सिंचाई करनेवाले लट्ठे को बाल्टी से मिलानेवाली छोटी रस्सी, जिसमें सरकनेवाली गाँठ (फंदा) रहती है। दे०-पनछोर। (४) पानी भरनेवाली उबहनी में लगी वह दूसरी छोटी रस्सी, जिसमें पानी भरनेवाला पात्र बाँधा जाता हो। (५) किसी मवेशी को बाँधनेवाले पगहे में लगी छोटी-सी रस्सी का टुकड़ा, जो उस पगहे के अंत में बँधा रहता है, और मवेशी की गरदन में या गरदन के नजदीक, उसकी रस्सी में बँधा रहता है (चंपा०-१)।

[संम०—< चूड, < चूडा]।

छोलन—(सं०) किसी फसल के ऊपर का अंश काट लेने पर, शेष कटा हुआ भाग (चंपा०-१)।
[छोल+न (प्र०) < √ छुर् (?)]।

छोलनी—(सं०) (१) कड़ाह से रस या गुड़ निकालने के लिए चौड़ी कलछी (तामिया से बड़ी) (पट०, गया)। दे०—तामा। (२) तरकारी आदि चलाने या गुड़, छाछ आदि खरोचने का लोहे या पीतल का पात्र-विशेष।
[छोल+नी (प्र०) < √ छुर् (?)]।

छोलल—(क्रि०) (१) किसी फसल को ऊपर से काटना (चंपा०-१)। (२) किसी वस्तु को छीलना। खुरचना। (३) ऊख काटना (उ० प०)। पर्या०-गेड़ा करल (प०), पारल (पट०, गया, चंपा०, द० मुं०), घूरकाटल (द० भाग)।
[छोल+ल (प्र०) < √ छुर् (?)]।

छोलवा—(सं०) ऊख की खड़ी फसल को काटनेवाला (द० प० शाहा०)। दे०—अँगेड़ीहा।
[छोल्+वा < √ छुर् (?)]।

छौ—(सं०), किसी हथियार या औजार से एक बार मारने की प्रक्रिया (मुं०-१)। यथा—कुदाल के एकके छौ में भीत भसभसा गेलै—कुदाल के एक ही छव से दीवार धराशायी हो गई। दे०—छेव।
[छौ < छाप, छाप < √ छप्, या < छेप < √ छिप]।

छौनी—(सं०) (१) घर के ऊपर की छावनी, छप्पर। (२) बैलगाड़ी के ऊपर दी जानेवाली छावनी (पट०-१)।

छौरा—(सं०) राख का ढेर (उ० पू० मैं०)। दे०-राख।
[छौर + आड़ (प्र०) या संम०—आड़ < आढ-(चिह्नित) < √ अढ्-(मो० वि० डि०), छौर < क्षार-(?)]।

छौरो—(सं०) राख, भस्म (द० भाग)। दे०—राख।
[छौरो < क्षार (=मध्य की 'औ' ध्वनि और अंत की अकारस्थानीय 'ओ' ध्वनि के साथ)]।

ज

जंगल—(सं०) (१) वह स्थान, जहाँ बहुत दूर तक पेड़-पौधे आपसे-आप उगे हुए हों। दे०—वन। (२) बहुत दिनों से परती पड़े खेतों में स्वयं उगे हुए झाड़ और घास-पात। (३) परती भूमि।

[<जङ्गल-, जाङ्गल (संस्कृ०); जंगल (पा०, प्रा०); जंगल (हिं०); जंगल (मरा०); जंगल् (ने०); काँगल (क०); जंगल (फा०)]।

जंगला—(सं०) (१) कुएँ के मुंह पर लोगों को गिरने से बचाने के लिए रखा गया लकड़ी का ढाँचा। (२) मकान की खिड़की में लगाया जानेवाले लोहे की छड़ों का कठघरा। पर्या०—जलाला (द० भाग)।



[<जेंगिला—(पुर्त०—(हिं० श० सा०); मिला०—जगर—(संस्कृ०) = कवच — 'जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' —अमर०)]।

जंगला—(सं०) (३) धान की फसल की वृद्धि रोकनेवाली एक घास (द० प० शाहा०)। पर्या०—झिरवा (द० भाग०), झिरुआ (पट०, गया, द० मुं०, उ० बिहा०), झिरौआ (द० मुं०), झीरो (पू० मै०)।

[जंगला < जङ्गल—(?)]।

जँगली बावग—(सं०) बिना जोती हुई जमीन में छींटकर अनाज बोने का प्रकार (गया, चंपा०) दे०—छिट्टा।

[जँगली+बावग, जँगल<जाङ्गल, जङ्गल; बावग< वाप+क (स्वा० प्र०) <√ वप्]।

जंघा—(सं०) (१) वह खंभा, जिसपर ढेंकी टिकी रहती है। (उ० पू० बिहा०, सा०, चंपा०)। पर्या०—जाँघा (शाहा०), जेंघिया (उ० प० मै०), खूँटा (मै० प०), खूँटा-(पट०, गया०), खुट्टा (द० भाग०, द० मुं०), खंभा (द० प० शाहा०)।

[जँघा < जङ्घा <√]।

जंघा—(सं०) (२) कोल्हू का वह निचला भाग, जो जमीन में गाड़ा जाता है। (३) जाँघ। (४) पिंडली।

[<जङ्घा (संस्कृ०)—ताद्भ० प्र०)]।

जँघा—(सं०) (५) ऊख का रस छानने का साधन-विशेष। (द० भाग०, मै० उ० पू०, सा०)। दे०—आरसी। (६) कबड्डी के खेल में एक ही व्यक्ति पर एक से अधिक व्यक्ति का आरोप (पट०-१)। (७) आहर के बाँधों के दोनों ओर लगाई हुई ईंटों की छल्ली, जिससे बाँध दृढ़ हो सके और आहर का पानी बाहर न निकल सके (गाइड०)।

[जँघा < जङ्घा (?)]।

जंघिया—(सं०) ढेंकी का वह खंभा, जिसपर ढेंकी टिकी रहती है। (उ० प० मै०)। दे०—जंघा।

[जंघा+इया <जङ्घा (ताद्भ० प्र०)]।

जंजीर—(सं०) (१) बैलों या दूसरे पशुओं को बाँधने के लिए प्रयुक्त लोहे की जंजीर। दे०—सीकर (२) लोहे की बनी जंजीर।

[< जंजीर (फा०)]।

जंतरी—(सं०) (१) दशहरे के समय ब्राह्मणों द्वारा कृत्रिम प्रकार से उगाकर बाँटा जानेवाला जौ का छोटा पौधा (उ० प० शाहा०)। दे०—जई। (२) एक प्रकार का तांत्रिक यंत्र, जिसपर मंत्र लिखा रहता है और अभिमंत्रित होकर कष्ट-बाधा-निवारण के लिए पहना जाता है।

[जंतर+ई (प्र०) < जन्तर < यन्त्र < √ यम +त्र (प्र०)]।

जंबीरी—(सं०) एक प्रकार का नीबू (दर०-१, पूर्णि०-२)

[< जम्बर; जंबीरी नीबू (हिं०), जमीरा लेबु, गोंड़ा लेंबु (बं०); ईड (लिंबु) (मरा०); लांबा लींबु, इड लिंबु (गु०); काडलिंबे (क०); जंबिर निम, निम्मपंडु (ते०); लिमुने शिरी (फा०)]।

जई—(सं०) (१) जौ की जाति का ही लंबा, पतला अनाज, जो प्रायः घोड़ों को खिलाया जाता है। इसकी फसल तीन बार हरी ही काटकर खिला दी जाती है, तत्पश्चात् उसे अन्न लगने के लिए छोड़ दिया जाता है। प्रायः चार महीने में अन्न तैयार हो जाता है। पर्या०—जै, जई — (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[<यवस<संस्कृ०)—(?)]।

जई—(सं०) (२) दशहरे के समय ब्राह्मणों द्वारा कृत्रिम प्रकार से उगाकर बाँटा जानेवाला जौ का छोटा पौधा (उ० पू० शाहा०, पट०-१)। पर्या०—जंतरी (उ० पू० शाहा०), जवारा (गया), जैती (पट०)।

[जई <यविक या यव्य— < यव-]।

जकेराई—(सं०) (१) एक साथ जौ और केराव का मिश्रण (द० पू०)। दे०—जौ-केराई।

[ज+केराई<जौ+केराव<यव+कलाय-]।

जकेराई—(सं०) (२) एक पशु-खाद्य घास (द० पू०)। पर्या०—जौकेराई।

[ज+केराई<जौ+केराव<यव+कलाय-(?)]।

जगडोरी—(सं) हेंगा खींचने की रस्सी (मै० द० भाग०)। दे०—बरही।

[जग+डोरी < युग+दोरक-(?)]।

जगत—(सं०) कुंए का पक्का बनाया हुआ मुंह (प०)। पर्या०—मुड़ेरा (प०), मुंड़ेरा (चंपा०), निरारी (पट०), मुड़ेरी (चंपा०, गया), मुड़ा (द० पू०, चंपा०-१)।



[देशी-(?)। < जगति- (संस्कृ०)=घर की कुरसी (हिं० श० सा०)]।

जगबरियाँ—(सं०) फसल या अनाज की देखभाल करनेवाला (गया)। दे०—रखवार। जगवारी=रखवाली (गया)।

[जग+बरिया < जगवार < जोगवार < जोगल (बिहा०) या < जागल (बिहा०), जागना (हिं०)]।

जगरनथिया—(सं०) (१) रोपा जानेवाला एक प्रकार का लाल मोटा चिपटा धान (उ० प० मैं०, चंपा०-१)। (२) जगन्नाथ-विषयक गीत-भजन, जिसे कामर लेकर जानेवाले तीर्थयात्री गाते हैं। (३) तीर्थ के निमित्त जगन्नाथपुरी की यात्रा करनेवाले।

[जगर+नाथ+इया < जगरनाथ < जगन्नाथ—(लाक्ष० प्र०), संभ०-जगन्नाथपुरी (उड़ीसा) से लाये गये होने के कारण यह नाम रखा गया हो]।

जगवारी—(सं०) फसल या अनाज की देखभाल (गया)। दे०—रखवारी।

[जगवार+ई (प्र०) < जगवारा या जोगवारा]।

जगो—(सं०) रात का पहरेदार (गाइड०)।

जजात—(सं०) (१) किसी फसल का पौधा। (२) फसल (पट०-१)।

[देशी-(?)]।

जजाती बटाई—(सं०) खेत में कटे हुए अनाज के बोझों के रूप में बाँटने की प्रक्रिया (उ० प्र०)। दे०—बोझबटाई।

[जजात+ई+बटाई]।

जटहा—(सं०) वह बैल, जिसके ककुद् पर जटा की तरह अतिरिक्त मांस-ग्रंथि होती है और जो शिवजी के बैल (नंदी) का प्रतिनिधि माना जाता है। पूज्य माने जाने के कारण हल आदि जोतने में इसका उपयोग नहीं होता है। पर्या०—बसहा, जटहावा (शाहा०), जटी (द० भाग०)।



[जट+हा (प्र०) < जटा]।

जटहावा—(सं०) (शाहा०)। दे०—जटहा।

[जट+हावा (प्र०) < जटा]।

जटही—(सं०) एक प्रकार का काँटा (सा०-१)।

[जट+ही (प्र०) < जट < जटा]।

जटाधारी—(सं०) जटा की तरह का एक लाल फूल, जिसका पौधा बरसात में लगाया जाता है और शरद् में फूल खिलने लगता है (मुं०-१)।

[जटा+धारी; लाल रेशों के छोटे-छोटे गुच्छों से युक्त होने के कारण जटाधारी नाम हुआ हो]।

जटी—(सं०) (द० भाग०)। दे०—जटहा।

[जट+ई (प्र०) < जटा]।

जठहन—(सं०) वह खेत, जिसमें पहले वर्ष से ऊख की फसल लगी हो (द० मुं०)।

[देशी या < जठ+हन, जठ < ज्येष्ठ-(?); हन < धान्य (?) या जठ < जड-(?) < धान्य-(?)]।

जड़—(सं०) (१) ऊख या किसी दूसरे पौधे की जड़ (उ० पू०)। (२) किसी वस्तु का मूल। पर्या०—मूड़ (सं० उ०), जड़खर (शाहा०), खूंटी, खुंटिया (गया, द० भाग०) जड़ी, जड़िया (पट०, द० मुं०)।

[जड़ < जट (संस्कृ०); जड़ (प्रा०); जड़ (हिं०); जड़ (बँ०); जड़ (पं०); जड़, मूल (मरा०); जोड़ (सिंह०)]।

जड़खर—(सं०) ऊख या किसी पौधे की जड़ (शाहा०)। दे०—जड़।

[जड़+खर; जड़ < √जड़, जट; खर (प्र०) या खर (हिं०)=खड़ < कट=(?)]।

जड़छोल्वा—(सं०) धान की वह फसल, जो जड़ से काटी जाती है (पट०-१)।

जड़बँधना—(सं०) रोपे जानेवाले छोटे पेड़ों की जड़ में मिट्टी को बाँध रखने के लिए चारों ओर लिपटाई गई रस्सी (द० भाग०)। दे०—मोजर।

[जड़+बँधना < जट बन्धन < √ बन्ध्]।

जड़हन—(सं०) वह धान, जो अगहन या उसके बाद तैयार हो जाता है। इस धान के लिए खेत में पानी का रहना आवश्यक होता है। इसलिए, यह गहरे खेतों में ही रोपा जाता है। इसके विपरीत सोहना (संता०, पट०) या कतिका होता है, जिसमें पानी की आवश्यकता कम पड़ती है और कातिक में काट लिया जाता है। 'अरहर दाल जड़हन भात, गागल निबुआ औ घिउ तात'—घाघ।

[जड़+हन < जड़+धान्य या जल+धान्य-(?) जड़+हन < हनन=मारना-(हिं० श० सा०] ।

जड़िया, जड़ी—(सं०) ऊख या किसी पौधे की जड़ या मूल (पट०, द० मुं०)। दे०—जड़।

[जड़+इया (प्र०) < जड़, जट-]।

जड़ी, जड़िया—(सं०) ऊख या उसी पौधे की जड़ या मूल (पट०, द० मुं०)। दे०—जड़। जड़ी-बूटी (यौ० सं०)=ओषधि, वनस्पति।

[जड़+ई (प्र०) < जड़, जट-]।

जड़ी-बूटी—(सं०) ओषधि, वनस्पति। क्षुप-जातीय पौधे, जिनसे औषध बनाया जाता है। दे०—जड़ी, जड़िया।

(जड़ी+बूटी—यौ०)।

जथा—(सं०) हैसियत। औकात, पूँजी (मुं०-१)।

[यह यथा शब्द का अपभ्रंश है। जथा < यथार्थ या 'यथापूँजी' का घिसा रूप 'जथा' रह गया है]।

जद्दी—(सं०) संपत्ति के बँटवारे में पिता का अंश (प० मै०)। दे०—वपंत।

[जद+ई (प्र०) < जद < जाद (फ़ा०); जात-(सस्कृ०)]।

जन—(सं०) (१) किसी तरह की मजदूरी लेकर काम करनेवाला खेतिहर मजदूर। (२) रुपये लेकर काम करनेवाला (द० प०)। दे०—नौकर। पर्या०—उपौ-गिया (गया, चंपा०), जनौ (द० प० शाहा०, दर०-१, चंपा०-१)। (३) कोल्हू के लिए ऊख के लंबे-लंबे टुकड़े काटनेवाला। दे०—कानू। (४) व्यक्ति, मनुष्य।

[< जन- < √ जनी (प्रादुर्भावे)]।

जनपैंचा—(सं०) एक किसान के द्वारा किसी दूसरे किसान के साथ मजदूरों के परस्पर विनिमय करने की क्रिया (पू० मै०)। दे०—बदलैया।

[जन+पैंचा, पैंचा < पैंच+आ (स्वा० प्र०) < पइंचा < पडच्च < पडिच्च < पतिच्छिच < प्रतिहृत्य (?)]।

जनी—(सं०) (१) मजदूरनी (चंपा०)। (२) व्यक्ति, स्त्री।

[जन+ई (स्त्री० प्र०) < जन-]।

जनेर, जनेरा—(सं०) एक प्रसिद्ध भदई अनाज, जो उजला या लाल एवं गोल और वृंत पर चिपटा होता है, इसका आटा या भूँजा खाया जाता है; इसका पौधा लंबा होता है और पौधे के ऊपर अधखिले कमल-जैसा अन्न का गुच्छा होता है। गं० द० मैं० इसकी उपज कम होती है। पर्या०—मसुरिया जनेर (प०), नन्हिया जनेरा (पट० .गया), गहुमा (द० भाग०)।

[जनेरा < यवनाल-]।

जनेरा—(सं०) (१) एक प्रसिद्ध भदई अनाज, जो बड़े गोल चिपटे दाने का, श्वेत-पीत या लाल वर्ण का होता है, इसके आटा, दलिया, सत्तू, भूँजा आदि खाये जाते हैं (प०)। दे०—मकई। (२) ज्वार, बाजरा, मकई आदि के डंठल का चारा। (३) बाल से अलग किया गया मकई का दाना (सा०-१)।

[जनेर+आ (स्वा० प्र०) < जनेर < यवनाल-]।

जनेरा, जनेर—(सं०) एक प्रसिद्ध भदई अनाज, जो उजला या लाल एवं गोल और वृंत पर चिपटा होता है, इसका आटा या भूँजा खाया जाता है; इसका पौधा लंबा होता है और पौधे के ऊपर अधखिले कमल-जैसा अन्न का गुच्छा होता है। दे०—जनेर, जनेरा।

[जनेर+आ (स्वा० प्र०) < यवनाल-]।

जनौर—(सं०) कार्य करने के लिए मजदूर को दी जानेवाली अग्रिम मजदूरी (पू० मै०)। दे०—फाजिल।

[जन+औरर<जन+चाउर या और (प्र०)-(?)]।

जप्ती—(सं०) अफीम और तंबाकू जैसी कुछ विशिष्ट उपज पर सामान्य उपज की अपेक्षा लगा अतिरिक्त कर। दे०—जबदी।

[देशी, मिला०—जप्ती (अ०)]।

जप्ती—(सं०) भूमिकर न चुकाने या किसी दूसरे अवैधानिक काम करने पर किसान की भूमि की जप्ती (पट०-१)।

जब—(सं०) एक प्रसिद्ध चैती अनाज, जो श्वेत-हरित वर्ण का और दोनों ओर सूँगयुक्त होता है (उ० पू०)। दे०—जौ।

[< यव—]।

जबकेरवा—(सं०) एक साथ उत्पन्न जौ और केराव का मिश्रण (उ० पू० मै०)। दे०—जौ-केराई।

[जब+केरवा < जौ+केराव < यव+कलाय-]।

जबदी—(सं०) अफीम और तंबाकू जैसी कुछ विशिष्ट उपज पर सामान्य उपज की अपेक्षा लगा अतिरिक्त भूमिकर। दे०—मगदी की टि०। पर्या०—जप्ती।

[देशी; टि० खेलखंड (ह० प्र०) में एक प्रकार का धान भी 'जबदी' कहलाता है]।

जबबुट्टा—(सं०) जौ और चने का मिश्रण (सं० उ०)। दे०—बेर्रा।

[जब+बुट्टा, जब < यव; बुट्टा < बुट्ट (=गोल; एक प्रकार का अन्न- मो० वि० डि०); <वृत्त(=घेरा, मुड़ा हुआ); < वृन्त - (डंठी, मूल, डांट) या < व्रा (?)]।

जबरा—(सं०) अनाज रखने के लिए बनी हुई गोलाकार छोटी कोठी (गया, पट०-१)।



[जबर (हिं०)। मिला०—जब्बाल (= गीली मिट्टी, पंक)]।

जबहा—(सं०) बैल की एक जाति (भाग)।

जमकल—(क्रि०) पानी आदि का किसी घेरे हुए स्थान में रुककर गंदा हो जाना (मुं०-१)। (सं०) जमा होकर गंदा हो गया पानी।
[जमक+ल(प्र०) <√यम् (परिवेषणे—घेरना)]।

जमकाठ—(सं०) प्रायः जामुन की लकड़ी का बनाया हुआ कुएँ की निचली सतह में दिया जानेवाला गोलाकार आधार, जिसपर पाट या ईंटें जोड़ी जाती हैं। दे०—जमवट।



[जम+काठ < जम्बु काष्ठ-(?)]।

जमखानी—(सं०) सफेद गेहूँ (चंपा०-१)।
[देशी—(?)]।

जमड़ल—(क्रि०) पानी के बहाव का रुक जाना। (मुं०-१)।
[जमड़+ल (प्र०) < जम+ड़ (प्र०) √यम् (परिवेषणे=घेरना)]।

जमल—(क्रि०) (१) फसल के बीज, घास या पेड़-पौधों का उगना (चंपा०-१)। (२) किसी गाना, उत्सव या सभा-समिति आदि का सफलता से संपन्न होना और मनोनुकूल जँचना। (वि०) उगा हुआ, जमा हुआ।
[जम+ल (प्र०) < जम < जन्म <√ जनी (प्रादुर्भावे)। <√यम् (परिवेषणे=घेरना)]।

जमल—(क्रि०) (१) पानी-जैसे तरल पदार्थ का घनीभूत होना। (२) दूध का दही के रूप में परिणत होना। (३) किसी वस्तु पर किसी दूसरी वस्तु का दृढ़ता से स्थिर होना। (४) एकत्र होना, जमा होना। (५) किसी कार्य का अच्छी तरह चल निकलना। (६) घोड़े का ठुमक-ठुमककर चलना। (७) ब्राह्मणों का नैमित्तिक कार्य के अवसर पर भोजन करना।
[जम+ल (प्र०) <जम<√यम्]।

जमरिया—(सं०) छोटे दानोंवाला लाल गेहूँ (पू०)। दे०—ललका।
[देशी]।

जमवट—(सं०) (१) प्रायः जामुन की लकड़ी का बना हुआ कुएँ की निचली सतह में दिया जानेवाला गोलाकार आधार, जिसपर ईंटें चिनी जाती हैं या पाट बैठाये जाते हैं। पर्या०—जमौर, जमकाठ (द० भाग०)। (२) कुएँ के नीचे दिया जानेवाला लकड़ी या सीमेंट का बना गोलाकार आधार, जो गाड़ी के चक्के की तरह होता है और जिसपर ईंटें जोड़ी जाती हैं। (चंपा०-१)।
[जम+वट<जम्बू+काष्ठ-? या जम्बू+आवर्त-?]।

जमाइन—(सं०)जवाइन; अजवाइन (दर०-१,पूर्णि०-१)।
[< जवानी < यवानी < यव-वा < यव या यवन-(?)]।

जमाखरच—(सं०) (१) पटवारी की वह बही, जिसमें गाँव की सालाना माली हालत का हिसाब रहता है। (२) आयव्यय का ब्यौरा (पट०-१)।
[जमा+खरच<जमा+खर्च (फा०)]।

जमाबंदी—(सं०) (१) जमींदारी का वह कागज या बही, जिसमें असामियों के लगान की रकमें लिखी जाती हैं। (पट०-१)। (२) मालगुजारी की जमाबंदी (गाइड०)।

जमार गड़ार—(सं०) एक प्रकार की घास, जो धान की फसल को हानि पहुँचाती है (द० मुं०)। दे०—गड़हर।
[देशी]।

जमालखानी—(सं०) बिना सूँग का उत्तम श्वेत गेहूँ (दर०-१)। दे०—दाउदी।
[जमाल+खान+ई (प्र०)-(अ०) जमाल (अ०)= अत्यधिक सुंदरता, खान (फा०)-(?)]।

जमालगोटा—(सं०) एक प्रकार का तीखा-कड़वा पौधा और उसका बीज। यह समुद्र की सतह से तीन हजार फुट की ऊँचाई तक परती भूमि में होता है। यह आसाम, बंगाल, मलाका और सीलोन में पाया जाता है। बीज छोटी इलायची के समान होता है और इसके भीतर उजली गरी होती है, जो अत्यन्त स्निग्ध और रेचक होती है। इससे निकाला गया तेल बहुत तीक्ष्ण होता है। इसका उपयोग औषधों में किया जाता है। इसकी खली के प्रयोग से पौधों में दीमक नहीं लगती। इसका पौधा बड़ा और सदा हरा-भरा होता है; इसकी शाखाएँ रोएँदार और छोटी होती हैं।
[जमाल+गोटा < जयपाल+गोटक जमालगोटा (हिं०); जैपाल (बँ०); जमाल, जमालगोटा (मरा०, ने०, गु०)]।

जमाली—(सं०) छोटे दानोंवाला लाल गेहूँ (पू०)। दे०—ललका।

[संभ० < जमाल<(अ०) वा < जयपाल-(?)]।

जमासदर—(सं०) भूमि का राजस्व (गाइड०)।

जमीरी—(सं०) कागजी जाति का बड़ा नीबू (चंपा०-१)।

जमीरीलेंबो—(सं०) खूब खट्टा और रसदार नीबू (पट०-१)।

जमुनिया—(सं०) एक प्रकार का मोटा धान (मुं०-१)।

[देशी, वा जमुनिया < जामुन < जम्बू वा <यमुना (?)]।

जमुनी—(सं०) एक प्रकार का फल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी, वा < जामुन < जम्बू-(?)]।

जमोग—(सं०) कुएँ का वह जमा हुआ पानी, जिसका उपयोग नहीं होता है। (चंपा०-१)।

[संभ०— जमा+ओग (?) < जमा <जमत]।

जमोट—(सं०)—मुं०-१, दे०—जमवट।

[जम+ओट, दे०—जमवट]।

जमौट—(सं०) प्रायः जामुन की लकड़ी का बना हुआ कुएँ की निचली सतह पर दिया गया पाट का आधार। दे०—जमवट।

[जम+औट। दे०—जमवट]।

जम्हार—(सं०) परती भूमि को नष्ट करनेवाली एक कड़ी मोटी घास। पर्या०—जाम्हर (पट, द० मुं०), जिम्हार (द० प० शाहा०), उम्हरी (द० भाग०)।

[देशी]।

जर—(सं०) (१) ऊख या किसी पौधे की जड़ या मूल (उ० पू०)। दे०—जड़। (२) गाय आदि मवेशियों के बच्चा जनने पर बच्चे के साथ निकलनेवाली झिल्ली। (३) ज्वर।

[जर <जड़ <जड-, <जट; जर (२) <जरायु-]।

जरईं—(सं०) धान के बीज का पौधा (चंपा०)। दे०—मोरी।

[जर+ईं (प्र०) < जर < जड- <जट-]।

जरई—(सं०) बीज की क्यारी (बिड़ार) से अन्यत्र रोपने के लिए उखाड़ा गया बीजों का पौधा (चंपा०)। दे०—बीया।

[जर+ई (प्र०) < जर <जड़ <जट,जटा]।

जरई—(सं०) (१) बोया हुआ धान। (२) धान का वह बीज, जो पानी में भिगो दिया जाता है और जब उसमें अंकुर निकल आता है, तब कुछ पानी-लगे खेत को जोतकर और उसमें हेंगा देकर, उसी में छींट दिया जाता है। उस धान में अंकुर के साथ निकले हुए सोर मिट्टी में जमकर उग आते हैं (चंपा०-१)।

[जट+ई (प्र०) <जर <जड़ <जड, जट-]।

जरकट्टा—(सं०) फसल को जड़ से काटने की प्रक्रिया (द० पू० मैं०)। दे०—जरछोरनी।

[जर+कट्ट+आ (प्र०) <जड़+कट्ट+आ <जट+कर्त-(?)]।

जरखून—(सं०) किसी पेड़ या पौधे की जड़। (चंपा०-१)।

[जर+खून (देशी प्र०) < जड़ < जट, जटा]।

जरखौरा—(सं०) फसल की वह कटनी, जो जड़ से की जाती है (चंपा०-१)।

[जर+खौरा (देशी-) < जर < जट, < जटा]

जरचौठ—(सं०) मकान बनाने या बेचने के समय जमींदार को किसान से मिलनेवाला शुल्क या कर (पू० मैं०)। दे०—चौठ।

[जर + चौठ, जर (फा०)=(धन-दौलत); चौठ < चोथ < चउत्थ < चतुर्थ-(संस्कृ०)]।

जरछोरनी—(सं०) फसल को जड़ से काटने की प्रक्रिया। पर्या०—जरकट्टा (द० पू० मैं०), जरछोरा (द० मुं०)।

[जर + छोर + नी (प्र०) < जड़ + छोर, छोर <√ छुट्, वा √ छुर्]।

जरछोरा—(सं०) फसल को जड़ से काटने की प्रक्रिया। (द० मुं०)। दे०—जरछोरनी।

[जर+छोर+आ (प्र०) < जड-, < जट ; छोरा < छोर <√ छुट्, √ छुर्]।

जरठुआतेल—(सं०) कुसुम के बीज (बर्रे) से निकाला गया तेल। दे०—जरठुआ तेल।

[जरठुआ+तेल <जरठ+उआ (प्र०) <जरठ-(?)= (पीताभ, पाडु) + तेल]।

जरदा—(सं०) एक प्रकार का आम, जो पहले पकनेवाला, पीला और स्वादिष्ठ होता है (चंपा०-१)।

जर निलामी इस्तेमाल—(सं०) नीलाम में मिले हुए रुपयों का वितरण (सा०-१)।

[जर + निलामी + इस्तेमाल (फा०, यौ०)]।

जरपेसगी ठीका—(सं०) बंधक पर लिया गया ठीका। दे०—इजारा।

[जर + पेसगी + ठीका (फा०, यौ०)]।

जरा—(सं०) जानवरों का एक रोग, जो एक प्रकार के कीड़े के काटने से पैदा होता है और जिसमें मुँह से फेन गिरता है (पट०-१)।

जराकुस—(सं०) एक प्रकार की घास, जिससे कूँची, झाड़ू आदि बनाई जाती है। (सा०-१)।
[जरा+कुस < जड़+कुश < जड़+कुश-(?)]।

जराठी—(सं०) (१) धूप में बिलकुल सूखी हुई फसल (सा०-१)। (२) जली हुई लकड़ी आदि का अंश। (३) चिलम में पीने के बाद जला हुआ तंबाकू का अंश।
[जराठ+ई (प्र०) < जराठ < जर + आठ (प्र०) < ज्वलन, < √ ज्वल् वा < जर-आ जराठ < ज्वलत्काष्ठ-(?)]।

जरामन—(सं०) जलावन (पट०-१)।
[जरामन < जलावन < ज्वालन < √ ज्वल्]।

जरिऔध—(सं०) किसी पेड़ के नीचे का भाग। (चंपा०-१)।
[जरि+औध, जरि < जड़ी < जड़ी वा < जड़, < जट; औध < अधस्-]।

जरिया के ऊख—(सं०) माघी फसल कटने के बाद रोपा गया ऊख (प०)। दे०—जरी।
[जरिया के+ऊख (यौ०)]।

जरी—(सं०) (१) ऊख रोपने के पहले खेत में माघी फसल के बोने की प्रक्रिया (प०-१)। पर्या०—नारी (सा०), दोतुरा (उ० प० मै०), चौमास, (गं० द०)। (२) सोने के तार से बना हुआ काम। पर्या०—जरिया के ऊख-माघी फसल कटने के बाद रोपा गया ऊख (प०)।
[जर+ई (प्र०) < जर < जड-(?)]।

जरीकस—(सं०) (१) खेत में खड़ी फसल आँकने तथा जमीन नापने की रस्सी या जरी पकड़नेवाला जमींदार का नौकर (पट०-१)। (२) अमीन के साथ रहनेवाला वह व्यक्ति, जो नापते समय जरीब पकड़ता है।
[जरीकस < जरीबकश (फ़ा०)]।

जरीब—(सं०) लोहे की जंजीर की बनी एक नाप, जिसमें १०० कड़ियाँ होती हैं (चंपा०-१)।
[जरीब (फ़ा०)]।

जरीबकश—(सं०) जमीन नापने के समय जरीब को पकड़नेवाला व्यक्ति (गाइड०)। दे०—जरीकस।
[जरीबकश (फ़ा०)]।

जरुआ तेल—(सं०) कुसुम के बीज से निकाला गया तेल (उ० प०)। पर्या०—जरठुआ तेल, उठुआ तेल (शाहा०)। इस तेल का उपयोग, जलन एवं जले हुए अंग की चिकित्सा में किया जाता है।
[जरुआ+तेल, जरुआ < जर + उआ (प्र०) जर < √ज्वल्, तेल < तैल < तिल-]।

जल—(सं०) पानी, जल।
[< जल-]।

जलकपूर—(सं०) (ला० प्र०) मछली (चंपा०-१)।
[जल+कपूर, जल < जल-; कपूर < कर्पूर-]।

जलकर—(सं०) झील, तालाब, अहरा, बाँध आदि में उत्पन्न वस्तु पर लगाया जानेवाला कर।
[जल+कर < जलकर-]।

जलकी-(सं०) नदी के किनारे की वह जमीन, जो ढहकर पानी में गिर जाती है (द० प० शाहा०)। दे०-धसना।
[देशी, वा जल+की (प्र० ?) < जल-(?)]।

जलखर—(सं०) (१) भूसा ढोने या रखने के लिए रस्सी का बना जाल। (शाहा०) दे०—जल्ला। (२) घास ढोने या फल-तरकारी आदि लाने की जालीदार थैली। (चंपा०-१)। (३) जल-कर, जल का शुल्क (पट०-१)।
[जल+खर (प्र० ?) < जाल + खारी (?)]।

जलखरी—(सं०) सिर पर माल ढोने के लिए रस्सी का बना एक प्रकार का जाल (प० मै०, उ० प०)। पर्या०—जाली (शाहा०, द० मुं०, मै०), जल्ला (द० पू०)।
[जल+खर+ई (अल्पा० प्र०) < जाल-]।

जलखारी—(सं०) पेड़ से फल तोड़ने के लिए लग्गी में बँधा हुआ छोटा जाल (मै०, मुं०)। दे०—झोला।
[जल+खारी < जाल+खारी]।

जलधर—(सं०) वह कुआँ, जिसमें सामान्य सतह पर जल नहीं निकलता, बल्कि सतह के नीचे या अगल-बगल से पानी का सोता निकलता है (द० भाग०)। दे०—सुत्तिहा।
[जल+धर < जल-, धर- < √धृ]।

जलधर—(सं०) कभी न सूखनेवाला कुआँ (द० मुं०-१)।
[जल+धर < जल+धर-]।

जलसार—(सं०) जलाशय, सरोवर (मुं०-१)।
[जल+सार < जल+शाल (?), जल+आसार-(?)]

जलसेम—(सं०) पंडितों द्वारा प्रयुक्त मछली का पर्याय (चंपा०-१)। दे०—जलकपूर।
[जल+सेम < जल+शिम्बि (ला० प्र०)]।

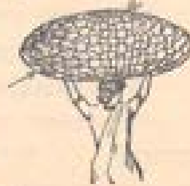
जलहोर—(सं०) रोपा जानेवाला एक उत्कृष्ट धान (द० प० शाहा०)।
[देशी, वा जल+होर < (?)]।

जलाला—(सं०) कुएँ के मुँह पर, किसी को गिरने से बचाने के लिए रखा गया लकड़ी का जाल-सा बना ढाँचा (द० भाग०)। दे०—जँगला।
[देशी वा < जाल- (?)]।

जलिया—(सं०) मेंड़ासी के फलक के ऊपर लगी हुई लकड़ी की भारी बेंट। दे०—जाली।
[जल+इया < जाल—(?)]।

जलुआ—(सं०) (१) चावल आदि में लगनेवाला कीड़ा (मुं०-१)। (२) कीड़ों द्वारा अनाज के बीच बनाया गया जाल।
टि०—यह कीड़ा चावल में मकड़ी की तरह जाला बनाकर रहता है, जिसमें दो-चार चावल जुड़े रहते हैं। वह उसी जाले में पड़ा हुआ चावल खाता है।
[जल+उआ (प्र०) < जाल-]।

जल्ला—(सं०) (१) घास ढोने का एक प्रकार का जाल, (सा०, द० मुं०)। दे०—जाला। (२) गाड़ीवान द्वारा व्यवहृत बैलों के खिलाने के लिए रस्सी का बना एक प्रकार का जाल, (मुं० द०)। दे०—झोला।



(३) सर पर माल ढोने के लिए रस्सी का बना एक प्रकार का जाल (द० प०)। दे०—जलगारी। (४) भूसा ढोने या रखने के लिए रस्सी का बना हुआ जाल (सामा०)। पर्या०—जाली (सामा०), जलखर (शाहा०), जोरा (द० प० शाहा०), कपाई (पट०)। (५) बहियार; खुला मैदान (मुं०-१)। (६) गहरा स्थान, जहाँ खेतों के आस-पास पानी जमा रहता है।
[जल+ला (?) < जल-, < जाल-]।

जल्लावल—(क्रि०) पौधों की जड़ों का विस्तार के साथ चारों तरफ फैल जाना, (चंपा०-१)।
[जल्ला + वल (प्र०) < जाल-]।

जव—(सं०) (१) जौ, एक प्रसिद्ध अनाज। (२) दो सूत की लंबाई की नाप। (री०)।

जवकेरवा—(सं०) वह अन्न, जिसमें जौ और केराव मिले हों (चंपा०-१)।
[जव + केरवा < जव + केराव < यव- + कलाय-]।

जवगोजई—(सं०) जौ और गेहूँ का मिश्रित अन्न। (चंपा०-१)।
[जव+गोजई, जव < यव, गोजई < गो (?) +जई < गो (गवार्थ) + यव-]।

जवरा—(सं०) हजाम, लोहार, बढ़ई आदि ग्राम-शिल्पियों को मेहनताना के रूप में वर्ष के अंत में दिया जानेवाला अनाज (चंपा०-१)।
[जव + रा० (प्र० १) < यव (?)]।

जवा—(सं०) लहसुन आदि का दाना (मुं०-१)।
[< यवक-]।

जवाइन—(सं०) महीन दानों का एक प्रसिद्ध मसाला (प० पट०, द० भाग०)। दे०—अजवाइन। पर्या०—जमाइन (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[< यवानी, < यवन—]।

जवाखार—(सं०) जौ के डंठल और बाल को जलाकर बनाई गई राख, जिसमें क्षार-अंश रहता है और जो अजीर्णता के औषध के रूप में व्यवहृत होती है। पर्या०—पाचक (द० भाग०)।
[जवा+खार < यव+क्षार-]।

जवारा—(सं०) दशहरे के समय ब्राह्मणों द्वारा कृत्रिम तौर पर उगाकर बाँटा जानेवाला जौ का छोटा पौधा (गया)। यह नवरात्र के कलश के पास बोकर उगाया जाता है। दे०—जई।
[जवा+रा (प्र०) < जव < यव-मिला०—जवय, जवस्य (देशी), (=जौ का अंकुर)—'जवय-जवस्या अवस्था यवांकुरयं'—(देशी०- ३४२)]।

जसवा—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी]।

जसरिया—(सं०) एक प्रकार का धान, जो फाल्गुन-चैत में बोया जाता है और अगहन में काटा जाता है (सा०)। दे०—देसरिया।
[जसरिया < जयश्री-या < जैसोर=बंगाल का एक जिला]।

जसवा—(सं०) एक अगहनी धान, जिसके दाने लंबे-लंबे होते हैं (सा०-१)।
[देशी]।

जसेर—(सं०) कुएँ की बगल में गाड़ा गया दो नोंकवाला खंभा, जिसपर घिरनी नाचती है। इसपर से रस्सी के द्वारा कुएँ से पानी खींचा जाता है (गया)।
[देशी]।



जहक—(सं०) जुए (पालो) के नीचे का पल्ला या फलक (द० पू०)। दे०—तरसईल।
[देशी, मिला०—जघन]।



जहरहाल—(सं०) खेत की मिट्टी में बहुत कम नमी का रहना (पट०-१)।

जहरेदार—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिसमें उनके मुख से फेन गिरता है और सारा शरीर काला पड़ जाता है। (पट०-१)।

जाँघा—(सं०) दो नोंकवाला वह स्तंभ, जिसपर ढेंकी टिकी रहती है (शाहा०)। दे०—जंघा।
[< जङ्घ-(सा० प्र०)]।

जाँत—(सं०) (१) कुएँ से पानी निकालने के लिए दो कोनवाले खंभे पर स्थित बाँस की लग्गी में पिछली ओर बोझ देकर अगली ओर कूँड़ लगाकर बनाया गया साधन-विशेष (द० भाग०)। दे०—ढेंकुल। (२) आटा पीसने या दाल दलने के लिए पत्थर की दो पट्टियों का बनाया गया साधन-विशेष (द० पू० शाहा०, दर०-१, पूर्णि०-१, चंपा०-१)। पर्या०—जँतवा, जाँता, चक्की। दे०—जाँत।
[<यन्त्र-; यन्त्र-(संस्कृ०), यन्त्र-(पा०); जंत (प्रा०); जाँता (हि०); जाँता (बँ०); जाँता (ने०); जाँती (ओ०= सरोता); जाँत (मरा०); जाँत (संता०)]।

जाँत—(सं०) (३) कुएँ से पानी निकालनेवाले लाठे के पिछले हिस्से में दबाव के लिए बाँधा जानेवाला पत्थर आदि भारी पदार्थ (मुँ०-१)।
[जाँता < यन्त्रक—(सा० प्र०)]।

जाँत-कुड़ी—(सं०) कुएँ से पानी निकालने की लाठा-कूँड़ी (मुँ०-१)।
[जाँत+कुड़ी; < यन्त्र-, कुड़ी < कुण्ड-]।

जाँता—(सं०) (१) अन्न पीसने या दाल दलने के लिए पत्थर की दो पट्टियों का बनाया हुआ साधन-विशेष, चक्की। पर्या०—जाँत, (द० पू० शाहा०)। दे०—जाँत।
[जाँत+आ < यन्त्रक-]।

जाँता—(सं०) (२) आटा पीसने या दाल दलने की बड़ी चक्की (चंपा०-१)।
[जाँता < यन्त्रक-]।

जाँती—(सं०) मिट्टी का एक चक्का, जिसके सहारे धनुही और कपास टिकाकर खेत के चूहे मारे जाते हैं (सा०-१)।
[जाँत+ई० < जाँता < यन्त्रक-]।

जाक—(सं०) (१) बुरी नजर से बचाने के लिए अनाज की राशि पर रखा हुआ लकड़ी का टुकड़ा (द० पू० मैं०)।
[देशी, या जाक < जाख < यक्ष-(?)]।

जाक—(सं०) (२) सड़ने के लिए पानी में डाले हुए पटुए का बोझा, जो एक साथ फट्ठी में नाथकर बाँधा जाता है। (चंपा०)।
[देशी]।

जाकल—(क्रि०) सड़ने के लिए पटुए के बोझे को पानी में रखकर एक साथ फट्ठी में बाँधना (चंपा०-१)।
[जाक+ल (प्र०) < यक्षण <यक्ष(?)। मिला०—जकड़ल (बिहा०); जकड़ना (हि०); जाँक (बँ०) = कसना; जाकिबा (ओ०) = कसना; जाक्नु (ने०) = नाचना, घोपना; जाक (संता०)=भारी]।

जागर—(सं०) (१) एक प्रकार का धान, जो फाल्गुन-चैत्र में बोया जाता है और अगहन में काटा जाता है। प्रायः गं० उ० में ही प्राप्य है (सा०, उ० पू० मै०)। दे०—उजागर।

जागर—(सं०) (२) एक अगहनी सफेद धान, जिसकी जड़ काली और चावल सफेद तथा महीन होता है (सा०-१, चंपा०-१)। एक प्रकार का धान (चंपा०)।
[देशी, दे०—उजागर]।

जागीर—(सं०) (१) लड़ाई आदि में सरकारी सेवा के बदले या कुम्हार, गोड़ैत आदि ग्रामीण समाज के शिल्पियों को दी गई कर-मुक्त भूमि। (२) राजा, बादशाह आदि की ओर से किया गया अधीनस्थ-करद राज्य, ताल्लुका। (३) कर-मुक्त जमींदारी (गाइड०)। पर्या०—लाखराज, माफी। खिल्लत इससे भिन्न है। (४) खालसा के विरोधस्वरूप स्थानीय प्रशासन को बनाये रखने के लिए मुगलों के समय में दी जानेवाली कर-मुक्त जमीन (गाइड०)।
[जागीर (फा०); जागीर (हिं०), जागिर (ने०)]।

जागीर खिदमती—(सं०) जमींदार की ओर से नौकरों को दी जानेवाली कर-मुक्त भूमि (गाइड०)।

जागीर गोड़ैती—(सं०) गोड़ैतों को दी जानेवाली कर-मुक्त भूमि (गाइड०)। पर्या०—माफी, गोड़ैती।

जागीरदार—(सं०) (१) चौकीदार को कहीं-कहीं कर-मुक्त भूमि (जागीर) नकद पारिश्रमिक के बदले में दी जाती है, अतः वह जागीरदार कहलाता है। (२) जागीरप्राप्त व्यक्ति, जमींदार।
[जागीर—दार (प्र०), (फा०)]।

जागीर पकड़ाही—(सं०) चौकीदार को दी गई कर-मुक्त भूमि (गाइड०)।

जाट, जाटि—(सं०) तालाब के बीच में गाड़ा गया लकड़ी का खंभा। पर्या०—जाटि, जाठ, लाठ (द० मुँ०)।
[जाट < यष्टि-, यष्टि (संस्कृ०), जट्ठि (प्रा०)]।



जाटि, जाठ—(सं०) तालाब के बीच में गाड़ा गया लकड़ी का खंभा। दे०—जाट।
[जाट+इ < जाट < जट्ठि < यष्टि-]।

जाठ—(सं०) (१) ऊख के कोल्हू के बीच घूमनेवाला खंभा, जो ऊँख को पीसता है और उससे रस चूता है। यह कोल्हू तेल-कोल्हू के समान होता था, इसका उपयोग उन्नीसवी सदी के अन्त में होता था। (२) तेल के कोल्हू के बीच घूमनेवाला छोटा खंभा, जिसके घूमने और दबाव पड़ने से तेलहन से तेल निकलता है।

[<यष्टि- > जट्ठि > जाठ]।

जाठ, जाठि—(सं०) तालाब के बीच में गाड़ा गया लकड़ी का खंभा। दे०—जाट।

[< यष्टि-]।

जाठि, जाठ—(सं०) तालाब के बीच में गाड़ा गया लकड़ी का खंभा। दे० – जाट।

[जाठ + इ < जट्ठि < यष्टि-]।

जाती—(सं०) हल के जुए में लगी वह रस्सी, जिससे बैल का संचालन होता है (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[< योत, < योक्त्- (?)]।

जाथा-पूंजी—(सं०) कुल संपत्ति, धन-दौलत (चंपा०-१)।

[जाथा+पूँजी < यथापूँजी < यथापुञ्ज(?)]।

जान—(सं०) (१) थोड़ा गहरा जलाशय (मै०)। (२) जीवन, प्राणधारण।

[देशी, (फा०)]।

जाना—(सं०) सिनाई में एक किसान के द्वारा दूसरे किसान की सहायता करने की प्रक्रिया (सा०, चंपा०)। पर्या०—पैरि (प०), पलटी (प०, पट०, गया), परिहर (पट०), (चंपा०, द० मुं०), पाएट (चंपा०, द० भाग०)।

[देशी, या संभ० < जन-]।

जाना—(सं०) मजदूर (चंपा०-१)।

[< जन-]।

जाब—(सं०) अनाज की दौनी के समय या अन्यदा भी, मवेशियों के मुँह पर लगाई जानेवाली जाली। पर्या०—जाबा (गया), जाबी (पू० मै०, पट०, द० भाग०), जाली (द० मुं०), जाव (चंपा०-१)।

[< (?); जाबि (ने०), जेब (हिं०) < जेब (फा०)]।

जाबा—(सं०) (गया)। दे०—जाब।

[जाब + आ, दे०—जाब]।

जाबी—(सं०) (१) छोटी जाली, जो मवेशियों के बच्चों के मुँह पर उन्हें मिट्टी खाने से रोकने के लिए लगाई जाती है (सं० उ० प०)। (२) दौनी करने के समय या दूसरे समय भी मवेशियों के मुँह पर लगाई जानेवाली जाली (पू० मै०, पट०, मुं०- १; द० भाग०)। दे—जाब।

[जाब + ई० (अल्पा० प्र०) > जाब]।

[जाब + ई (स्वा० प्र०)। दे०—जाब]।

जाब्ता दिवानी—(सं०) सर्वसाधारण के परस्पर आर्थिक व्यवहार से संबंध रखनेवाला कानून (सा०-१)।

[जाब्ता + दिवानी (फा०)]।

जामन—(सं०) जामुन (शाहा०)।

जामु—(सं०) एक प्रसिद्ध फल या उसका वृक्ष, जामुन (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[< जम्बू-]।

जामुन—(सं०) एक प्रसिद्ध फल, जो बेर के आकार का और काला-बैंगनी रंग का होता है। यह स्वाद में मीठा और कसैला होता है। इसके रस का सिरका भी बनता है और गुठली की दवा होती है। (२) इस फल का पेड़।

[जामुन < जम्बु, जम्बुल। जम्बु, जम्बुल (संस्कृ०); जम्बुल (पा० प्रा०); जामुन (हिं०); जामुन (ने०); जामुन (कुमा०); जामुण (पँ०); जाँभुल (मरा०); दिबुल (सिंह०)]।

जाम्हर—(सं०) निकृष्ट भूमि को नष्ट करनेवाली एक कड़ी मोटी घास (पट०, द० मुं०)। दे०—जम्हार।

[देशी]।

जाल—(सं०) (१) बुने हुए या गूँथे हुए बहुत-से डोरों की बनी एक विशेष प्रकार की वस्तु, जिसका उपयोग मछली पकड़ने के लिए होता है। पर्या०—जालो। (२) चिड़ियों के पकड़ने के लिए सूत का बना हुआ गोल छिद्रोंवाला साधन-विशेष (सा०-१)। (३) सूत का बुनकर बनाया गया छेदोंवाला छोटा झोला, या बड़ा जल्ला, जिससे भूसा आदि ढोने का काम लिया जाता है।

[जाल < जाल-। जाल- (संस्कृ०); जाल (पा०, प्रा०); जाल (हिं०); जाल् जालि, जालो (ने०); जाल् (कुमा०); जाल (कश्म०); जाल (असा०); जाल (गं०); जाल (ल०); जाळ(सि०); जाल (गु०); जाल (मरा०)= घना, जाळे (मरा०) = जाल; दाल (सिंह०)। जाल (ओ०)=जाल, जालिया (ओ०)=जाल से मछली पकड़नेवाला। जाल, जाला, जल्ला (बिहा०) < जौल्ल (म० मारो०); मिला०—जाल्य (संस्कृ०)= जाल में पकड़ने योग्य; जाल (गु०)=मकड़ी का जाला—(नेपा०)]।

जाला—(सं०) (१) घास ढोने का एक प्रकार का जाल। पर्या०—जल्ला (सा०, मुं०), कपाई (द० भाग०)। भूसा ढोने या रखने के लिए रस्सी का बना जाल

(सामा०) दे०—जल्ला। (३) अफीम में लगनेवाला एक रोग (पट०, पू०) दे०—खस्का। (४) चावल आदि में लगनेवाला कीड़ा या उसका जाल। (५) आँख में होनेवाला रोग-विशेष।
[जाल+आ (स्वा० प्र०) < जाल—]।

जाला—(सं०) (१) भूसा आदि रखने या ढोने के लिए रस्सी का जालीदार बड़ा थैला (मुं०-१)।

जाली—(सं०) (१) सिर पर माल ढोने के लिए रस्सी का बना एक प्रकार का जाल (शाहा०, द० मुं०, मै०)। दे०—जलखरी। (२) बुने या गूँथे हुए डोरों का बना साधन-विशेष, जिसका उपयोग मछली पकड़ने के लिए होता है। दे०—जाल। (३) दौनी के समय या अन्यदा भी मवेशियों के मुँह पर लगाई जानेवाली रस्सी की बनी जाली (द० मुं०)। दे०—जाब। (४) मँड़ासी के ऊपर लगी लकड़ी की भारी बेंट। पर्या०—जलिया, मुँगरी, बेंट (कहीं-कहीं)। (५) चावल आदि अन्न में लगनेवाला एक कीड़ा या उसके द्वारा अन्न में बनाया गया जाल। (६) आँख का रोग-विशेष। (७) रस्सी, सूत या लोहे के तार या छड़ का बुना हुआ छिद्रयुक्त साधन-विशेष या जाल।
[जाल+ई (प्र०) < जाल-]।

जावा—(सं०) बाजरे का रूईदार फूल (द० मुं०)। दे०—घोंपा।
[देशा]।

जासर—(सं०) एक प्रकार की काँटा-रहित मछली। (सा०-१)।
[देशा]।

जासू—(सं०) पान के पत्तों का टुकड़ा, जो मदक में मिलाया जाता है।
[देशा]।

जाह—(सं०) दलदल (पट०, गया, द० मुं०)। दे०—झील।
[देशी]।

जिअँच—(सं०) एक प्रसिद्ध पेड़, जिसकी शाखा भी काटकर लगाने पर उग आती है।

जिअरा—(सं०) (१) दे०—जीयँच। (२) मछलियों को फँसाने के लिए बंसी आदि में डाली जानेवाली वस्तु; जैसे छोटी मछली, घोंघे का मांस इत्यादि (चंपा०-१)। (३) प्राण, जीवन।
[जिअ+रा (प्र०) < जिअ < जीव-]।

जिआन—(सं०) किसी चीज की बरबादी (चंपा०-१)।
[जियान (अ०)। मिला०—ज्यान (संस्कृ०)< √ज्या (=वयोहानि=आयु का घटना)]।

जिआवल—(क्रि०) (१) जीर्णोद्धार करना। (२) किसी पौधे या प्राणी आदि को जीवित करना (चंपा०-१)।
[जिआ+आवल (क्रि० प्र०) < जिआ < जीव √जीव् (जीवयति)]।

जिआरी—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी]।

जिनजिन—(सं०) एक प्रकार का पौधा (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी]।

जिनवाँ—(सं०) दूब की तरह की एक घास।
[देशी]।

जिनवाँ—(सं०) एक पशुखाद्य घास (प०) पर्या०—भीरो (पू० मै०)।
[देशी]।

जिनीस—(सं०) गल्ला (पट०-१)।

जिनोरा—(सं०) (१) एक प्रसिद्ध भदई अनाज, जो उजला या लाल एवं गोल और वृंत पर चिपटा होता है, इसका आटा या भूँजा खाया जाता है, इसका पौधा लंबा होता है और पौधे के ऊपर अधखिला कमल-जैसा दाने का गुच्छा होता है (पट०, पट०-१)। दे०—जनेर।
[जि+नोरा < यव+नाल-]।

जिनोरा—(सं०) (२) एक प्रसिद्ध भदई अनाज, जो बड़े गोल-चिपटे दाने का, श्वेत-पीत और लाल वर्ण का होता है। इसके आटा, दलिया, सत्तू, भूँजा आदि खाये जाते हैं (पट०)। दे०—मकई।
[जि+नोरा < यव-नाल-]।

जिन्दा—(सं०) उगनेवाला सबल बीज या जिंदा रहनेवाला पौधा (चंपा०-१)।
[देशी, या < जिआ < जिंदा (फा०)]।

जिन्स—(सं०) फसल, उपज (गाइड०)।

जिन्सवार—(सं०) फसल के विषय में दिया गया विवरण (गाइड०)।

जिन्हार—(सं०) निकृष्ट भूमि को नष्ट करनेवाली एक मोटी कड़ी घास (द०प० शाहा०)। दे०—जन्हार।
[देशी]।

जिबगर—(सं०) कुएँ के स्रोत का पानी (द० मुं०)।
[जिब+गर (प्र०) < जीव-]।

जिमड़—(सं०) एक प्रकार का पौधा (पट०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी]।

जिमिदार—(सं०) जमींदारी का स्वामी। पर्या०—मालिक, सरकार, गांव के ठाकुर (द० प० शाहा०), गौंआं (शाहा०), जमींदार।
[जिमि+दार < जमींदार (फा०)]।

जिमिदारी—(सं०) (१) वह जमीन, जो किसी रैयत को एक निश्चित राजस्व देने की शर्त पर दे दी गई हो। (२) वह जमीन, जिसकी नकदी मालगुजारी सरकारी खजाने में दी जाती हो (३) जमींदार की मिल्कियत। पर्या०—तालुकादारी=बड़ी जमींदारी।
टि०—जिमिदारी और तालुकादारी एक ही वस्तु है, किंतु जब दोनों की तुलना की जाती है, तब जमींदार छोटी और तालुकादारी बड़ी मानी जाती है। इसके अधिकारी स्वामी एक अथवा अनेक होते हैं, जिनके अधिन अलग-अलग गांव और परगने रहते हैं। अथवा वैधानिक स्वत्व के अनुसार राजकीय भूमि-कर चुकता करने के अनंतर आपस में प्रस्तुत संपत्ति या द्रव्य बांट लिया जाता है।
[जिमि+दार+ई (प्र०) < जमींदारी < जमीन्दार < जमीन+दार (प्र०)-फा०]।

जियतार—(सं०) (१) वह मछली, जो मरी न हो। (२) वह घाव, जो सूखा न हो (चंपा०-१)। (३) जीवित रहनेवाला।
[जियता+र (प्र०) < जीवित-]।

जियरा—(सं०) (१) मछली फँसाने के लिए बंसी में लगा मछली का भक्ष्य पदार्थ। (२) हृदय (चंपा०-१)।
[जिय+रा (प्र०) < जीव-]।

जिरतिया—(सं०) पारिश्रमिक के रूप में कर-मुक्त भूमि लेकर अपने स्वामी का काम करनेवाला व्यक्ति (पू० मैं०)।
[जिरत+इया (प्र०)< जिरात< जिराअत (अ०)]।

जिरात—(सं०) खेती की वह प्रणाली, जिसमें निलहा अथवा जमींदार स्वयं खेती करता था। पर्या०—बाड़ी (द० भाग०)।
[< जिरआत (अ०)]।

जिला—(१) किसी जमींदारी का एक भाग। (२) प्रांत या प्रदेश-राज्य की एक बड़ी इकाई, जिसमें कई सबडिविजन होते हैं। जिलादार—जिले का अधिकारी।
[—जिला (अ०)]।

जिलादार—(सं०) जिले का अधिकारी।
[जिला (अ०)+दार (फा०)]।

जिलेबी—(सं०) एक प्रकार का फल (पट०-१, पूर्णि०-१)। (२) एक प्रसिद्ध मिठाई, जो खमीरायुक्त मैदे के गाढ़े घोल से घी में छानकर तैयार की जाती है और बाद में चीनी की चाशनी में डालकर निकाल ली जाती है।
[जिलेबी < जलाब (हिं०)=खमीर, शीरा]।

जिवगर—(वि०) जीवित, सप्राण या महाप्राण, उर्वर (भूमि आदि)।

जिवगर होए ला धूर बैसाओल—(मु०) खेतों को उर्वर बनाने के लिए खाद के निमित्त उसमें पशुओं के बैठाने की प्रक्रिया। दे०—मेंड़ी बैसाओल।
[जिवगर+होए+ला+धूर+बैसाओ+ल (मु०)]।

जीगर—(सं०) उपजाऊ और ताकतवर मिट्टी (पट०)। दे०—बरियार।
[संम०—जी+गर < जीव + गर (प्र०) < जीव < जीव-]।

जीन—(सं०) (१) एक प्रकार का केला (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) घोड़े की पीठ पर रखी जानेवाली गद्दी।
[देशी]।

जीयंच—(सं०) एक प्रसिद्ध पेड़, जिसकी शाखा रोपने पर पुनः उग जाती है। इसकी मोटी शाखाएं लाठे के खंभे के रूप में काम आती हैं।
[जीवन्च < जीवत्, जीव+वत् (=शतृ-प्र०) या = जीव+वृक्ष (?)]।

जीयल—(सं०) जीयंच वृक्ष का बना ढेकुल का स्तंभ, जो जीवित रहता है।
टि०—जीयंच नाम का एक पेड़ होता है, जिसकी शाखा के गाड़ देने से ही पेड़ लग जाता है और अनुकूल स्थिति में उपशाखाएँ निकलती हैं। वह मरता नहीं है, अतः इसके खंभे को जीयल कहते हैं।
[जीव + ल (प्र०) < जीव < जीयल, जियल (=जीना) < √ जीव]।

जीयल—(क्रि०) जीना, जीवित रहना। (वि०) जीवित।
[जीव+ल (प्र०) < जीव< √ जीव् (=जीवति, जीव्यति)]।

जीर—(सं०) (१) महीन और लंबे दानोंवाला एक प्रसिद्ध मसाला (द० पू० मैं०, पट०-१)। दे०—जीरा। (२) मछली का अंडा या छोटा बच्चा।
[< जीर, < जीरक-। जीर-जीरक-(संस्कृ०); जीरक (पा०); जीर (प्रा०); जीरा (हिं०, पं०); जिरा (बं०, ओ०); जिरा (असा०); जीरि (पं०, सिं०) जीरो (सिं०); जिरो (ने०); जिरो (कुमा०); जीरू०; (गु०); जिरे, जिरी (मरा०); जिरूँ-मिरूँ (मरा०)= मसाला; ज्युरु (कश्म०); जीर (सिंह०)]।

जीरा—(सं०) (१) महीन और लंबे दानोंवाला एक प्रसिद्ध मसाला। इसका क्षुप प्रायः तीन फुट का होता है, इसमें सफेद फूलों के छत्ते लगते हैं, जिनमें दाने होते हैं। यह प्रतिवर्ष बोया-काटा जाता है। उत्तर भारत में बंगाल, आसाम-प्रदेश को छोड़कर प्रायः सभी स्थानों में होता है। (२) मछलियों का अंडा; उससे निकला छोटा शिशु। पर्या०—जीर, (द० पू० मैं०)।
[<जीर, जीरक- (संस्कृ०); जीर (पा०); जीरय, जीरअ; जीरा (प्रा०); जीरा (हिं०; पं०); जिरे (बँ०, ओ०); जिरो (ने०); जिरें (मरा०); जीरूं (गु०), जीरी, जीरो (सिंह०); जीर (का०); जीर— (संता०)]।

जीरात—(सं०) जमींदार की ओर से होनेवाली उसकी अपनी खेती।

जीरासार—(सं०) उत्तम महीन धान का एक भेद, जिसके दाने जीरे की तरह महीन और छोटे होते हैं (मुं०-१)।
[जीरा+सार < जीरक+शालि-]।

जीरी—(सं०) खीरा, लौकी आदि की छोटी बतिया।
[जीर+ई (अल्पा० प्र०) < जीर-(ला० प्रयो०)]।

जीबन—(सं०) कैमूर (शाहा०) पहाड़ी की जातियों में प्रयुक्त शब्द, जिसका अर्थ है 'रकबे का अंतर।'

जुआठ—(सं०) हल जोतने के समय बैलों के कंधे पर रखा जानेवाला लकड़ी का जुआ। (शाहा०, गया, सा०, पू०)। दे०—पालो।



[जुआ+आठ<युग+काष्ठ-]।

जुआबल—(क्रि०) (१) बैल आदि को हल, गाड़ी, कोल्हू आदि में जोतना। (२) किसी की बातचीत में जी-हुजूरी करना (चंपा०-१)।
[जुआ+आवल (प्र०) < जुआ < युग-]।

जुगड़ा—(सं०) एक पशुखाद्य घास (द० मुं०)। दे०—चरी।
[देशी]।

जुजवी हिस्सेदार—(सं०) जमींदारी में छोटे दाय के अधिकारी स्वामी (पट०)। दे०—खुरदिहा मालिक।
[जुजवी (फा०) = (बहुतों में से कोई एक, बहुत छोटे अंश का)+हिस्से+दार (फा, प्र०)]।

जुट्टी—(सं०) (१) मकई के सूखे भुट्टों का उनके आवरण के साथ बाँधा गया गुच्छा। (मुं०-१)।



[जुट्ट+ई (प्र०) < जुति-, युत-, युक्त-]।

जुट्टा छुटल—(क्रि०) (१) धान रोपने में किसी खेत में रोपनी का काम का बचा रह जाना (पट०-१)। (२) जूठा छूटना।

जुड़ गुड़ी—(सं०) एक पशुखाद्य घास। (द० भाग०)। दे०—चरी।
[देशी]।

जुनियरी—(सं०) छोटी अदालतों में किया गया मुकदमा (गाइड०)।
[जुनियर (अं०)]।

जुनेरी—(सं०) खस घास की बनी हुई रस्सी, जो बोझा बाँधने के काम आती है।
[जुन + एरी < जूना (हिं०, बिहा०) < जूर्ण- (=एक प्रकार का तृण)]।

जुन्ना—(सं०) एक प्रकार की घास की रस्सी, यह बोझा बाँधने तथा बरतन साफ करने के काम आती है। पर्या०—जूना, जौरी (पट०, गया), पतहर (चंपा०), सरपत (मैं०)।



[जूना < जूर्ण-]।

जुअठ—(सं०) गाड़ी का जुआ। (चंपा०-१)।
[जुअ + ठ वा जु + अठ < जु + आठ <युग+ काष्ठ-]।

जुअड़—(सं०) (१) दो फट्ठों (पल्लों) का बना हुआ बैल का जुआ। (२) जुए के ऊपर का पल्ला (चंपा०, गया)। दे०—पालो।
[जु + अड़ < जु + अठ < जु + आठ < युगकाष्ठ—]।

जूअड़—(सं०) गाड़ी के लगुन के ऊपर की वह लकड़ी, जिसमें दोनों ओर बैल जोते जाते हैं। जूआ। (शाहा०)। दे०—जुआ।



[जू + अड़ < जू + अठ < जु + आठ < युगकाष्ठ—]।

जूआ—(सं०) (१) हल, गाड़ी आदि का वह अगला अंश, जो बैलों के कंधों पर रखा जाता है, जुआठ।
[जूआ < युग, युगक-। युग-(संस्कृ०), जुग—(पा०); जुअ (प्रा०); जूआ (हिं०); जुवा (ने०); जुवा (कुमा०); जु (बँ०); जुहद (सिं०)=हलका जूआ; जु (मरा०); यूँ (शिना०); यु (सिंह०) = दो मास की अवधि]।

जूआ—(सं०) (२) जाति का हत्था या मूठ (पट०)। दे०—हथरा-हाथड़।
[< युग-, युगक—]।

जुआ—(सं०) (४) गाड़ी के सगुन के ऊपर की वह लकड़ी, जिसमें दोनों ओर बैल जोते जाते हैं। पर्या०—जुअड़ (शाहा०)। जुआ— (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[< जुग-, जुगक-]।

जुआठ—(सं०) दो फट्ठों (पल्लों) का बना हुआ जुआ। जुए के ऊपर का पल्ला। दे०—पालो।

[जु + आठ < जुग काष्ठ—]।

जुना—(सं०) (१) एक प्रकार की रस्सी। यह बोझा बाँधने या बरतन साफ करने के काम आती है। दे०—जुआ।

[< जूर्ण-]।

जुना—(सं०) (२) दौनी के समय चारे या फसल की रक्षा के लिए बैल के मुँह को चारों ओर से कस देने की पुआल की रस्सी। दे०—जेरुआ।।

[< जूर्ण-]।

जुना—(सं०) (३) धान के पुआल आदि का बना मोटा रस्सा (मुँ०-१)।

[< जूर्ण-]।

जूर—(सं०) एक पशुखाद्य घास (द० प० शाहा०)।

[< जूर्ण-]।

जूहा—(सं०) बैलगाड़ी में जोते जानेवाले बैलों के कंधों पर रखी जानेवाली लकड़ी (पट०-। पर्या०—पालो।

जूही—(सं०) एक प्रकार का फूल (दर०-१)।

[<जुषी]।

जेंवर—(सं०) साधारण रस्सी। दे०— रस्सी।

[जेंव + र (प्र० १) < यमन < √ यम् ; वा जें + वर < ज्यावर-<ज्या + वर (=धनुष की उत्तम प्रत्यंचा)]।

जेटंस—(सं०) पैतृक संपत्ति के बँटवारे में जेठे भाई को मिलनेवाला अतिरिक्त अंश।

टि०—अँगरेजी कचहरियों के पहले जेठे भाई का छोटे भाई की अपेक्षा बड़ा अंश होता था। पर्या०—जेठहंस (सा०), जेठौती (उ० पू० मै)०।

[जेठं+स < जेठ+अंस < ज्येष्ठ+अंश-]।

जेठ—(सं०) (१) ज्येष्ठ, भारतीय वर्ष का तीसरा मास, ग्रीष्म ऋतु का प्रथम मास (मई के प्रायः अंतिम और जून के आदि के १५-१५ दिन)। इस मास की पूर्णिमा में प्रायः ज्येष्ठा नक्षत्र पड़ता है, अतः ज्येष्ठ नाम पड़ा। (२) पति का बड़ा भाई। (३) जेठा, अग्रज। (स्त्री०-) जेठानी=जेठ की पत्नी, जेठी= बड़ी लड़की।

[< ज्येष्ठ,<ज्येष्ठ<ज्येष्ठा; ज्येष्ठ; ज्येष्ठ- (संस्कृ०); जेट्ठ, जिट्ठ (प्रा०); जेठ (हिं०, पं०, कश्मी, स०), जेठवड़ (मरा०)]।

जेठरइयत—(सं०) जमींदार का बड़ा रैयत, जो ज्यादा मालगुजारी देता था (पट०-१)।

जेठ रैयत—(सं०) कहीं किसी जमींदारी में पाया जानेवाला प्रधान काश्तकार, जो असामी और जमींदार के बीच मध्यस्थ होता था और असामियों से कर संगृहीत करके जमींदार को देता था। इसके लिए उसे छोटी-मोटी सुविधा मिल जाती है (सामा०)। दे०—महतो। (२) रैयतों में प्रधान (गाइड०)।

[जेठ+रैयत, जेठ < ज्येष्ठ, रैयत (फा०)]।

जेठहंस—(सं०) पैतृक संपत्ति के बँटवारे में जेठे भाई को मिलनेवाला अतिरिक्त अंश (सा०), दे०—जेठंस।

[जेठ+हंस < ज्येष्ठ+अंश-]।

जेठी—(सं०) जनेर का एक भेद, जो केवल चारे के लिए उपजाया जाता है (उ० प०)। (२) जेठी मधु। (३) बड़ी लड़की।

[जेठी < यष्टि- वा जेठी < जेठ < ज्यैष्ठी < ज्यैष्ठ वा ज्येष्ठ (=जेठ महीना)]।

जेठुआ—(सं०) (१) ग्रीष्म-ऋतु में ताड़ से चुलाई जानेवाली ताड़ी। पर्या०—साल (सा०)। (२) जेठ महीने में होनेवाली फसल या तरकारी आदि।

[जेठ+उआ (वि० प्र०) < जेठ < ज्येष्ठ < ज्येष्ठा (नक्षत्र)]।

जेठुआ तरकारी—(सं०) ग्रीष्म-ऋतु में उगनेवाली तरकारी (पट०-१)।

जेठौती—(सं०) पैतृक संपत्ति के बँटवारे में बड़े भाई को मिलनेवाला अतिरिक्त अंश (उ० पू० मै०) दे०—जेटंस।

[जेठ + औत + ई (प्र०) < ज्येष्ठ + पुत्र + इक (<ठक)]।

जेड़—(सं०) भेंड़, बकरी आदि पशुओं का समूह (पू० मै०)। दे०—झुंड।

[देशी, मिला०- यूथ-]।

जेरा—(सं०) (१) बंसी की लग्गी में बँधी हुई करीब पाँच हाथ की डोरी (सा०)। (२) झुंड, साथ (भाग०)।

[जेरा < जोरा < जोर < जोड़ (१), < जेवर (=जेरा)-<जीवा (हिं० श० सा०), मिला०—ज्यावर]।

जेवाइन—(सं०) महीन दानों का एक प्रसिद्ध मसाला, अजवाइन (सं० उ०)। दे०—अजवाइन।

[< यवानी। दे०—अजवाइन]।

जेष्ठा—(सं०) अट्ठारहवाँ नक्षत्र, ज्येष्ठा, यह कार्तिक मास में पड़ता है। पंचांग के अनुसार एक दैनिक नक्षत्र है, जिसका मान प्रायः चौबीस घंटे का होता है और दूसरा पाक्षिक, जिसका मान १३ दिन से १५ दिनों तक का होता है, खेती में इसी पाक्षिक नक्षत्र का उपयोग होता है।

[जेठा < ज्य (=प्रशस्त)+इष्ठ (प्र०)]।

जेसरिया—(सं०) एक प्रकार का धान (चंपा०-१)।

[< जयश्रीः (?) या < जेसोर (बंगाल का एक जिला)]।

जैंत—(सं०) एक प्रकार का पौधा (दर०-१, पूर्णि०-१)।

जैंती—(सं०) दशहरे के समय ब्राह्मणों द्वारा कृत्रिम तौर पर उगाकर बाँटा जानेवाला जौ का छोटा पौधा (पट०)। दे०—जई।

[जैंत+ई < जयन्ती, जयन्त, (मो० बि० बि०)]।

जै—(सं०) जौ की जाति का ही एक लंबा पतला अनाज, जो प्रायः घोड़ों को खिलाया जाता है। दे०—जई। पर्या०—जैई (दर०-१, पूर्णि०-१)।

जैई—(सं०) (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—जै।

जैदाद—(सं०) भूमि या दूसरे प्रकार की कोई चल या अचल संपत्ति। दे०—जायदाद।

[जायदाद (फा०), जाय+दाद < जाति (पुत्र)+दाद, दाद < √ दद्, दाद = दाय (मह०) मिला०—यौतक-, युतक- = वैयक्तिक संपत्ति, स्त्रीधन]।

जैदादी—(सं०) (१) वह भूमि, जिसका भूमि-कर फसल के अनुसार घटता-बढ़ता या माफ होता हो।

टि०—यह भूमि बाढ़ के क्षेत्र के अंतर्गत होती या थुरी होती थी, जिसमें उपज निश्चित नहीं होती थी, अतः, उपज होने पर उसी के परिणाम के अनुसार भूमि-कर निश्चित किया जाता था। भले ही, उसमें कोई भी फसल हो। यह कर-निर्धारण प्रतिवर्ष नया होता था और कभी किसी वर्ष उपज न होने पर कर नहीं भी लगता था।

(२) एक प्रकार की खेती, जिसका कर प्रतिवर्ष जमीन की नाप के बाद निर्धारित किया जाता था। (गाइड०)।

[जैदाद + ई (प्र०) < जायदाद (फा०) दे०—जैदाद]।

जैदावीरेंट—(सं०) जैदादी जमीन पर लगनेवाला अनेक प्रकार का कर (गाइड०)।

[जैदाद+ई (प्र०) + रेंट < जायदाद (फा०) + रेंट (अं०)। दे०—जैदाद]।

जैयद—(सं०) उपजाऊ और ताकतवर मिट्टी। (द० मुं०)। दे०—बरियार।

[जैयद (अ०)= दादा, बड़ा आदमी, मालदार]।

जैयामिरिच—(सं०) एक प्रकार की लाल मिर्च। दे०—मिरिच।

[जैया + मिरिच, जैया < (?), मिरिच < मरीच-]।

जोँक—(सं०) एक प्रसिद्ध बरसाती कीड़ा।

जोँका—(सं०) (१) फाल को गिरने से बचाने के लिए हल में ठोका जानेवाला टेढ़ा और पतला लोहा। (पट०)। दे०—कलआर। (२) ऊख की जड़ से निकलनेवाली शाखा, जिससे पौधे को हानि पहुँचती है (पट०, गया)।

[जोंक + आ < जोंक < जलौकस्-(?) (सा० प्रयो०)]।

जोँकिया—(सं०) जानवरों के पेट का एक रोग, जिसमें जोंक (कीड़ा) हो जाया करता है (पट०-१)।

[जोंक + इया (प्र०) < जोंक < यूक (?) या < जलौकस् (?)]।

जोँकी—(सं०) (१) फाल को गिरने से बचाने के लिए हल में ठोका हुआ पतला और टेढ़ा लोहा (द० (पू० मै०)। दे०—कलआर। (२) छोटी जोंक।

[जोंक + ई < जोंक]।

जोँगा—(सं०) एक प्रकार का धान, जो छींटकर (बावग) बोया जाता है (गया, द० भाग०)।

[जोंगा—देशी, मिला०—जोङ्ग-, जोङ्गक-(संस्कृ०)= अगर, अगुरु]।

जोधरिया—(सं०) ज्वार की जाति का एक अनाज, जो छोटे दानोंवाला और मटमैले रंग का होता है। (द० प० शाहा०)। दे०—बजड़ा।

[जोधर + इया (प्र०) < जोन्हरी < यवनाल-; < जूर्ण-(?)]।

जोधरी—(सं०) जनेर या ज्वार का एक भेद, जो बड़े लाल दानों का होता है (शाहा०)। पर्या०—सिसुआ, रकसी।

[< यवनाल-, जूर्ण-(?)]।

जौ—(सं०) गेहूँ की जाति का एक प्रसिद्ध चैती अनाज, जिसका वर्ण श्वेत-हरित और दोनों ओर नुकीला होती है और जिसका आटा खाने के व्यवहार में आता है (पट०, द० पू०)। दे०—जौ।

[जौ < यव-]।

जोइना—(सं०) पुआल की मोटी रस्सी।
[जोइना < जूना < जूर्ण-]।

जोकटी—(सं०) (१) जोते हुए खेत की मिट्टी को बराबर करनेवाले हेंगे में लगाई हुई टेढ़ी कील (पट०-१)। (२) गीली मिट्टी में स्वयं उत्पन्न होनेवाला सरीसृप कीट-विशेष। यह जोंक की तरह होता है, मिट्टी खाता है और मिट्टी से अपना निवास बनाता है।

जोखल—(क्रि०) मापना, नापना, अंदाज करना, तौलना, (चंपा०, भाग०)।
[जोख+ल (प्र०) < जोषण < √जुष् (?)]।

जोखेसरा—(सं०) जौ और खेसारी का मिश्रण (द० पू०)।
[जो+खेसर+आ (प्र०)< जौ+खेसारी, जौ<यव, खेसारी<(?) दे०—खेसारी]।

जोगनिहार—(सं०) रखवाला (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[जोगनि+हार<जोगन<योजन< √ युज्]।

जोगनी—(सं०) (१) रखवाली (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) योगिनी, ज्यौतिष का कालविषयक वस्तु-विशेष।
[जोगन+ई (प्र०) < जोगल (बिहा०)। जोगना (हिं०), < योजन <√युज्]।

जोगल—(क्रि०) जोगना, रखवाली करना; फसल, अन्न या किसी वस्तु की निगरानी करना।
[जोग+ल (प्र०)<जोग<योग<√युज् (?)]।

जोगवार—(सं०) पहरेदार, रखवाला (मुं०-१)।
[जोग+वारा योग+वार, <वाला (हिं० प्र०)]।

जोगनियाँ—(सं०) फसल या अनाज की रक्षा करनेवाला (द० भाग०)। दे०—रखवार। जोगाएब= रखवाली (द० भाग०, चंपा०)।
[जोगन+इयाँ <जोगना < योजन< √युज्]।

जोगाएब—(सं०) फसल या अनाज की देखभाल (चंपा, द० भाग०)। दे०—रखवाली।
[जोग+आएब < योग<√युज्]।

जोगियातार—(सं०) ताड़ का वह पेड़, जिसका फल मझोला होता है। (पट०-१)।

जोठ—(सं०) (१) दो फट्ठों (पल्लों) का बना हुआ, बैल के कंधे पर रखा जानेवाला जुआ। (२) जुए के ऊपर का पल्ला (पट०)। दे०—पालो।
[<जुअ-वा<युगकाष्ठ->जुअ+काठ>जुआठ> जुअठ>जोठ]।

जोड़ा—(सं) (१) दो बैलों की जोड़ी। (२) तीन बैलों से चलनेवाली गाड़ी में पहियों के पास चलनेवाले दोनों बैल (पू०)। (३) युग्म, दो की राशि।
[<जोड़,<युक्त,<युत (?)]।

जोड़िआयल—(सं०) (१) सर्प आदि सरीसृप या पक्षी आदि तिर्यग्योनि के जोड़े का मैथुन करना। (२) कई चीजों को एक जगह इकट्ठा करना।
[जोड़+इआयल (प्र०) < जोड़<जोड-]।

जोड़ी—(सं०) (१) तीन बैलों द्वारा खींची जानेवाली गाड़ी में पहिये के नजदीक रहनेवाले दोनों बैल (पू०)। दे०—धूरी। (२) युग्म, दो की राशि।
[जोड़+ई, जोड-, <जोड़,<दत्त<युत-]।

जोत—(सं०) (१) जोतना, चास। (२) मालगुजारी, जिसे 'गाछ' भी कहते हैं; यह बेंगाल टेनेंसी ऐक्ट की तीसरी धारा के अनुसारी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

जोतउआ—(सं०) (१) बैलगाड़ी के जुए में लगी हुई रस्सी, जो बैलों के गले के नीचे से ले जाकर जुए के अंतिम छोर से बाँध दी जाती है (पट०-१)। (२) जोत से संबद्ध।

जोतल—(क्रि०) जोतना। हल, गाड़ी आदि में बैलों को आगे बाँधकर चलाना। पर्या०—**हर जोतल** = हल जोतना। **बहल** = बहना; **हर बहल** = हल बहना, हल जोतना। **चलाएल**=चलाना; **हर चलायल**=हल चलाना, हल जोतना; **नाधल**=नाधना, जोतना; **हर नाधल**=हल नाधना, हल जोतना, (नाधना का प्रयोग जोतने के लिए बैलों को हल में बाँधने में होता है।)। **नरनौ**=नाधना (चंपा०, द० पू० मै०); **सिराउर के धरल** = (मुं०, चंपा०) = जोतना; **सरिया के जोतल**=(मुं०, चंपा०)=जोतना। **पैस धरल, पुइस धरल**=(चंपा०, मै०)=जोतना। **दहिन धरेआव** (चंपा०, द० पू०, मुं०)=जोतना।

जोतल—(क्रि०) (१) हल, गाड़ी, कोल्हू आदि चलाने के लिए उसके आगे बैल आदि बाँधना। (२) हल चलाना। (३) किसी को किसी काम के लिए जबरदस्ती प्रवृत्त करना। (४) गाड़ी आदि में बैल आदि जोतकर उसे चलाने के योग्य करना (चंपा०-१, दर०-१, पूर्णि-१)।
[जोत+ल (प्र०) < योत्त्रण <योक्त् < √युज् (जोड़ना); जोतना (हिं०, पं०); जोता (बं०); जोतिबा (ओ०); जोतवुं (गु०); जोत्नु (ने०);जोतणो (कुमा०)]।

जोतनाएल—(क्रि०) हल से जोतना (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[जोतन+आएल<जोतना<योक्, योक्त्र। दे०—जोतना]।

जोता—(सं०) (१) जुए में बँधे हुए बैल के गले के नीचे से जाकर जुए के दूसरे भाग में जुड़नेवाली रस्सी (सा०, चंपा०, शाहा०)। पर्या०—जोती, गलजोती। (२) सिंचाई करनेवाले लट्ठे की लग्गी

या बरहे को बाल्टी या कूंड़ से मिलानेवाली छोटी रस्सी, जिसमें गाँठ रहती है (सा०, पट०, गया, द० पू०, पट०-१) दे०—पनछोर।



(३) मछली मारने के साधन टोटका की रस्सी, जो उसे उठाने के लिए लगाई जाती है। (चंपा०-१)।

[< योक्त्रक-]।

जोता बावग—(सं०) वह खेत, जिससे एक बार जोतकर उसमें बीज बोया जाता है (चंपा०, मै०)। दे०—मोकौआ।

[जोता+बावग, जोता < जोतल < योक्त्-;-बावग < वापक < वाप+क (स्वा० प्र०) < √वप्]।

जोति—(सं०) हल के जुए की वह रस्सी, जो बैलों की गरदन के नीचे से जाकर पालो के दूसरे भाग में बँधी रहती है (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—जोती।

[जोति < योक्त्री < √ युज्; 'योक्त्रं बन्धनमस्य यत्'-अमर०]।

जोती—(सं०) (१) पालो में लगी हुई रस्सी, जो बैलों की गरदन के नीचे से दूसरी ओर ले जाकर बाँधी जाती है। पर्या०—जोता (सा०, चंपा०, प० शाहा०), समेल या समैल (उ० पू० मै०), फाँस (द० भाग०), जोती, (दर०-१, पूर्णि०-१)।

(२) सिचाई करनेवाले लट्टू को बाल्टी से मिलानेवाली छोटी रस्सी, जिसमें सरकनेवाली गाँठ (फंदा) रहती है (शाहा०, द० मुं०)। दे०—पनछोर। (३) सिचाई करनेवाले चाँड़ (एक प्रकार की टोकरी) में लगी हुई रस्सी (सा०)। दे०—डोर। (४) ऊख के बोझे को बाँधनेवाली रस्सी। पर्या०—उख्खबधना, गतौरा (द० प० शाहा०)। (५) जुए के साथ बैल के गले के नीचे से बाँधी जानेवाली रस्सी। दे०—जोता। (६) बरहे को कूंड़ से बाँधने के लिए गाँठ दी हुई छोटी रस्सी (शाहा०, द० मुं०)। दे०—पनछोर।

[जोत+ई < योक्त्री < √ युज्, 'योक्त्रं बन्धनमस्य यत्'-(अमर०)—योत्तं (पा०); जोत (प्रा०); जोता, जोत (हिं०); जोत (अस०); जोत (बँ०); जोत (ओ०); जोत् (ने०); जोतर (पं०); जोटो (सि०); जोतर, जोथा (गु०); जोतें (मरा०); जोते (संता०)]।

जोहरी—(सं०) एक प्रकार का भदई अनाज, जो उजला या लाल एवं गोल और वृंत पर चिपटा होता है, इसका आटा या भूँजा खाया जाता है। इसका पौधा लंबा होता है और पौधे पर अधखिला कमल-जैसा अन्न का गुच्छा रहता है (सा०)। जनेर—(दर०-१, पूर्णि०-१)।

[< यवनाल- (?) दे०—जनेर-]।

जोहीया—(सं०) एक प्रकार की घास (चंपा०-१)।

[देशी]।

जोब—(सं०) एक पशुखाद्य घास (गया, मै०, प०, चंपा०-१)।

[देशी, मिला०—यव]।

जोबुट्टा—(सं०) जौ और चने का मिश्रण (उ० पू०)। दे०—बररा।

[जो+बुट्टा < जव+बुट्टा < यव + वृत्त, वा, वृत-वा वृत्त-]।

जोभ—(सं०) एक प्रकार की घास (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—जोब।

[देशी]।

जोर—(सं०) पशुओं के बाँधने की रस्सी (द० भाग०)। दे०—पगड़ा। (२) सुतली की बनी मवेशियों के बाँधने की रस्सी (सा०-१)। पर्या०—पगहा। (३) थोड़ी मोटी रस्सी (मुं०-१)। (४) तेज। (५) साधारण रस्सी। दे०—रस्सी। (६) मवेशियों को खूँटे से बाँधने की रस्सी। (चंपा०, उ० पू० मै०)। दे०—छान। (७) फंदा या गाँठ, जिसके द्वारा पशु बाँधा जाता है। पर्या०—ठेका।

[जोर < योक्त्र-, वा < रज्जु (?) (वर्ण-व्यत्यय के साथ) < ज्जुर < जोर, वा < जोड़- < √ जुड् (बन्धने)]।

जोर—(सं०) छोटी नदी, पहाड़ी नाला (द० मुं०-१)। [जोर (फ०) (?)=वेग, बल]।

जोरल—(क्रि०) डोरी को बाँधना (मुं०-१)।

[जोर+ल (प्र०) < जोड़ < √ जुड् (बन्धने)]।

जोरवा—(सं०) मिट्टी का बरतन, जिसमें ताड़ी रखकर बेची जाती है। पर्या०—बररिया, गोलवा (द० भाग०)।

[देशी]।

जोरा—(सं०) (१) मवेशी की पीठ पर अन्न ढोने का बोरा (शाहा०)। दे०—आरव। (२) भूसा ढोने या रखने के लिए रस्सी का बनाया गया जाल (द० प० शाहा०)। दे०—जल्ला।

[जोर+आ (प्र०) < जोर < जोड़-]।

जोराठ—(सं०) दे०—जोराठा।

जोराठा—(सं०) मजबूत और मोटी रस्सी, रस्सा (मुं०-१)।

[जोर+आठा (प्र०) < जोर < जोड़-]।

जोरी—(सं०) मवेशियों को खूँटों में बाँधने की रस्सी (द० भाग०)। दे०—छान।
[जोर+ई ('ई' ध्वनि के साथ) जोर+अ (ओ) <जोर<जोड़-]।

जोलहर—(सं०) कुएँ की जगत पर मूँज अथवा नेवारी के बीच में रखी गई गीली मिट्टी, जिसपर कुएँ से निकालकर कूँड़ डाला जाता है। (सा०-१)।



[जोल+हर < जल+हार का देशी-(१)]।

जोशाँदा—(सं०) धान को उबालकर और सुखाकर कूटा गया चावल। दे०—उसना।
[जोशाँदा (फा०)=दवा के लिए पानी में उबाली हुई जड़ी या पत्तियाँ आदि (हिं० श० सा०)]।

जोह—(सं०) पता लगाने की प्रक्रिया (चंपा०-१)।
[जोह<जोष< √जुषी (प्रीतिसेवनयोः)—(हिं० श० सा०)]।

जोहल—(क्रि०) देखना, खोजना, प्रतीक्षा करना।
[जोह + ल (प्र०) < जोष < √ जुषी (प्रीति-सेवनयोः)—(हिं० श० सा०)। जोह, जोहवो (संता०)= सावधान होना, प्रस्तुत होना, प्रतीक्षा करना]।

जोहा—(सं०) ऊख के कोल्हू की पेंदी में रस गिरने के लिए काटी हुई नाली (शाहा०)। दे०—नरदोह।
[देशी]।

जोहा—(सं०) टोटका या आरसी-जैसे जाल में मछलियों का वह प्रवेश-द्वार, जो कमाचियों को तोड़कर बनाया रहता है (चंपा०-१)।
[देशी (१)]।

जोहाजाल—(सं०) मछलियों के पकड़ने के लिए कमाचियों का बना एक प्रकार का जाल। दे०—जोहा।
[जोहा+जाल]।

जौंग—(सं०) एक सूँगदार मोटा धान (मुं०-१)।
[मिला०—जोङ्गक (संस्कृ०) = अगुरु]।

जौंड़ा—(सं०) 'लप्पा' को गाड़ी से कसनेवाली रस्सी। दे०—दोंगली।
[मिला०—योक्त्-या जोड़-]।

जौ—(सं०) (१) एक प्रसिद्ध चैती अनाज, जो श्वेत-हरित वर्ण के साथ दोनों ओर से सूँगयुक्त होता है और जिसका आटा खाने के काम आता है। पर्या०—जव (उ० पू०), जो (पट, द० पू०)। (२) छह राई की एक तौल।
[< यव-(संस्कृ०), यव (पा०); जव (प्रा०); जौ (हिं०, पं०); जो (बं०); जब (ओ०); जो (त०); जाउ (सिं०); जव (मरा०); जव (रोमा०); जव (कश्म०); जाउ (सिरि०), जव (दरदी)]।

जौकेराई—(सं०) (१) एक साथ उत्पन्न जौ और केराव (छोटी मटर) का मिश्रण (सामा०)। पर्या०—जौ-मटरा (प०); जकेराई (द० पू०); जवकेरवा (उ० पू० मै०); कुसही केराव (पट०, द० पू०); कोसी (द० भाग०); हरफोरवा केराव (द० प० शाहा०)। (२) एक पशुखाद्य घास।
[जौ+केराई<यव+कलाय-]।

जौगा—(सं०) छींटकर (बावग) बोया जानेवाला एक प्रकार का धान (द० मुं०)। दे०—जौंग।

जौचुट्टा—(सं०) (१) जौ और चने की मिली हुई फसल। (२) वह मिश्रित अनाज, जिसमें जौ और चना मिले हुए हैं (पट०-१)।

जौमटरा—(सं०) एक साथ उत्पन्न जौ और मटर का मिश्रण (प्र०)। दे०—जौकेराई।
[जौ+मटरा; जौ<यव-,मटरा (१)]।

जौरा—(सं०) सामाजिक रीति के अनुसार धोबी और लोहार को प्रति हल १० सेर के हिसाब से किसान की ओर से मिलनेवाला अन्न (उ० प० शाहा०)।
[देशी]।

जौरा—(सं०) कृषि-साधनों की मरम्मत आदि करने के बदले में बढ़ई-लोहार को मिलनेवाली मजदूरी (चंपा०)। दे०—कठा।
[देशी]।

जौरी—(सं०) (१) साधारण रस्सी (मै०, पट०, गया)। दे०—रस्सी।
कहा०—जौरी जरि गेल, ऐंठन ठामे।
(२) एक प्रकार की घास की रस्सी, जो बोझा बाँधने या बरतन साफ करने के काम आती है (पट०, गया)। दे०—जुन्ना।
[<जोड़-]।

झ

झँखरल—(क्रि०) पौधों या पेड़ों से पत्तों, फूलों या फलों का गिरकर समाप्त होना। (वि०) वह पेड़-पौधा आदि, जिसके पत्ते, फूल या फल गिर चुके हों।
[झँखर+ल (प्र०) < झंकारिया, झंखारि फूलों का चुनना—'झंकरिया, झंखारिया अवचयण' (देशी०—३-२६)]।

झंखाड़—(सं०) (१) बिना पत्तों का बड़ा पेड़। (२) काँटे-दार घनी झाड़ी (३) काँटेदार पौधों या झाड़ियों

का समूह, जिसके कारण वहाँ की भूमि ढक जाती है। (४) रद्दी लकड़ी आदि वस्तुओं का ढेर।

[भंखाड़ < झाड़ का अनुवा० (हिं० श० सा०); झंखर (देशी)=सूखा पेड़, 'झंखलि झंखर झंखा असई मुक्कलक मुराणाआरेसु'—(देशी०, ३-५४); झमक-झकुर (संता०)=सूखा]।

भँगरी—(सं०) चना या मटर की दाना-सहित लत्ती (पट०-१)। दे०—भँगुरी।

भँगा—(सं०) अनाज निकालने के बाद बचा हुआ फसल का डंठल (चंपा०)। दे०— भेंगरा।

[झरंक (देशी) = तृणपुरुष मिला०—'झरंको य तिणा-पुरिसे'—(देशी०)। झंखर= सूखा पौधा। दे०—भँगुरी या भंग < शृङ्गक-(?)]।

भँगुरी—(सं०) चने आदि की फलीयुक्त झाड़ी (मुं०-१)। पर्या०—भँगरी।

[देशी, झरंक (देशी) = तृणपुरुष, झुल्लरि = गुल्म, झाड़ी—'झरंको य तिणापुरिसे' (देशी०—३-५४,)—झुल्लुरि झुटण झुंमझुंमणा गुल्म गुम्म पवहमणा इत्येसु' (देशी०-३-५८-) या भंग < शृङ्गक (?)]।

भँझरा—(सं०) (१) ऊख के रस का झाग या मैल निकालनेवाला लोहे की कलछी-जैसा जालीदार साधन (पट०, गया)। दे०—छनौटा। (२) पूरी, मालपूआ आदि छानने की लोहे की बनी जालीदार चौड़ी कलछी। (३) उबाले हुए रस को ठंडा करने के लिए प्रयुक्त लकड़ी या लोहे की जालीदार कलछी। दे०—तामिया।

[<झारझर (हिं०) का अनुवा० (हिं० श० सा०)]।

भँझाना—(सं०) पानी के बहाव के बीच की वह उथली जमीन, जहाँ पानी कुछ रुक-रुककर बहता है (चंपा०-१)।

[देशी]।

भँभिया—(सं०) हल के द्वारा जोतने से खींची हुई गहरी लकीरें (पंक्ति, सीता), जिनमें मध्य खेत में बोये अनाज के अतिरिक्त दूसरे अनाज बोये जाते हैं; ये लकीरें विशेषतः खेत के किनारे के एक कोने से दूसरे कोने तक जोतकर खींची जाती हैं (सा०, गया)। दे०—सेवात।

[देशी]।

भँटनी—(सं०) तख्ते या जमीन पर फसल की आँटी झाड़कर अनाज निकालने की प्रक्रिया (द० भाग०)। दे०—पिटवा।

[झँट+नी (प्र०) < झाँटन <√झट् (= बँधना, मिलना) < झटकन-(?) < झट (अनु०), <झरना <√झर्, √क्षर]।

भँटैनी—(सं०) खजूर का पत्ता (पट०-१)।

भउआ लेंबो—(सं०) बड़ा नींबू (पट०-१)।

भकना—(सं०) अन्न रखने के मिट्टी के बरतनों का ढक्कन (पू० मैं०, गया)। दे०—ढकना।

[झक + ना (प्र०) < झक (देशी), (अनु०)। मिला०— √झप् (= ग्रहण करना, ढकना)। झंप (प्रा०); झाँकण (मरा०)।

भकली—(सं०) वह बदली (दुर्दिन), जो हवा के साथ लगातार कई दिनों तक लगी रहती है। पर्या०—झपली।

[देशी। मिला०—छन्नाकाश, या झञ्झा + आकाश (=झञ्झाऽऽप्लुत आकाश)]।

भकाएल—(क्रि०) डालियों को हिलाकर वृक्षों से फलों को गिराना (पू० मैं०)। दे०—झटझटायल।

[झक+आएल (प्र०) < झक (अनु०)]।

भकास—(सं०) घर या बरामदे में खिड़की या बाहर से आनेवाली वर्षा की बूँदें (चंपा०)। पर्या०—झटास।

[देशी। मिला०—झञ्झा + आकाश (ना० प्र०), झ+कास < झञ्झा+आकाश)]।

भकास—(सं०) आँधी-पानी के साथ रहनेवाली बदली (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[< झंझा+आकाश या झ + कास < छन्नाकाश (ना० प्र०)-(?)]।

भक्कड़—(सं०) तूफान (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी। (अनु०) या < झञ्झावृत् (?) झक्कड़ (ने०); झक्कड़ (हिं०); झक्कर, झक्खर-पु० (पं०); झक्क, झकोरा-स्त्री० ; (सि०) = झंझावात ; झकोड़—स्त्री० (गु०); झक्कड़ (मरा०) (=हठी)<झझ्झर-(?)-(सं०कृ०), झक्खड़ (प्रा०)—(ग्लु० को०)]।

भखरल—(क्रि०) किसी पेड़ आदि के फल का गिर-कर समाप्त हो जाना (चंपा०-१)।

झखर+ल (प्र०) < झंखर, झंखर=सूखा पेड़-(देशी) दे०—भँखरल]।

भखाड़ि—(सं०) बदली (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[मिला०—झक्कड़]।

झगड़ल—(क्रि०) झगड़ा करना ; जमीन या सिंचाई के पानी आदि के लिए किसानों का परस्पर संघर्ष करना। मामला-मुकदमा करना।

[झगड़+ल (प्र०)<झगड़<√झग्-२)।

झगड़ा—(सं०) लड़ाई-झगड़ा। जमीन या पानी आदि के लिए किसानों का परस्पर संघर्ष। मामला-मुकदमा।

[देशी। अनु०-(हिं० श० सा०), झग् (अनु०)+जड़ (बंधन);<√ झग् (कलह) झगड़ (प्रा०); झगड़ा (हिं०, पं०); झगरा (बँ०); झगड़ा (ने०); झगर (ओ०) झगड़ा (मरा०); झगड़ो (गु०); झगरो (सिं०); झगर (संता०)]।

झगड़ाहा—(वि०) वह जमीन या कोई वस्तु ; जिसके विषय में अधिकार का विवाद हो।

झगड़ा+हा (प्र०) < झगड़ा <झगड़ल। दे०—झगड़ा, झगड़ल]।

झगरा—(सं०) (चंपा०) दे०—झगड़ा।

झग्गर—(सं०) कुएँ में बाल्टी, लोटा आदि के गिर जाने पर उन्हें ऊपर से ही निकालने के लिए लोहे कीबनी टेढ़ी-मेढ़ी कीलों का झुंड। दे०—काँटा।



[देशी। मिला०, जगर=(संस्कृ०)=कवच। झर्झरि=(संस्कृ०)=छिड़कना, छिड़कने का एक साधन-विशेष। झर्झर =(संस्कृ०)=वाद्यविशेष, जलभ्रमि—(मो० वि० डि०) झग् + गर < झग् (अनु०)+गड़<√गड्=(आच्छादन, निवारण, बंधन)]।

झझझा—(सं०) पानी का सोता (मुं०-१)।

[देशी]।

झड़ई—(सं०) खलिहान में अन्न बुहारने की झाड़ू (द० भाग०)। दे०—तिरहथ।

[देशी। मिला०—झंटी (देशी)=छोटे और बड़े केश—'झंटी लहुहुइ केसेसु' (देशी० ३-२३)]।

झटका—(सं०) (१) वर्षा के पानी का झटास। (मुं०-१) (२) आगे जाती हुई गाड़ी आदि के रुकने से लगा हुआ आघात। (३) आघात, धक्का। (४) बैलगाड़ी के जुए में लगी हुई सुतली (पट०-१)।

[झटका<झट् (अनु०); झटास (हिं०); झटको (सिं०)]।

झटकारल—(क्रि०) (१) किसी चीज को डगरे से फटकना (चंपा०-१)। (२) किसी वस्तु को उसपर की दूसरी वस्तु को हटाने के लिए जोर से हिलाना। (३) भींगे कपड़े को निचोड़कर हाथ की विशेष क्रिया से झकझोरना, जिससे उसका पानी बूंद के रूप में निकल जाय।

[झट (अनु०)+कार (<√ कृ)+ल (प्र०); झटकारना (हिं०); झटकाउनु, फटकाउनु (ने०)]।

झटहा—(सं०) पेड़ आदि पर से किसी फल आदि को तोड़ने के काम आनेवाला लकड़ी या बाँस का छोटा डंडा। इसे फेंककर फल तोड़ा जाता है (चंपा०-१, अन्य०)। पेड़ या फल तोड़ने के लिए लकड़ी का एक छोटा टुकड़ा, जिसे फेंककर फल तोड़ा जाता है। पर्या०—लगुली।

[झट+हा (प्र०)<झट (अनु०) या <√ झट्]।

झटाँस—(सं०) पानी का झोंका (मुं०-१)।

[देशी, झटास (हिं०) मिला०—झटका]।

झटावल—(क्रि०) झोंटा मारकर फल आदि गिराना। (मुं०-१)।

[झट् + आवल (प्र०) < झट <√ झट् (१) या झाडिय (देशी) = आहत, चोट किया हुआ।—'झाडिय नाडलिपाओ पहरिय चंकमण अल्पेसु'-देशी०]।

झटास—(सं०) दे०—झटाँस, झकास।

झंडुआ—(सं०) झटकार कर अनाज निकालने के बाद बचे हुए पुआल की आँटी (उ० प० मै०)। दे०-पूला।

[झाड़+उआ (प्र०) < झड़ < झाँड़ <√झड् (१) या (अनु०)]।

झड़ल—(क्रि०) (१) खर्च होना, समाप्त हो जाना (मुं०-१)। (२) पेड़ों से फलों का तोड़ लेने या गिर जाने से समाप्त होना (३) पौधों से फलों, कलियों या अन्न आदि का गिरना।

[झड़ + ल (प्र०) < झर <√ झर् (संस्कृ०) झरइ (प्रा०); झड़ना, झरना (हिं०); झर्नु (ने०); झड़िबा (ओ०), झड़ना (पं०); झड़ने (मरा०); झरवो (संता०)=झड़ना]।

झड़ावल—(क्रि०) झटहे से पेड़ में लगे फल को गिराना (मुं०-१)।

[झड़ + आवल (प्रे० क्रि० प्र०) < झर <√ झर्-(१)]।

झड़ाहा—(सं०) झटके से फल आदि गिराने की लकड़ी (मुं०-१)। दे०—झटहा।

[झड़ा+हा (प्र०) झड़ < झट <√ झट् (१), < झर <√ झर्]।

झपसी—(सं०) थोड़ा या ज्यादा परिमाण में कई दिनों तक लगातार या बीच-बीच में कुछ देर रुक कर वर्षा होते रहना।

[झपस् + ई < झपस, झपास < झपसल < झपसना (हिं०)— काँपना, ढाँकना]।

झपाटि—(सं०) (दर०-१) दे०—झपसी।
[देशी]।

झपाल—(सं०) वर्षा होते समय घर या बरामदे में खिड़की या बाहर से पानी का छींटा आना (चंपा०-१)।
[अनु०]।

झपास—(सं०) दे०—झपसी (दर०-१, पूर्णि०-१)। पर्या०—झपाटि।
[दे०—कपसी]।

झबड़ाहा—(सं०) झटके से फलादि गिराने की लकड़ी (मुं०-१)। दे०—झटहा।
[झबड़ा+हा (प्र०) < झबड़ा (देशी०-१)]।

झबरा—(सं०) (१) कान के पास अधिक लंबे बालोंवाला बैल। (२) लंबे, घुंघराले बिखरे बालोंवाले कुत्ता आदि पशु।
[अनु० ; (हिं० श० सा०)। मिला०—झबरओ, जबरओ (क्रि०)-(संता०)=फैलना, लटकना। मिला०—कबर, कबरी (संस्कृ०)=केशविन्यास। शब्द के आदिम कवर्ग का चवर्ग में व्यत्यय होता है जैसे—√कम्प् > चकम्पे। √कृ <चकार (संस्कृ०)। कचोटना, चिकोटना-(?); अथवा मिला०—चमरी > चँवरी < चाँवर<चँवर; आदिम चकार का जकार या झकार में व्यत्यय। चम (<√चमु अदने—आचमन) > जिमना, झिमना]।

झबरी—(सं०) एक किस्म का धान, जिसके चावल की फरही (भूँजा) बड़ी अच्छी बनती है (मुं०-१)।
[देशी, या झबरी < चँवरी < चमरी-(?)]।

झब्बा—(सं०) चाबुक के फीते के अंत का झालरदार रस्सी का गुच्छा (उ० प० बिहा०)। पर्या०—कुब्बा (गया), फिक या फुदना (द० भाग०), फुँदना (शाहा०)।
[देशी]।

झमठगर—(वि०) पत्तियों, डालियों आदि के कारण घना पेड़, पौधा आदि। (द० भाग०, सं० प०)। दे०—झमाठ।
[झमठ+गर (प्र०) < झमठ (देशी)]।

झमड़ा—(सं०) पसरनेवाली लत्ती (सा०-१)।
[देशी]।

झमड़ी—(सं०) मूंग या किसी दलहन का डंठल, जो भूसा के लिए व्यवहृत होता है। (द० प० मै०)। दे०—भेँगरा।
[देशी]।

झमाठ—(सं०) वृक्षों, पौधों या झाड़ियों का पत्तियों, डालियों आदि के कारण घना होना। (वि०) पत्तियों आदि के कारण घना पेड़, पौधा आदि (द० भाग०, संता० प०)। पर्या०—झमठगर।

झरंग—(सं०) लगी हुई धान की फसल से अनाज के झड़ जाने के कारण, दूसरे वर्ष अपने-आप उग आनेवाला धान का पौधा। यह पहले ही पक जाता है और जल्दी झड़ जाता है। इस धान के दानों के दोनों छोर पर लंबे सूँग रहते हैं।
[देशी। मिला० झरंक (देशी)=तृण पुरुष, 'झरंकोय तिणपुरिसे'—देशी०]।

झरंगा—(सं०) (१) एक प्रकार का धान, जो छींटकर (बावग) बोया जाता है (गया)। (२) फसल काट लेने के पश्चात् खेतों में गिरी-चुनी अनाज की बाली। पर्या०—झारंग (प०), लोढ़ी, लोढ़िया (पू०, चंपा०); झरुआ (पट०, उ० प० मै०), झर (द० पू० मै०), छटल-बचल (चंपा०, मै०), लोढ़ा (गया, द० मुं०)। लोढ़ा-बिछा = गिरे अनाज की बाली के चुनने की प्रक्रिया (गया०, द० मुं०)।
[संभ०<झर<झरल, झड़ल (बिहा०), झरना; झड़ना (हिं०) <√क्षर्]।
(३) धान की फसल को हानि पहुँचानेवाली एक घास (शाहा०, पट०-१)। दे०—झर।
[देशी]।

झर—(सं०) (१) धान की फसल को हानि पहुँचानेवाली एक घास (मै०, पू०)। पर्या०—झरंगा (शाहा०), झार (मै० पू०), झारँगा (उ० पू०)। (२) फसल काट लेने के पश्चात् खेतों में गिरी-चुनी हुई अनाज की बाली (द० पू० मै०) दे०—झरँगा। (३) पके धान के पौधे से गिरा हुआ और अगले वर्ष पुनः स्वयं उगा हुआ धान (द० पू०। मै०)। दे०—लमेरा।
[देशी]।

झरकंटी—(सं०) छोटी झाड़ी (द० प० शाहा०)। दे०—झखुली।
[झर-कंट+ई (प्र०)<झार-काँटा+ई]।

झरकल—(सं०) (१) एक प्रकार का वृक्ष (सा०-१)। (२) अर्धदग्ध, बदसूरत (द० भाग०) पर्या०—झरकटल।
[देशी]।

झरकल—(क्रि०)-(१) पाला आदि से फसल का नष्ट होना। (२) जलना, जलकर नष्ट होना। झरकावल (प्र०)=जलाना।

[झरक + ल (प्र०) < √ ज्वल् (दीप्तौ) (?)। 'झलुसिय, झलंकिय, झमिय' (देशी)=दग्ध। 'दड्ढम्मि झलुसियं तह झलुंकियं झमि अंबेअ'—(देशी०)-३-५६), झवित (पा०)=दग्ध < झपेति। झरकाओ (संता०)]।

झरका—(सं०) तेज पछिया हवा के कारण अनाज में लगा रोग, पाला (सा०, मै०), दे०—झँमरा।

[झरक+आ (प्र०) < झरक<झरकल (बिहा०)=जलना, संभ० < √ज्वल्, मिला०-झल। (संस्कृ०)=सूर्यातप; झला (देशी)=मृग तृष्णा—'झलाय मगतण्ह'-(देशी० ३-५३)]।

झरकावल—(क्रि०) जलाना, झरकाना।

[झरक+आवल (प्र०)<झरक। झरकल का प्रे०]।

झरखाएल—(क्रि०) डालियों को हिला-डुलाकर वृक्षों से फलों को गिराना (चंपा०, प० मै०)।

[झरख+आएल (प्र०) < झरख<झंखर<झंखर (देशी)=शुष्क वृक्ष—'झंडलि झंखर झंखरा अवई सुक्ख तरु सुण्णआरेसु—(देशी०-३-५४)]।

झरझराएल—(क्रि०) डालियों को हिला-डुलाकर वृक्षों से फलों को गिराना (उ० प०)। पर्या०—झरखाएल (चंपा०, प०, मै०), झकाएल (पू० मै०), झोरल (प०), डोलल, डोलायबेल (सामा०, प०)।

[झरझर+आएल (प्र०)<झरझर (अनु०)]।

झरना—(सं०) (१) पहाड़ से झर-झर करके गिरनेवाला जलप्रवाह, निर्झर। (२) बाल आदि झाड़ने का साधन-विशेष।

[झरना<झरल< √झर्। वा<निर्झर, निर्झरण]।

झरना—(सं०) (१) अन्न साफ करने तथा छानने की एक प्रकार की छलनी (गं० द०)। दे०—चलना।

[झर+ना (प्र०)<झर<झाड़ल=(साफ करना)< झाट (संस्कृ०)=कुंज। 'झाटो निकुञ्जे' मेदिनी०। झाड़ (देशी)=कुंज—'झाडोलय गहणे'—(देशी० ३-५७)]।

झरपती—(सं०) एक प्रकार का धान (चंपा०-१)।

[देशी, संभ०-झर+पती>झरपती (?)]।

झरल—(क्रि०) दे०—झड़ल।

झरहा—(सं०) घनी झाड़ी। दे०—झार।

झर+हा (प्र०) < झर < झार<झाड़<झाट-(संस्कृ०), झाड़ (देशी)]।

झरुआ—(सं०) कुएँ के आसपास या कहीं नम जमीन पर उगनेवाली एक प्रकार की झाड़ीदार घास। पर्या०—झार (प०) गया)।

झरझर+उआ<झर<झार<झाट]।

झरुआ—(सं०) फसल काट लेने के पश्चात् खेतों में गिरी-चुनी अनाज की बाली (पट०, उ० प० मै०)। दे०—झरँग।

[झर+उआ (प्र०)<झर<झर (अनु०), अथवा झर< √क्षर् वा, √जृ (=वयोहानौ)।

झलमरदन—(सं०) एक प्रकार का धान, जो फागुन-चैत में बोया जाता है और अगहन में काटा जाता है। यह प्रायः पूर्वी तिरहुत में पाया जाता है। इस धान की रोपनी नहीं होती, केवल बावग होती है।

[देशी। संभ०—झल+मरदन < झल (=चमत्कृत) मर्दन—(=मींजना, रगड़ना)]।

झलमर्दन—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[झल+मर्दन]।

झलरा—(सं०) एक प्रकार का बाजरा (पट०-१)।

झलसी—(सं०) छप्पर छानेवाली घास की रस्सी। दे०—झलास।

[झलस + ई- (अल्पा० प्र०) < झलास < जलहास (?)]।

झलास—(सं०) (१) छप्पर छाने की एक लंबी घास, जिसकी पत्तियों के दोनों छोर तीक्ष्ण होते हैं, काँड़ा। पर्या०—झलासी।

[झल+आस < जलहास (?)]।

झलास—(सं०) (२) एक प्रकार की कुशजातीय घास।

[झल + आस < जल-हास-(?)]।

झलास—(सं०) (३) छप्पर छानेवाली घास की रस्सी। पर्या०—झलसी। (४) ताड़ की महीन छाल (पट०-१)।

[झल+आस < जलहास-(?)]।

झलासी—(सं०) सरपत, झलास।

झहला—(सं०) एक प्रकार का साग (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी]।

झाँख—(सं०) लताओं के फैलने के लिए लगाई गई झाड़ या डाल (मुँ०-१)।

[देशी, मिला०-झंखर (देशी)]।



झाँखी—(सं०) किसी तरकारी आदि की लत्तरों के फैलने के लिए खेत में गाड़ी गई डालियाँ या लकड़ी आदि रखकर बनाया गया मचान, जिसपर लताएँ चढ़ती और फैलकर फलती हैं (चंपा०-१)।



[झाँख+ई (प्र०) < झाँख < झंखर (देशी)]।

झाँग—(सं०) (१) मूंग या किसी दलहन का डंठल, जो भूसा के लिए व्यवहृत होता है (द० पू० मैं०)। दे०—भेंगरा। (२) अनाज निकालने के बाद बचा हुआ फसल का डंठल (द० प० मैं०)।
[मिला०—झंखर (देशी)]।

झाँगी—(सं०) शीशम की डाल (सा०-१)।
[झाँग+ई < झाँग < झंखर (देशी)]।

झाँझर—(सं०) (१) पानी के बहाव का वह स्थान, जहाँ जमीन उथली हो और पानी कुछ रुक-रुककर बहता हो। (२) दुःखित होना (चंपा०-१)।
[मिला०—झञ्झर-(=गिरने या टकराने की ध्वनि, एक प्रकार का बाजा]।

झाँझी—(सं०) ऐसा जाल, जिसके छेद बड़े होते हैं और जिसमें केवल बड़ी मछलियाँ फँस सकती हैं (चंपा०-१)।
[देशी]।

झाँटब—(सं०) तख्ता या जमीन पर फसल की आँटी झाड़कर अनाज निकालने की प्रक्रिया (गं० उ०)।

झाँटल—(क्रि०) (१) पेड़ के पत्ते, फूल और फल को झटके से गिराना। (२) झाड़ू से मारना। (३) तड़ातड़ मारना (मुं०-१)। (४) धान की आँटी को झाड़कर अनाज निकालना।
[झाँट+ल (प्र०) < झाट (संस्कृ०), झाड (प्रा०) या < √ झट् (बाँधना, मिलाना)]।

झाँटा—(सं०) पानी का झोंका, झटका।
[झट् (अनु०) या < √ झट्]।

झाँटी—(सं०) वह जमीन, जहाँ घनी झाड़ी होती है (द० भाग०)।
[झाँट + ई (प्र०) < झाट—(संस्कृ०), झाड (प्रा० देशी)]।

झाड़—(सं०) मूंग या किसी दलहन का डंठल, जो भूसे के रूप में व्यवहृत होता है। (द० पू० मैं०)। दे०—भेंगरा, झाँग।

झाड़नी—(सं०) प्रायः माघ महीने में की जानेवाली ऊख की पहली कोड़नी (सा०, द० मुं०)। दे०—अँधेरी कोरन।
[झाडन+ई (प्र०) < झाड़ < √ झट्-(१)]।

झाबर—(वि०) कान के पास अधिक लंबे बालोंवाला बैल (पू०)। दे०—झबरा। (२) मुलायम और अधिक बालोंवाला कुत्ता आदि।
[देशी, मिला०—चामर-, कबर-]।

झाम—(सं०) (१) फावड़ा, कुदाल (गया)। दे०—कौरा। (२) एक प्रकार का फावड़ा, जिससे कुएँ आदि में मिट्टी खोदी जाती है। (चंपा०-१)।
[देशी]।

झारँग—(सं०) (१) फसल काट लेने के पश्चात् खेतों में गिरी-चुनी अनाज की बाली (प०)। दे०—झरँगा। (२) धान की फसल को हानि पहुँचानेवाली एक घास (उ० प०)। दे०—झर। (३) फसल के समय खेत में झड़ने के बाद अगली ऋतु में अपने-आप उगनेवाला धान। इसमें लंबे-लंबे टूँड़ लगे होते हैं। (चंपा०-१)। (४) एक प्रकार का धान, जो तीन वर्षों में तैयार होता है। दूसरे पके धान के दानों के गिरने से यह उत्पन्न होता है (सा०-१)।
[झारँग < झार < झरल < √ झर् या √ क्षर्]।

झार—(सं०) (१) मूंग या किसी दलहन का डंठल, जो भूसा के लिए व्यवहृत होता है (चंपा०, उ०, प० मैं०)। दे०—भेंगरा। (चंपा०, उ० प० मैं०)। दे०—भेंगरा। (२) कुएँ के आसपास या नम जमीन में उगनेवाली एक प्रकार की झाड़ीदार घास (प०, गया)। दे०—झरुआ। (३) धान की फसल को हानि पहुँचानेवाली एक घास (मैं०, पू०)। दे०—झर। (४) घनी झाड़ी। पर्या०—झरहा, झुर (उ० प०, पट०, द० मुं०)। (५) पेड़ = पौधा (चंपा०-१)।
[झार < झार<झरल< √ झर् या < √झट्; मिला०—झंखर (देशी) = शुष्क पेड़; झरंक (देशी)= तृणपुरुष, झार- (संस्कृ०), झाड (प्रा०, देशी)]।

झारन—(सं०) पके हुए धान के पौधे से गिरकर अगले वर्ष पुनः स्वयं उगा हुआ धान (सा०)। दे०—लमेरा।
[झार + न (प्र०) < झार < झार < झारल < √ क्षर्]।

झारल—(क्रि०) (१) झाड़ना, झाड़ू देना (मैं०)। (२) कंघी या झारनी से केशों को झारना या साफ

करना। दे०—ओहारल। (३) तख्ते या जमीन पर फसल की आँटी को झाड़कर उससे अनाज निकालना। दे०—पीटल।

[झार+ल (प्र०) < झार < झारना < √ झट् या < √ झर्-]।

झारल—(सं०) झाड़कर अनाज निकालने की प्रक्रिया।

[झार+ल (प्र०) < झार < √ झट् या झड् < √ झर्]।

झारा—(सं०) वह जमीन, जिसमें झाड़ी पैदा होती है। पर्या०—बनछिहुली। (द०प० शाहा०, सा०, पट०)।

[झार+आ (प्र०) < झार < झार-]।

झारिझुरि देओल—(मु०) (१) झाड़ना, झाड़् देना (मै०)। (२) फसल की आँटी या घास आदि को झाड़कर साफ करना। दे०—ओहारल।

[झारि+झुरि (अनुवा०)+देओल]।

झालर—(सं०) (१) एक अगहनी सफेद धान, जिसके दाने लंबे और चावल सफेद होते हैं (सा०-१)। (२) चादर आदि के छोर पर लटकनेवाला सूत का गुच्छा।

[देशी]।

झाला—(सं०) तंबाकू का टूटा असार डंठल और पत्ता (द० प०)। पर्या०—तरसान (द० पू० मै०)।

[झल्ला (हिं०)=वे दाने, जो पके हुए तंबाकू के पत्तों पर पड़ जाते हैं—(हिं० श० सा०)। मिला०—झार]।

झाली—(सं०) एक प्रकार का धान (चंपा०-१)।

[देशी]।

झिगनी—(सं०) बरसात में फलनेवाली एक प्रसिद्ध फली, जिसकी तरकारी होती है। यह लत्तर में लगनेवाली फली है। (पट०-१)। दे०—झिगनी।

झिगली—(सं०) झिंगा नाम की एक तरकारी, जो बरसात में होती है। इसकी लता तोरई की तरह होती है और फूल पीला। फल छोटे-छोटे या मध्याकार होते हैं (मुं०-१)।

[देशी, मिला०—जालिनी (संस्कृ०); झिंगा; तुरियुं (गु०); तोरिको, तोर्लि (ने०)]।

झिंगा—(सं०) (१) एक प्रकार की चोइँटा-रहित मछली। (सा०-१)।

[< शृङ्गिन्। (संस्कृ०); सिंगी, छिंगी (प्रा०); सिंगी (हिं०); सिंगा माछ (बँ०); सिंगा (असा०); सिंगे (ने०)]।

झिंगा—(सं०) (२) प्रायः बरसात में होनेवाली लत्तर की एक लंब-गोल फली, जिसकी तरकारी होती है। दे०—तरोई। पर्या०—झींगा (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी]।

झिगुन—(सं०) एक प्रकार की भदई तरकारी (सा०-१)।

[देशी]।

झिगुनी—(सं०) प्रायः बरसात में होनेवाली लत्तर की एक लंब-गोल फली, जिसकी तरकारी बनती है। दे०—तरोई। पर्या०—झिमनी (दर०-१, पूर्णि०-१)।



[देशी, मिला०—झिंगली, झिगनी]।

झिगुरी जाल—(सं०) मछली पकड़ने का एक प्रकार का जाल। इसमें ऊपर की ओर रस्सी लगी रहती है। इस जाल की पाँच टुकड़ियाँ होती हैं, इन्हें जोड़कर यह जाल तैयार किया जाता है। यह बाँस में बाँधकर खींचा जाता है और बाँस के दोनों ओर रस्से लगे रहते हैं (सा०-१)।

[झिगुरी+जाल < झिगुरी (देशी)+जाल-]।

झिट्टी—(सं०) (१) चाबुक (द० मुं०)। दे०—चाबुक। (२) तीन बैलों की गाड़ी में आगे चलनेवाले बैल की गरदन के नीचे की रस्सी, जो जुए से जुड़ी रहती है। दे०—बिड़िया। (३) तीन बैलों की गाड़ी में रहनेवाला बैल (प०, सा०, पू०)। दे०—बीड़।



[देशी]।

झिमनी—(सं०) बरसात में होनेवाली लत्तर में फलनेवाली एक फली, जिसकी तरकारी होती है (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—झीमनी, झिगनी।

[देशी]।

झिरबा—(सं०) धान की फसल की बाढ़ को रोकनेवाली एक घास (द० भाग०)। दे०—जँगला।

[देशी]।

झिरुआ—(सं०) धान की फसल की बाढ़ को रोकनेवाली एक घास (पट०, गया, द० मुं०, उ० बिहा०)। दे०—जँगला।

[देशी]।

झिरौआ—(सं०) धान की फसल की बाढ़ को रोकनेवाली एक घास (द० मुं०)। दे०—जँगला।

[देशी]।

झिलँगा—(सं०) ढीली-ढाली खाट (घाघ)।

'झिलँगा खटिया, बातलि देह; तिरिया लंपट, द्वारे गेह।
बेगा बिगरिकै मुदइ मिलंत; कहै घाघ ई बिपति के अंत'॥
—घाघ।





झिलेबी—(सं०) एक काँटेदार वृक्ष। इसका फल जलेबी के आकार का और खट्टा-मीठा होता है (पट०-१)।

झिल्ली—(सं०) (१) दलहन के पौधों को खानेवाला एक कीड़ा, जिसके कारण पत्तियाँ सिकुड़ जाती हैं (उ० प०)। पर्या०—कुलभंगा (मै०)। (२) जलेबी की तरह बनाई गई गोल सेवई (द० भाग-)।
[< झिल्ली-?]।

झिसी—(सं०) फुहारे के रूप में निरंतर गिरनेवाली वर्षा की बहुत छोटी-छोटी बूँदें (चंपा०-१)।

झिसी पड़ल—(क्रि०) झींसी का बरसना।
[झिसी < (?), झींसी (हिं०) < झींना (अनुवा०)—(हिं० श० सा०)]।

झींक—(सं०) मुट्ठी-भर अन्न, जितना चक्की में एक बार में दिया जाता है। पर्या०—झोंका (सा०, पट०, द० प० मै०), झीका—(द० पू० बिहा०), लप्पो (द० भाग०), झीक (चंपा०-१)।
[मिला०—चिक्क (देशी)=थोड़ा, अल्प—'चिक्काप्य-तणुयपारामु, ३-२१—(देशी०), झींक, झींका (अव०)]।

झींक देओल—(मु०) (१) झींक देना, जाँते में पानी देना। (२) बातचीत को बढ़ाने के लिए कुछ कहते जाना, बढ़ावा देना। दे०—झींका देओल।

झींका—(सं०) (१) जाँते में एक बार में मुट्ठी-भर दिया जानेवाला अन्न (सा०, पट०, द० प० मै०)।
[झींक + आ < झींक < चिक्क (देशी)-?]। (२) पीसने के लिए जितना अनाज चक्की में एक बार दिया जा सके। झींका देओल (मु०) बातचीत के सिलसिले को बरकरार रखने के लिए बीच-बीच में कुछ बोलते या छेड़ते जाना (मुं०-१)।
[झींक + आ<झींक<चिक्क (देशी)—?]।

झींका देओल—(मु०) (१) जाँते में पानी देना (२) बातचीत के सिलसिले को बरकरार रखने लिए कुछ-कुछ बोलते या छेड़ते रहना (मुं०-१)।
[झींका + देओ + ल (प्र०)]।

झींगा—(सं०) (१) झिंगली नाम की एक तरकारी। (२) एक छोटी मछली (मुं०-१)। -
[< शृङ्गिन—]।

झींका—(सं०) चक्की में पीसने के लिए एक बार में दिया जानेवाला मुट्ठी-भर अनाज (द० पू० बिहा०)।
[झींक + आ < झींक < चिक्क (देशी)]।

झीमनी—(सं०) एक प्रकार की तरकारी। पर्या०—झिगुनी (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी]।

झीरो—(सं०) (१) धान की फसल की बाढ़ को रोकनेवाली एक घास (पू० मै०) दे०—जँगला।
[देशी, मिला०-झीरुका (संस्कृ०)=झिल्ली]।

झीरो—(सं०) (२) एक पशुखाद्य घास (पू० मै०, दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—जिनवाँ।
[देशी, मिला०-झीरुका=झिंगुर।]।

झील—(सं०) (१) दलदली जमीन। (२) खेतों के बीच का दूर तक फैला बड़ा जलाशय। पर्या०—चौर, काछ (सा०), जाइ (पट०, गया०, द० मुं०)। (३) वह प्राकृतिक जलाशय, जो विस्तृत और गहरा होता है तथा जिसमें पानी प्रायः सदा बना रहता है। यत्र-तत्र इससे छोटी-बड़ी नदियाँ निकलती हैं या इसमें विलीन होती हैं।
[झिल्ल (प्रा०) = नहाना झिल, ज्वो (संता०)। मिला०-क्षीरोद-(संस्कृ०)]।

झुंड—(सं०) भेड़, बकरी आदि पशुओं का समूह। पर्या०—झुंड, गेड़ (पू० मै०), हेड़ (प० मै०), जेल (द० मै०), खरही, जेर (द० भाग०), सहेर (द० मुं०)।
[झुंड < युवत - या यूथ-(संस्कृ०), जुट (प्रा०), झुंड (हिं०, ने०, पं०, मरा०, गु०, संता०)]।

झुँपिया—(सं०) वह बैल, जिसकी पूँछें झबरी और कान छोटे-छोटे हों (पट०-१)।

झुबा—(सं०) (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—झुट्टी।
[देशी]।

झुमहा—(सं०) खूटे पर झूमता रहनेवाला मवेशी (पट०-१)।

झुरकी—(सं०) कई चीजों के शिरोभाग को एक जगह बाँध देना (चंपा०-१)।
[देशी]।

झुरकुटिया—(सं०) एक प्रकार का केला (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी]।

झुरनी—(सं०) प्रायः माघ महीने में की जानेवाली ऊख की पहली कोड़नी (द० भाग०)। दे०—अँधेरी कोरन।
[झुर + नी < झुरल < √ झुर्, या < चूर्ण (?), झूर (प्रा०)=झुरना; क्षीण होना, सूखना]।

झुरल—(क्रि०) दे०—झूरल।

झुराठ—(सं०) किसी फसल की मोटी जड़ (चंपा०-१)।
[झुर + आठ < झुर (?) + अट (?)]।

झुरावल—(सं०) (१) फसल आदि को धूप में या अन्यत्र भी अच्छी तरह सुखाना, जिससे झाड़ने

झोंकरल—(क्रि०) कुछ-कुछ जल जाना (चंपा०-१)।
[झोंकर+ल (देशी)]।

झोंकरल—(वि०) सूखी और गरम हवा के कारण झुलसी हुई फसल। दे०—झोलाहल।
[झोंकर+ल (प्र०) < झोंकर-(?)]।

झोंगा—(सं०) (१) बनखंड, (चंपा०-१)। पर्या०—बनझोंझो। (२) फल आदि का गुच्छा (मुं०-१)।
[देशी]।

झोंझ—(सं०) (१) बाँस, गाछ आदि का वह स्थान, जो पत्तों आदि से अत्यंत घना हो। (२) झगड़ा (चंपा०-१)। (३) केले आदि का गुच्छा (सा०-१)। पर्या०—घौद।
[देशी। झोंक (अव०)=घोंसला; या झोंझ<झञ्झा (अनुवा०)-(?)]।

झोंझल—(सं०) बाँस की चीरी हुई पतली फट्ठी या डंडा (उ० पू० मै०)। दे०—बाती।
[देशी]।

झोंझी—(सं०) दे०—झोंझ।

झोंपड़ा—(सं०) खर, पुआल आदि से छाया हुआ छोटा मकान। पर्या०—झोंपड़ी, खोपड़ा, खोपड़ी, खोंप, पलानी, डाकी (सं० प०)।
[देशी। झुंपड-झोंपड़ी (पा० स० म०)। मिला०—जीर्णपर्ण, जीर्णपत्र-]।

झोंपड़ा—(सं०) खेत या खलिहान में खड़ी की गई झोंपड़ी (पट०)। दे०—मड़ई।
[झों+पड़ा (?) < जीर्णपर्ण-, जीर्णपत्र-?]।

झोंपड़ी—(सं०) मचान के ऊपर छाँह के लिए बना हुआ गोल छप्पर (गं० उ०)। पर्या०—खोपड़ी, छपरी (उ० प० मै०), छाही (उ० पू० मै०), लगौरी (द० प० मै०), छपरा (गं०, द०), मरूका (गं०, द० प०), छपरी (गं०, द० पू०)।
[झोंपड़ा + ई (अल्पा० प्र०) झोंपड़ा < झों+पड झुंपड-(देशी)। मिला०—जीर्णपर्ण-(?)]।

झोंपड़ी—(सं०) खर, तृण आदि से छाया हुआ छोटा मकान। दे०—झोंपड़ा।

झोंपड़ी—(सं०) खेत या खलिहान में खड़ी की गई मड़ई। दे०—मड़ई।

झोंक्का—(सं०) किसी फल आदि का गुच्छा या पौद (मुं०-१)।
[देशी]।

झोर—(सं०) (१) नदी का सूखा हुआ तल। (द० प० शाहा०)। दे०—छारन।
[देशी। संभ० < झूरल (= सूखना) <√ ज्वर्, <√ ज्वल्। झोरा (बँ०) = नदी का प्रवाह, झोरा (ने०)]।

झोर—(सं०) (२) ऊख के खेतों में बनी हुई क्यारी (गं० द०)। दे०—हातावला। (३) रसदार तरकारी, झोल।
[देशी-(?)]।

झोरल—(क्रि०) डालियों को डुलाकर वृक्षों से फलों को गिराना (प०)। दे०—झरझरावल। (वि०) डुलाई हुई डाल आदि।
[झोर + ल (प्र०), झोर <√ ज्वर् (?) या <जॄ-(?)]।

झोरा—(सं०) (१) ऊख के खेत में बनी हुई क्यारी (गं० द०)। दे०—हातावला। पर्या०—बड़ी कियारी, (उ० प०)। (२) पेड़ से फल तोड़ने के लिए लंबी लग्गी के अंत में बँधा हुआ छोटा जाल। दे०—झोला। (३) कपड़े आदि का बड़ा झोला। पर्या०—पोपी, प०), झोकरी (गया, प०, भाग०)।
[झोला, < झोलिका]।



झोरी—(सं०) गाड़ीवान द्वारा व्यवहृत बैलों के खिलाने का जाल (प०)। दे०—झोला।
[झोर+ई < झोर < झोला, झोलिका]।

झोल अन्हारी—(सं०) सूर्योदय होने के पहले कुछ-कुछ अँधेरा रहना (चंपा०-१)।
[झोल+अन्हारी < झोल या चोल+अन्धकार-]।

झोला—(सं०) (१) वह सूखी गरम हवा, जिससे फसल झुलस जाती है। झोलाहल, झोंकरल = गरम हवा के कारण झुलसी फसल (२) पेड़ से फल तोड़ने के लिए लंबी लग्गी के छोर में बँधा हुआ छोटा जाल। पर्या०—खोंची (सा०), झोरा, जलगारी (मुं०)। (३) गाड़ीवानों द्वारा व्यवहृत बैलों को खिलाने का एक प्रकार का जाल (गं० द०)। पर्या०—झोली, झोरी (प०), जल्ला (गं० द०)। (४) जाल-जैसा झोला, जिसमें मवेशियों को खाने का चारा डाला जाता है (चंपा०)। दे०—झोली। (५) सरदी से बचाव के लिए जाड़े में बैलों आदि की देह पर रखा जानेवाला टाट। दे०—झूल। (६) कपड़ा, टाट आदि का बना हुआ थैला।
[<झोला, झोलिका (देशी), 'झोलिआइ मल कालिआ'- 'झोलिका शब्दो यदि संस्कृते न रूढ-स्तादायमपि देश्यः'—(देशी० ३-४६)]।

झोलाइल—(वि०) सूखी गरम हवा के कारण झुलसी हुई फसल। दे०—झोला। पर्या०—झोंकरल, ठाड़, ठाड़ी (पू०)।

[झोल + आइल (प्र०)=झोला < झुरल < ज्वल <√ ज्वल्, <√ ज्वर्]।

झोली—(सं०) (१) सरदी से बचाव के लिए जाड़े के दिनों में बैलों की पीठ पर रखा जानेवाला टाट। दे०—झूल। (२) वह जाल-जैसा झोला, जिसमें मवेशियों को खाने का चारा डाला जाता है, झोला (चंपा०)। (३) गाड़ीवानों द्वारा व्यवहृत बैलों के खिलाने का जाल। दे०—झोला। (४) सामान आदि रखने या इधर-उधर ले जाने के लिए कपड़े या टाट का बना छोटा थैला।

[झोल+ई < झोल < झोला, झोलिका]।

झौआ—(सं०) (१) एक प्रकार का नीबू (दर०-१,पूर्णि-१)। (२) एक प्रकार का पौधा (दर०-१, पूर्णि०-१)।

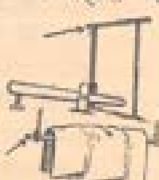
[देशी]।

ट

टँउनी—(सं०) एक प्रकार का कदन्न, कँगनी। इसकी खेती बरसात के आरंभ में होती है। इसका क्षुप दो-ढाई फुट लंबा होता है और सिरे पर बाजरे की तरह बाल होती है, जिसमें छोटे-छोटे पीले दानों के कोष लगे रहते हैं (चंपा०-१)।

[मिला०—कङ्गु-(संस्कृ०)]।

टँगनी—(सं०) (१) ढेंकी चलाते समय सहारा के निमित्त पकड़े रहने के लिए लटकाई हुई लंबी लग्गी। दे०—अरथम। (२) कपड़ा लटकाने या पसारने के लिए प्रयुक्त लग्गी, जो दोनों ओर के सिरे पर छप्पर आदि की शहतीर से बँधी रहती है।



[टँगन+ई < टँगल (बिहा०)=लटकना]।

टँगा—(सं०) लकड़ी तथा पेड़ काटने के काम आनेवाला बसूले से कुछ लंबा एक प्रसिद्ध हथियार। पर्या०—टाँगा, टाँगी, टँगारी, कुल्हारी (उ० पू० बिहा०)।

[टँग+आ (प्र०) < टङ्क-, टङ्ग-। दे०—टँगारी]।

टँगारी—(सं०) लकड़ी फाड़ने तथा पेड़ काटने के काम में आनेवाला बसूला से कुछ लंबा एक प्रकार का प्रसिद्ध हथियार। दे०—टँगा।



[टँग + आरी (प्र० १) < टंग < टङ्क- अथवा < टङ्कारिन् ; टङ्क, टङ्ग (पा०); टाँग, टाँगि (बँ०); टाँगि (ओ०)=फरसा; टाँकी (मरा०) = छेनी]।

टँगुना—(सं०) फसल के अग्र का गुच्छा (द० मुं०)। दे०—बाल।

[देशी। (संभ०-) < टँगल (क्रि०)]।

टँगुनी—(सं०) बाजरे की जाति का महीन दानों का एक अनाज। (द० पू० सा०)। पर्या०—टाँगुन (सा०, गया), कौनी (अन्यत्र), काउन (द० मुं०), टँउनी (चंपा०)।



[मिला०—कङ्गु]।

टँगोर—(सं०) (१) अरहर के डंठल की बनी हुई काफी बड़ी टोकरी, जो देखने में कुछ उबड़-खाबड़ और भद्दी होती है। (२) भूसा आदि रखने के लिए चाँग-जैसा बड़ा टोकरा, जो अरहर के डंठल से बने होने के कारण खड़खड़ा होता है। (द० पू० मुं०)। दे०—चाँग।

[देशी]।

टँड़ना—(सं०) ऊख के कोल्हू की मथानी को उसके खड़े खंभे (हरसा) से बाँधनेवाला रस्सा (शाहा०)। दे०—नाथना।

[देशी]।

टँड़ुआ—(सं०) छोटे जलस्रोत की शाखा (पट०, गया)। दे०—मोकिला। (२) सींचने के निमित्त खेत तक पानी ले जाने के लिए खोदा गया छोटा पैन (पट०-१)।

[टँड़+उआ (प्र०) < टाँड़ (देशी)]।

टटघर—(सं०) बाग, जंगल आदि में रहने के लिए बनी हुई मड़ई। (द० मुं०)। दे०—पाम्हा।

[टट+घर < टट्टी+घर ; टट < टट्टी < खट्टी, < खाट्टी-(?) (संस्कृ०); टट्टआ (प्रा०-देशी) ; घर < गृह-]।

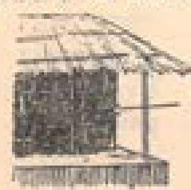
टटौघर—(सं०) गरीबों के रहने की घास-फूस की बनी झोपड़ी (सं० उ०)। पर्या०—काहीपोस (सं० द०), दोचरा (शाहा०), खरोघर (द० भाग०), फूस के घर (प० बिहा०)।

[टटी+घर। टटी < टट्टी ; घर < गृह-]।





टट्टी—(सं०) (१) बाँस आदि की बत्तियों से बनी टाटी। दे०—टाटी। (२) पान के बाग में चारों ओर से दिया गया घेरा। पर्या०—टाट (पू० मै०), टाटी (द० मुं०)। (३) शौचालय।



[टट्टी <त्वष्ट्री ; स्थात्री (संस्कृ०); टट्टइआ (प्रा०); टट्टी (हिं०, पं०); टट्टि (ने०)]।

टनइ—(सं०) खेत में ही तोड़कर गिरा दी जानेवाली तंबाकू की पत्तियाँ (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी]।

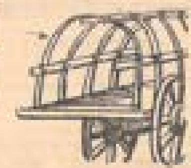
टनहल—(सं०) जमीन नापने के समय अमीन के साथ रहनेवाला दूसरा व्यक्ति। यह जरीब आदि खींचता है। (सा०-१)।
[टनहल, टनैल, देशी या टन+हल (प्र०)<√ तन् =(विस्तार करना) ?]।

टनक बाई—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिससे वे लँगड़ाकर चलते हैं (पट०-१)।
[टनक+बाई; टनक (देशी), बाई<वात; वातिक-]।

टपका—(सं०) (१) आप-से-आप पककर टपकनेवाला फल। (२) टप्प-से या अचानक आ टपकनेवाला। (मुं०-१)।
[टपक+आ (प्र०) < (अनु०)]।

टपहरल—(क्रि०) (१) टापी से मछली पकड़ना। (२) किसी कार्य के लिए सफलता नहीं मिलने पर भी चेष्टाशील बना रहना (चंपा०-१)।
[टप+हर+ल (प्र०) < ?]।

टप्पर—(सं०) (१) गाड़ी पर बाँस की कमाचियों और फट्ठियों से बनाया गया छायादार घेरा। (२) खेत का टुकड़ा या पूरा खेत (द० भा०, मुं०)। दे०—टोपरा।



[देशी]।

टरबाह—(सं०) विशेष प्रकार की नली से बोनेवाला मनुष्य। दे०—टोरबाह।
[टर + बाह (प्र०) < टर < टाँड़ = नाली, जलमार्ग]।

टलही खेसारी—(सं०) 'टाल' में होनेवाली खेसारी, जो जमीन जोतकर बोई जाती है, जबकि दूसरी खेसारी नमीवाली जमीन में छींट दी जाती है (पट०-१)।
[टलही + खेसारी, टलही < टाल, खेसारी [देशी]।

टाँगी—(सं०) (१) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)। पर्या०—टाडी। (२) लकड़ी, पेड़ आदि काटने के लिए लोहे का बना एक प्रकार का हथियार। (चंपा०-२)। दे०— टंगा।
[टाँग + ई (अल्पा० स्त्री० प्र०) < टाँग < टङ्ग-, टङ्क-]।

टाँगुन—(सं०) बाजरे की जाति का महीन दानों का एक अनाज (सा०, गया)। दे०—टँगुनी।
[मिला०—कङ्गु-]।

टाँड़—(सं०) (१) ऊसर भूमि (द० प० शाहा)।
[< तट—(?) 'तटं नपुंसकं क्षेत्रे'-(मेदि०)]।
(२) वह नली, जिससे होकर पानी बहता है। (द० पू०)। दे०—नाला।
[< तडाक-(?)]।
(३) ऊँची जमीन (गया, द० मुं०)। दे०—उपरवार।
[< तार < ताल (?)]।
(४) काफी विस्तृत परती, कँकरीली या पहाड़ी जमीन। दे०—टाड़।
[< तट- (?)]।

टाँड़ा—(सं०) (१) एक छोटा हरा कीड़ा, जो गेहूँ, जौ और ऊख की जड़ को काट खाता है (प०)। दे०—टाड़ा। (२) बीज बोने का हल। इसके पीछे बाँस की नली लगी रहती है (पट०-१)। (३) काफी विस्तृत परती, कँकरीली या पहाड़ी जमीन। दे०—टाड़। (४) एक छोटा हरा कीड़ा, जो गेहूँ, जौ और ऊख के करीब छह इंच के पौधों को काट खाता है (उ० पू० मै०)। दे०—टाड़ा।
[देशी, मिला०—दार—(संस्कृ०) = (काटनेवाला) <√ दृ]।

टाँड़ी, टाँर, टार—(सं०) बाँस की नली से 'हराई' में एक-एक बीज डालकर बोने की प्रक्रिया। दे०—टार।
[< दार- < √दृ-(?)]।

टाँर, टाँड़ी, टार—(सं०) बाँस की नली से 'हराई' में एक-एक बीज डालकर बोने की प्रक्रिया। दे०—टार।
[< दार < (?)]।

टाडी—(सं०) (१) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—टाँगी। (२) लकड़ी चीरने का हथियार, कुल्हाड़ी। दे०—टंगा, टाँगी।
[टाङ+ई (प्र०) < टाङ < टङ्ग-, टङ्क-]।

टाट—(सं०) (१) पान के बाग में चारों ओर से दिया गया घेरा (पू० मैं०)। दे०—टट्टी। (२) जूट का बना कपड़ा-जैसा वस्तुविशेष।

[< टाट < टट्ट < तट्ट < तष्ट- < √ तक्ष् (= छीलना, चिकना करना), या < टाट < ठाट < थात < स्थात्र; या < टट्टी < टंटी < तन्ति-, टट्टी (देशी—पा० स० म०)]।

टाटी—(सं०) (१) पान के बाग में चारों ओर से दिया गया घेरा (द० मुं०)। दे०—टट्टी। बाँस आदि की कमाचियों का बना घेरा। (३) टाटी से घेरकर बनाई गई मड़ई।

[टाट-ई (प्र०) < टा०। दे०—टाट]।

टाड़—(सं०) काफी विस्तृत परती, कँकरीली या पहाड़ी जमीन। दे०—टाँड़। पर्या०—टाँड़-, टाँड़ी।

टाड़ा—(सं०) (१) एक छोटा हरा कीड़ा, जो गेहूँ, जौ आदि के करीब छह इंच के पौधे को काट खाता है (उ० प०)। पर्या०—टाँड़ी (उ० प० मैं०), टाँड़ा (प०)। (२) छोटा हरा कीड़ा, जो गेहूँ और ऊख को नष्ट कर देता है। (३) कीड़ा लगा हुआ ऊख का पौधा। (सा०) चंपा०)।

[टाड़+आ, दे०—टाँड़]।

टाप—(सं०) (१) बाँस की कमाचियों का बना मछली पकड़ने का एक प्रकार का खाँचे के आकार का जाल। (शाहा०)। दे०—टापी। (२) बाँस की फट्ठियों का बना चिलम के आकार का जाल, जिससे मछलियाँ पकड़ी जाती हैं (चंपा०)। (३) मछली पकड़ने का टोकरीनुमा एक प्रकार का जाल। पर्या०—टापा, टापी।

[< टाप < टप (अनु०)]।

टापा—(सं०) मछली पकड़ने का टोकरीनुमा एक प्रकार का जाल। दे०—टाप।

[टाप+आ-टप < टप-(अनु०)]।

टापी—(सं०) मछली पकड़ने के लिए टोकरी के आकार का बना एक प्रकार का जाल। पर्या०—(शाहा०)। पर्या०—टाप (शाहा०), अरसी (द० भाग०)।

[टाप+ई (प्र०) < टाप < टप (अनु०)-ई]।

टाभ—(सं०) एक प्रकार का नीबू (दर०-१, पूर्णि० १)। [देशी]।

टायर गाड़ी—(सं०) मोटर-ट्रक के बड़े चक्के (टायर) पर चलनेवाली बैलगाड़ी। इसे डनलप गाड़ी भी कहते हैं (रो०, मग०, भोज०)।

[टायर (अं०) + गाड़ी < गन्त्री (संस्कृ०)।]

टार, टाँड़, टाँर—(सं०) बाँस की नली से बोने की प्रक्रिया, जिसमें नली के द्वारा बीज का दाना अलग-अलग हराई में गिरता है। पर्या०—टारी, टोर, टोरी, टाँर, टोंर, टोंड़। टारल, टोर लगाएल (क्रि०)—बाँस की नली से बीज का बोना। टरवाह, टोरवाह=नली से बोनेवाला मनुष्य।

[देशी। दे०—टाँड़]।

टारल—(क्रि०) बाँस की नली से बोना। दे०—टार। पर्या०—टोर लगाएल।

[टार+ल (प्र०) < टार < (?)]।

टारी—(सं०) बाँस की नली से बोने की प्रक्रिया। दे०—टार।

[टार+ई (प्र०) < टार < (?)]।

टाल—(सं०) (१) चारे के लिए काटे गये जनेर के डंठल का ढेर (प्र०)। दे०—गाँज।

(२) खलिहान में एकत्र किया गया फसल के बोझों का ढेर। (शाहा०)। दे०—गाँज। (३) खलिहान में अथवा अन्यत्र कहीं भी रखी हुई नेवारी या पुआल या मकई के डंठलों का ढेर।



[मिला०—अट्टाल=अटार, प्रासाद]।

(४) गाँव के बाहर की जमीन (द० पू०)। दे०—बहरसी। (५) गाँव के बाहर विस्तृत मैदान या दूर तक फैला हुआ चौर, जैसे—बड़इया टाल।

[मिला०—तल्ल-, तलक=गड्ढा-तालाब]।

टिकना—(सं०) बटावन जाल में ऊपर बँधी हुई एक रस्सी (सा०-१)।

[देशी, मिला०—टिक्क = टीका, तिलक (मो० वि० हि०)]।

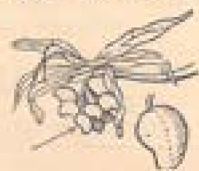
टिकरा—(सं०) वह बैल, जिसके माथे पर उजला चिह्न रहता है (मुं०-१)।

[टिकर + आ। (प्र०) < टिरक ('र' व्यत्यय के साथ) < तिरक < तिलक। या टिक+रा (प्र०) या टिक्क-, टिक्किका = घोड़े के माथे पर का उजला चिह्न (मो० वि० हि०)]।

टिकोड़—(सं०) मिट्टी या पत्थर का कुछ उभरा हुआ भू-भाग। मिट्टी का ढेर। दे०—टिल्हा।

[टि+कोड़ < त्रिकूट-]।

टिकोढ़ा—(सं०) आम का छोटा कच्चा फल, जिसमें कोसा नहीं हुआ रहता है। दे०—टिकोला।
[टि+कोढ़ा < ति+कोल < त्रि (?) + कोर, कोर < कोरक; 'कलिका कोरकः पुमान्'—(अमर०-)]।



टिकोरा—(सं०) (पट०-१)। दे०—टिकोढ़ा।

टिकोरी—(सं०) आम का टिकोला (पट०-१)।

टिकोला—(सं०) आम का छोटा कच्चा फल, जिसमें कोसा नहीं हुआ रहता है। पर्या०—टिकोढ़ा, अमिया (प०)।
[टि+कोला < ति + कोर < त्रि+कोर-, कोर= कोरक; 'कलिका कोरकः पुमान्'—(अमर०-)]।

टिक्कर—(सं०) (१) मिट्टी या पत्थर का कुछ उभरा हुआ भू-भाग। मिट्टी का ढेर। दे०—टिल्हा। (२) किसी कंदरा या खोह के बीच की ऊँची जमीन (द० भाग०)। दे०—डूह।
[टि+क्कर < त्रिकूट-]।

टिटकारल—(सं०) बैल आदि को 'टा-टा' की आवाज से बढ़ावा देना। ललकारना (मं०-१)। पर्या०—टोकारी देओल (चंपा०)।
[टिट+कारल-(अनु०)]।

टिटमाँड़—(सं०) अपने-आप उगनेवाला एक क्षुपजातीय पौधा, जो स्वाद में कड़ुआ होता है। इसमें उजले फूलों का गुच्छा होता है। दे०—टिटमाँस।

टिटमाँस—(सं०) एक प्रकार का पौधा, जिसके फूल-पत्तों से तेज गंध निकलती है (मुं०-१)।
[देशी। मिला०—तिक्तमाष-(?)]।

टिटोहरी—(सं०) एक जंगली झाड़ी, जिसमें बेर की तरह फल लगता है (पट०-१)।

टिड्डी—(सं०) कीड़ा-विशेष, जो पत्तों को खा जाता है (पट०-१)।

टिपदार—(सं०) कहीं किसी जमींदारी में पाया जानेवाला प्रधान काश्तकार, जो असामी और जमींदार के बीच मध्यस्थ होता था और असामियों से कर संगृहीत कर जमींदार को देता था। इसके लिए उसे छोटी-मोटी सुविधा या कर-मुक्ति मिल जाती थी (सा०)। दे०—महतो।
[टिप+दार (?)]।

टिपनी—(सं०) ऊपर-ऊपर से छिछली सोहनी करने की प्रक्रिया (द० मै०)। पर्या०—खुरपियान (उ० प०), निकावन (द० पू०)।
[टिपन + ई < टिप <√टिप्‌ = फेंकना इकट्ठा करना]।

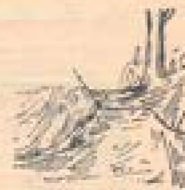
टिब्भी—(सं०) (१) ऊख का सद्यः उद्भिन्न अंकुर (मुं०)। दे०—पुआरी। (२) चना, मटर आदि का प्रथम अंकुर (द० मुं०)। दे०—डाभ। (३) मकई आदि के पौधों का अंकुर (मुं०-१)।
[देशी या टिब्भी < डिम्ब < डिम्भ (?)]।

टिमिआ—(सं०) बाजरे का पहला अंकुर (द० मुं०)। दे०—अँखुआ।
[देशी]।

टिलहा—(सं०) दे०—टिल्हा।

टिलहा-टाकर—(सं०) मिट्टी या पत्थर का कुछ उभरा हुआ भू-भाग, या मिट्टी का ढेर। दे०—टिल्हा।
[टिलहा + टाकर (अनु०), टिलहा < तिल-, तिलक-(?)]।

टिल्हा—(सं०) (१) किसी कंदरा या खोह के बीच की ऊँची जमीन (पट०, गया, द० मुं०)। दे०—डूह। (२) मिट्टी या पत्थर का कुछ उभरा हुआ भू-भाग, मिट्टी का ढेर। पर्या०—टिलहा, टिलहा-टाकर (द० भाग०), डूह (द० प० शाहा०), डूही (शाहा०, सा०) डील, डिल्ला (द० प० शाहा०); टीपुर (शाहा०), टिकोर या टिक्कर। (२) कबड्डी के खेल का गोल (पट०-१)।



[टिल्हा=टिल+हा <टीला< अष्ठीला—(हि० श० सा०)। मिला०—तिलक- > तिलअ तिला<टीला। या < √तिल्‌ (=जाना)।

टीप—(सं०) (१) बंसी की डोरी में लगा सरकंडा या संठी का छोटा टुकड़ा, जो पानी के ऊपर तैरता रहता है और मछली के पकड़े जाने पर डूब जाता है, जिससे समझा जाता है कि मछली फँस गई। (२) टीन, प्लास्टिक या शीशे का बना एक विशेष प्रकार का पात्र, जिसके सहारे पतले मुख-वाले पात्र में तरल पदार्थ डाला जाता है (रो०)। (३) अँगूठे का निशान (चंपा०)।
[देशी। मिला०—√टिप्‌, √ क्षिप्‌ (जमा करना, फेंकना)]।

टीपुर—(सं०) मिट्टी या पत्थर का कुछ उभरा हुआ भू-भाग या मिट्टी का ढेर। दे०—टिल्हा।
[देशी। मिला०—ढेप<√टिप्‌ =(जमा करना)]।

टुंगनी—(सं०) डंठल के बिना ही केवल बाल की कटाई (सं० उ० प०)। दे०—बलकट।
[टुंगन + ई (प्र०) < टूँगल <√ तुञ्‌ ; तुञ्ञ = (हिंसा करना) ?]।

ढुनकी—(सं०) धान में लगनेवाला एक कीड़ा (उ०)।
[देशी। मिला०—ढुण्डिका=ढूँढ़वाला]।

ढुस्सा—(सं०) फसल या लता आदि का अंकुर। आरंभिक कली (पट०-१)। दे०—ढूसा।

ढूँगल—(क्रि०) किसी पौधे आदि की फुनगी को नख से काटना या तोड़ना (चंपा०-१)।
[ढूँग + ल (प्र०) < ढूँग < तुज् = √ तुज् (हिंसायाम्)-?]।

ढूँड़—(सं०) जौ की बाल के ऊपर की सुई-जैसी नुकीली पतली वस्तु (प० मै०, सा०, शाहा०)। पर्या०—ढूँड़ा, सूँड़ (द० प० मै०), सूँघ, सूँग (पट०, पू०, सामा०)।
[ढूँड़ < तुण्ड-]।



ढूँड़, ढूँड़ा—(सं०) फसल की बाल का शूक। बाल के ऊपर सुई-जैसी नुकीली पतली वस्तु (प०)। पर्या०—सूँघ, सूँग, सूँड़ (द० प० मै०)।

ढूँड़ा—(सं०) जौ या गेहूँ की बाल के ऊपर की सुई-जैसी नुकीली पतली वस्तु (चंपा०, मै०)। दे०—ढूँड़। (२) धान या जौ आदि अनाज की बाल में दाने के कोश के सिरे पर निकला हुआ नुकीला अंश (चंपा०)।
[ढूँड़+आ < ढूँड़ < तुण्ड-]।

ढूँड़ा, ढूँड़—(सं०) फसल की बाल का शूक। बाल के ऊपर सुई-जैसी नुकीली वस्तु। (प०) दे०—ढूँड़।
[<तुण्ड-]।

ढूटघीउ—(सं०) जमींदार द्वारा ग्वालों से सस्ते भाव में लिया जानेवाला घी (पट०-१)।

ढूस, ढूसी—(सं०) हल्दी, अदरख आदि की डली।
[देशी]।

ढूसा—(सं०) फसल या घास की नई पत्ती निकलने के पूर्व का नोकदार अंकुर (चंपा०) पर्या०—ढुस्सा (पट०-१)।
[ढूस + आ < तुष-(?)]।

ढूसी—(सं०) (१) हल्दी, अदरख आदि की डली। (२) फसल या चना, खेसारी आदि की लत्तर का कोमल नया अंकुर।

ढेंगरा—(सं०) एक प्रकार की मछली, जो चोइंटा-रहित और सफेद रंग की होती है। इसके दोनों बगल में काँटे होते हैं। (चंपा०-१)।
[ढें + गरा < तिमिंगिल-(?), मिला०—किकण्ट (एक प्रकार की मछली)-'लघु गर्गःकिकण्टः स्यात्'—(हार०-); ढेंगरा-टेंगड़ा (हि०), टेंगड़ा मा : (बँ०)]।

ढेंगली—(सं०) छोटी कुल्हाड़ी (मुँ०-१)।
[ढेंग+ली (अल्पा प्र०) < ढेंगर < टङ्क-टङ्ग-)]।

ढेंगारी—(सं०) लकड़ी चीरने का एक औजार, कुल्हाड़ी (मुँ०-१)।
[ढेंगा + री (प्र०) < टङ्क-, टङ्ग-]।

ढेंगुली—(सं०) एक प्रकार की चोइंटा-रहित मछली (सा०-१)।
[मिला०— ढेंगरा]।

ढेंढ़, ढेंढ़ा—(वि०) टेढ़ा, वक्र (चंपा०-१)।
[ढेंढ़ < (?) वा < त्र्यस्र < त्रि + अस्र (?)]।

ढेंभी—(सं०) अंकुर की वह स्थिति या प्रकार, जब उसमें पत्तियाँ होने लगती हैं। (पट०)। दे०—डिभी।
[देशी। मिला०-डिम्भ—(= बच्चा)]।

ढेकानी—(सं०) शकरकंद की तरह का एक कंद, जिसकी तरकारी बनती है (मुँ०-१)।
[देशी]।

ढेनी—(सं०) ऊख के पौधे में कीड़े लगने पर नीचे से निकला हुआ नया अंकुर (सा०)। पर्या०—दोजी (मै०)।
[देशी]।

ढेपटा—(सं०) नगद या अनाज आदि की मजदूरी के बदले में किसान का तीन दिन हल चलाकर एक दिन अपने लिए हल लेकर काम करनेवाला मजदूर (सा०, उ० पू० मै०)। दे०—अँगवरिया।
[ढे + पटा < ति + पट < त्रि + पाट-?]।

ढेपा—(सं०) ढेला (चंपा०-१)।
[ढेपा < टेपा < √ टिप् < √ क्षिप् (?)]।

ढेंमा—(सं०) वह रस्सी, जिससे दौनी आदि के समय चारे की रक्षा के लिए बैलों के मुँह को चारों ओर से बाँध देते हैं (उ० पू०)। दे०—बेरुआ।
[देशी]।

ढेहरी—(सं०) दूध दुहने का मिट्टी का पात्र (पट०-१)।

ढोंगना—(सं०) छोटा खेत या खेत का टुकड़ा (मुँ०)।
[ढोंग + ना (प्र०) < ढोंग < तुङ्ग (?)]।

ढोंगल—(क्रि०) (१) पौधे आदि की फुनगी को ऊपर से तोड़ना या नख आदि से काटना। दे०-ढूँगल। (२) धीरे से छूना या मारने का बहाना करना। (३) छोटा-छोटा कौर डालकर धीरे-धीरे चबाना (मुँ०)।
[ढोंग + ल (प्र०) < ढोंग < √ तुञ्ज् < √ तुञ्ज् (=मारना, हिंसा करना)]।

टोंटा—(सं०) (१) ऊख का करीब दो हाथ ऊँचा पौधा (पट०)। अन्यत्र इसके लिए कोई विशेष नाम नहीं है। प्रायः 'भर ठेहुना' कह दिया जाता है। (२) केला और बाँस की फुज्जी या नई पौध।

टोंटी—(सं०) ओल नामक कंद के छोटे-छोटे भाग (पट०-१)। पर्या०—पुत्ती (सं० प०)।
[देशी]।

टोड़—(सं०) बाँस की नली से बोने की प्रकिया। दे०—टार।

टोड़, टोर, टोर—(सं०) बाँस की नली से बोने की प्रकिया। दे०—टार।
[देशी। मिला०-तुण्ड= > टूँड़ > टोड़, टोर]।

टोर, टोड, टोर—(सं०) बाँस की नली से बोने की प्रकिया। दे०—टार।

टोअल—(कि०) छूना, अंदाज लगाना। पर्या०—टोवल।
[टोअ + ल (प्र०) < टोअ < (?)]।

टोक—(सं०) नील की खेती के समय का जमींदारी के जिले का एक उपविभाग (गं० उ०)। टोकदार (सं०), टोक का अधिकारी।
[देशी। मिला०—स्तोक (संस्कृ०)]।

टोकड़ा—(सं०) बाँस की करची या कमाची का बनाया हुआ बड़ा खुला छैंटा। इसे ताड़ के पत्ते या चोप देकर बुना जाता है। पर्या०—ढाका, ढाकी, ओड़ा, छैंटा।
[देशी। मिला०—टोक्कण = दारू नापने का बरतन—(पा० स० म०) या टोक + ड़ा (प्र०) < टोक < स्तोक— (?)]।

टोकड़ी—(सं०) बाँस की कमाची या करची की बनी खुली हुई छोटी छैंटी। कभी-कभी यह ताड़ के पत्ते देकर भी बुनी जाती है। दे०—गांजा।
[टोकड़ा + ई (अल्पा स्त्री० प्र०) दे०—टोकड़ा]।

टोकड़ी—(सं०) खारी मिट्टी ढोनेवाली टोकरी। दे०—टोकड़ा।

टोकदार—(सं०) टोक का अधिकारी (गं० उ०)। दे०—टोक।
[टोक + दार (प्र०) < टोक० < (?)]।

टोकनि—(सं०) (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—टोकनी।

टोकनी—(सं०) (१) जुताई के पहले खेत की घास आदि की सफाई के लिए की जानेवाली कोड़नी। दे०—टोकल। टोकनि (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) खेत में उगी घासों को, कुदाल से कोड़ने की प्रकिया। (चंपा०-१)।

(३) कोल्हू के बैल के लिए सींक या कपड़े की बनी हुई आँख ढापने की पट्टी। पर्या०—खोला, खोलसा (प्र०)।
[देशी। मिला०—√ तुद्, √ तुन्द्]।

टोकल—(कि०) (१) जुताई के पहले, घास आदि की सफाई के लिए, खेत को हलके-हलके खोदना (उ० पू० मै०)। पर्या०—तामल। तमनी—(सं०) जुताई के पहले खेत से घास आदि की सफाई के लिए की जानेवाली कोड़नी। पर्या०—टोकनी (उ० पू० मै०) टोकनि, टोकल, टोकला (दर०-१, पूर्णि०-१)।

टोकल—(कि०) (२) खेत की फसलों के बीच की उगी हुई निरर्थक घास-फूस की निकौनी करना (दर०-१, पूर्णि०-१)। (३) किसी से बात करना या बात करने के लिए संबोधित करना। (४) आषाढ़ महीने में ऊख के खेतों की कोड़नी (चंपा०, उ० पू० मै०)। दे०—आसाढ़ी कोर।
[टोक-ल (प्र०) < √ तुद्, तुन्द्, (=काटना-, तोड़ना]।

टोटका—(सं०) (१) फसल को बुरी दृष्टि से बचाने के लिए खेत में कालिख लगी हुई हाँडी रखने की प्रकिया (मै० ग० द०)। पर्या०—तौला (उ० पू० मै०), टोटमा (गया), (द० भाग०); टोना या नजर-गोजर (शाहा०), नजर-गुजर (द० मुं०)। (२) तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग, अभिचार।



[टोटका < त्रोटक-, त्राटक- वा < तन्त्रक-]।

टोटमा—(सं०) (१) बुरी दृष्टि से फसल को बचाने के लिए खेत में कालिख लगी हुई हंडी रखने की प्रकिया। दे०—टोटका। (२) तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग, अभिचार।
[टोट + मा < त्रोट, त्रोटक-वा तन्त्रक-]।

टोटवाँ—(सं०) (१) बुरी दृष्टि से फसल को बचाने के लिए कृषक द्वारा खेत में कालिख लगी हुई हंडी रखने की प्रकिया। दे०—टोटका। (२) तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग, अभिचार।
[मिला०—टोटका]।

टोड़—(सं०) नहर या पैन आदि का मुँह खोलकर जमीन की सतह से उच्च जल-प्रवाह के द्वारा खेती की धारावाहिक सिंचाई (पं०)। दे०—अपटा।
[देशी। मिला०-तुण्ड, तुड्ड-]।

टोन—(सं०) लकड़ी का बड़ा कुंदा (मुं०-१)।
[टोन < थुन्न < थुण्णा < स्थूणा (?)]।

टोनकट—(सं०) वह कुंदा, जिसपर ऊख काटा जाता है। दे०—निसुहा।

[टोन + कट < स्थूणा + कृत (?)]।

टोनकट्टा—(सं०) (१) कोल्हू के लिए ऊख के लंबे-लंबे टुकड़े काटनेवाला। दे०—कानू। यह कार्य लोहे के कोल्हू के आविष्कार के पहले होता था, जबकि कोल्हू लकड़ी या पत्थर का होता था। अब तो समूचा ऊख कोल्हू में लगाया जाता है। (२) लकड़ी का वह कुंदा, जिसपर रखकर ऊख काटा जाता है। (द० पू० मै०, मुं०)। दे०—निसुहा।

[टोन + कट्टा—टोन < टोना < स्थूणा, कट्टा < कर्त्त < √ कृत]।

टोनखाद—(सं०) ऊख रोपने के पहले, बीज के रखने का गड्ढा (द० पू०)। दे०—खाद।

[टोन + खाद < स्थूणा + कर्प । कर्प > कट्ठ < खड्ड > खाड > खाप > खाद- (?)]।

टोनखाद—(सं०) वह स्थान या घर, जहाँ कोल्हू के लिए ऊख का टुकड़ा काटा जाता था। (द० भाग०)। दे०—गेंड़ियार।

[टोन + खाद < स्थूणा + खाद < खाप < खाधा < स्कन्ध; < कर्प-]।

टोनखाद—(सं०) कटे ऊख के रखने का स्थान (द० भाग०)। दे०—टोनियारी।

[टोन+खाद < स्थूणा+स्कन्ध-(?)]।

टोनखाधा—(सं०) ऊख रोपने के पहले बीज रखने का गड्ढा (द० पू०)। दे०—खाद।

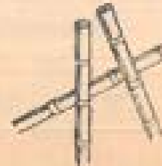
[टोन + खाधा, टोन < टोना < स्थूणा—खाधा < खातक-(?)]।

टोना—(सं०) (१) खंभे की दोनों कानियों (शाखाओं) में लगी हुई धुरी, जिसपर लाठा लटकता है। (पट०-१)। दे०—अखौता। (२) घिरनी की धुरी, जिसपर वह नाचती है (पट०)। दे०—अखौत। (३) बुरी दृष्टि से फसल को बचाने के लिए कृषक द्वारा खेत में कालिख लगी हुई हाँड़ी रखने की प्रक्रिया। दे०—टोटका। (४) तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग (चंपा०)। (क्रि०) धीरे से छूना।

[< स्थूणा, या < ओटकन < औटक-(?)]।

टोना, टोनी—(सं०) बीज के लिए काटा गया ऊख का टुकड़ा (पू०)। दे०— गेंड़ा

[टोना < स्थूणा, स्थूण- (संस्कृ०), थूण (पा०)]।



टोनिकट्टा—(सं०) कोल्हू के लिए ऊख के लंबे-लंबे टुकड़े काटनेवाला (द० प० मै०)। दे०—कानू।

[टोनि+कट्टा < स्थूणा + कृत्-, या कर्त्त < √ कृत्-(काटना)]।

टोनियाटी—(सं०) कटे हुए ऊख को रखने का स्थान। (सा०, चंपा०, द० पू० मै०)। दे०—टोनियारी।

[टोना + इयाटी < स्थूणा + अवटी। अवट- (=गर्त्त)]।

टोनियारी—(सं०) कटे हुए ऊख को रखने का स्थान। पर्या०—टोनियाटी (सा०, चंपा०, द० प० मै०), टोनियाटी (उ० प० मै०), टोनखाद (द० भाग०), अँगरखार (शाहा०)।

[टोना+इयारी (शाहा०) < थूणा+इयारी <स्थूणा +अवटी]।

टोनियारी—(सं०) कोल्हू के लिए ऊख का टुकड़ा काटा जानेवाला घर (पू०)। दे०—गेंड़ियार।

[टोना + इयारी < थूणा+इयारी < स्थूणा + अवटी]।

टोनियावल—(क्रि०) ऊख या लकड़ी का बड़ा टुकड़ा बनाना या काटना (मुं०)।

[टोना+इयावल (ना० धा० प्र०) < स्थूणा]।

टोनियासी—(सं०) वह घर या स्थान, जहाँ कोल्हू के लिए ऊख के टुकड़े काटे जाते हैं (उ० प० मै)। दे०—गेंड़ियार।

[टोना+इयासी < स्थूणा+आवास (?)]।

टोनियासी—(सं०) कटे हुए ऊख के टुकड़ों के रखने का स्थान। (उ० प० मै०) दे०—टोनियारी।

[टोना+इयासी < स्थूणा+आवास-(?)]।

टोनी—(सं०) कोल्हू में डालने के लिए काटी हुई ऊख की टुकड़ियाँ (पट०, गया, पू०)। यह गेंड़ी या टोनी काटने की प्रक्रिया उस समय होती थी, जिस समय कोल्हू लकड़ी या पत्थर का बना आज के तेल के कोल्हू के समान होता था। दे०—गेंड़ी।

[टोना+ई (अल्पा स्त्री० प्र०) < स्थूणा (?)]।

टोनी, टोना—(सं०) बीज के लिए काटा गया ऊख का टुकड़ा (पू०)। दे०—गेंड़ा।

[टोना+ई < स्थूणा]।

टोपड़—(सं०) खोंप। किसी भी घर के ऊपर का छप्पर। दे०—छावनी।

[टोप+ड़ < आटोप-। यथा-घटाटोप]।

टोपरा—(सं०) वह खेत, जहाँ जुताई चल रही हो (पट०)। दे०—हरवाही।

[मिला०—टोपर—कोला, बोरा (मो० वि० वि०) या टोप+र (प्र०) < टोप < आटोप (?)]।

टोपरा—(सं०) खेती के योग्य जमीन का घिरा हुआ या सीमाबद्ध टुकड़ा, खेत (प०)। दे०—खेत।

टोपरी—(सं०) खेती के योग्य जमीन का घिरा हुआ या सीमाबद्ध टुकड़ा, छोटा खेत, (सं० द०)। दे०—खेत।
[टोपर+ई; मिला०—टोपर]।

टोपा—(सं०) मछली रखने का बाँस का बना छिछला बरतन (चंपा०-१)।
[मिला०—टोपर-फोता, बोरा (मो० हि० हि०)]।

टोर—(सं०) हल का वह नोकदार पतला अंश, जिसमें लोहे का फाल लगा रहता है और वही अंश अंदर धँसकर भूमि को गोड़ता है। पर्या०—ढोरा (प० बिहा०), नाल, नाला (पू० बिहा०)।
[टोर < टूर- <तुण्ड-]।

टोर—(सं०) हल का नुकीला अंश, जो हल चलाते समय जमीन में पहले धँसता है (चंपा०)।
[टोर < टूर < तुण्ड-)।

टोर, टोर, टोड़—(सं०) (१) बाँस की नली से बोने की प्रक्रिया। दे०—टार। (२) बोने के लिए प्रयुक्त बाँस की नली।
[< तुण्ड-]।

टोर लगाएल—(क्रि०) बाँस की नली से बोना। दे०—टार, टारल।
[टोर + लग + आएल (प्र०) < टोर < तुण्ड—लग+√ लग् <√ लगे (सङ्गे)]।

टोरवाह—(सं०) बाँस की नली से बोनेवाला मनुष्य। दे०—टार।
[टोर+वाह (प्र०) < टोर, तुण्ड+वाह (प्र०) वा <√ वह् (वहति, वहते)]।

ढोरा—(सं०) हल का वह नोकदार अंश, जिसमें लोहे का फाल लगा रहता है (प० बिहा०)। दे०—टोर।
[टोर+आ < टोर, टूर—√ तुण्ड्-]।

टोरी—(सं०) (१) बाँस की नली से बोने की प्रक्रिया। दे०—टार। (२) बोने के लिए प्रयुक्त बाँस की नली।
[टोर+ई (प्र०) < टोर < तुण्ड-]।

टोह—(सं०) (१) महुआ चुनते समय चुननेवालों द्वारा गाया जानेवाला गीत (द० मुं०)। (२) खोज। (चंपा०-१)।
[देशी]।

टोहका—(सं०) बाँस की कमाचियों का बना हुआ एक प्रकार का लंबा, किंतु गोल जाल, जिससे मछलियाँ पकड़ी जाती हैं (चंपा०-१)। पर्या०—सैरा (सं० प०)।
[देशी]।

ठ

ठकर—(सं०) दुष्ट या भगोड़े जानवरों को भागने से रोकने के लिए उनके गले में बाँधा जानेवाला कुंदा (प०)। दे०—ठेकर।



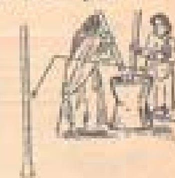
[अनु०]।

ठकरा—(सं०) फसल के खेत से पशु-पक्षियों को दूर करने के लिए पेड़ में लटकाया हुआ टिन या ताड़ आदि का पत्ता, जिसे रस्सी से खींचकर बजाते हैं। दे०—डबडबवा।
[अनु०]।

ठकहरिया—(सं०) एक दिन में जोत ली जानेवाली जमीन (पट०)। दे०—सगरदिना।
[ठक+हरिया < ठक (देशी) + हर + इया (प्र०) < हर < हल-]।

ठकुरपनियाँ—(सं०) हजाम की पत्नी (पट०-१)।

ठकुरा—(सं०) अनाज या चिवड़ा कूटते समय ओखल में उसे चलाते रहने के लिए प्रयुक्त चिपटा-चिकना छोटा डंडा। दे०—ठेकुरा।



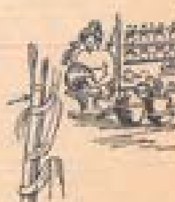
ठटरा—(सं०) (१) पान के बाग के ऊपर छाया गया छप्पर (द० प० मै०)। दे०—माड़ो। (२) बाँस आदि का बना छप्पर का ढाँचा।
[मिला०—स्थात्र—]।



ठटरी—(सं०) (१) पान के बाग के ऊपर छाया गया छप्पर (द० मुं०)। दे०—माड़ो। (२) छप्पर का ढाँचा। (३) शरीर की हड्डियों का ढाँचा।
[ठटर + ई (अल्पा० प्र०) < ठटर < ठट्टर < स्थात्र—?]।

ठठेर, ठठेरा—(सं०) जनेर या ज्वार का डाँठ, जो चारे के लिए काटा जाता है (द० पू०)। दे०— ठठेरा।
[मिला०—स्थात्र—,आ (अनु०)]।

ठठेरा—(सं०) (१) मकई आदि मर्वई फसल का डंठल (सं० उ०)। दे०—ढट्ठा। (२) पीतल आदि धातुओं के बरतन बनानेवाले शिल्पियों का एक वर्ग।



[मिला०—स्थात्र-, आ (अनु०)]।

ठठेरा, ठठेर—(सं०) जनेर या ज्वार का डंठल, जो चारे के लिए काटा जाता है (पू०)। दे०—ठठेरा।

[मिला०—स्थाष्ठ-]।

ठठेरी—(सं०) (१) मकई आदि फसल का डंठल, विशेष कर जनेरे का डंठल (द० भाग०, पट०)। दे०—डाँठ। (२) मकई आदि भदई फसल का डंठल (द० भाग०)। दे०—ढट्ठी।

[मिला०—स्थाष्ठ-]।

ठड़िया—(सं०) एक प्रकार का साग। (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी]।

ठढ़ाई—(सं०) एक प्रकार का साग। (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[ठढ़ा+ई (प्र०) < ठढ़ा < स्थाणु—या स्थाष्ठ]।

ठढ़िया—(सं०)(१) चतुर्भुजाकार खेत की लंबाई अथवा चौड़ाई की ओर से की जानेवाली सीधी-सीधी जुताई, (पट०, चंपा०), दे०—सोझौआ जोत। (२) एक पशुखाद्य घास (शाहा०, पू० मैं०)। (३) शाकजातीय एक प्रकार का पौधा। दे०—मारसा। (४) गाय-बैल के सींग का एक प्रकार (दर०-१, पूर्णि०-१)। (५) व्यर्थ या अनाज-रहित फसल (सा०-१)। पर्या०—तारछ-लारछ।

[ठढ़ा+इया (प्र०) < ठढ़ा < स्थाष्ठ-]।

ठनकल—(क्रि०) (१) बिजली का आवाज के साथ गिरना (मुँ०-१)। (२) कड़ाके की आवाज होना (मुँ०-१)।

[ठनक+ल (क्रि० प्र०) < ठनक (अनु०)]।

ठनका—(सं०) (१) वर्षा के समय मेघ-गर्जन के बाद होनेवाला वज्रपात (चंपा०-१)। (२) बिजली, वज्रपात (सा०-१)। पर्या०—बिजली।

[ठनक+आ (प्र०) < ठनक (अनु०)]।

ठनकी—(सं०) (१) लाल सिरवाली एक चिड़िया, जो मछली की टोह में पानी पर मँडराती रहती है। (२) सरल जमीन (चंपा०-१)।

[ठनक+ई (प्र०) < ठनक (अनु०)]।

ठरिया—(सं०) फल-रहित हरा-भरा पौधा (सा०-१)।

[मिला०—ठढ़िया]।

ठरियाएल—(सं०) वह फसल, जो किसी कारण से बढ़ न सकी (पू० मैं०, द० मुँ०)। दे०—बैठल हासिल।

[ठरिया + आएल (ना० धा० प्र०) > ठरिया < ठढ़िया < ठढ़ा <स्थाणु, स्थाणी]।

ठर्रा—(सं०) (१) सूखी जमीन में समय के पहले धान की बोआई (शाहा०, पट०)। दे०—खरहर बावग। (२) ऐंठी हुई रस्सी (गं० द०)। पर्या०—बाँटल रस्सी (गं० उ०, द० मुँ०); बरल रस्सी (प०)। (३) देशी शराब।

[ठर्रा < ठढ़ा—स्थाष्ठ-]।

ठस—(सं०) (१) कमजोर मिट्टी। दे०—हलुक। जल्दी टूटनेवाला पेड़ (चंपा०)।

[देशी]।

ठाँव—(सं०) स्थान। लिपा-पुता वह स्थान, जहाँ पूजा, भोजन आदि किये जाते हैं।

ठाकुर—(सं०) (१) हजाम। यह हजामों की उपाधि है। (पट०-१)। (२) बिहार में ब्राह्मणों की उपाधि। (३) भगवान् विष्णु।

ठाकुरप्रसाद—(सं०) (१) एक प्रकार का लंबा सफेद धान, जिसका चावल उजला, छोटा और टेढ़ा होता है (सा०-१)। (२) किसी का वैयक्तिक नाम।

[ठाकुर+प्रसाद]।

ठाकुरभोग—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का अच्छा धान (गया)।

[ठाकुर + भोग; अच्छा चावल होने के कारण ठाकुरजी के भोग लगाने के काम आता है। संभव है, इसीलिए, ऐसा नाम पड़ा हो]।

ठाठ—(सं०) हमेशा दुर्बल रहनेवाला बैल या भैंस आदि मवेशी (पट०-१)। (२) छप्पर का बाँसों आदि का बना ढाँचा। (३) हड्डियों का ढाँचा। (४) साज-सज्जा।

ठिगुरियाएल—(सं०) वह फसल, जो किसी कारण से बढ़ न सकी हो (गया)। दे०—बैठल हासिल।

[ठिगुर+इया (वि० प्र०)+आएल, एल (ना० धा० प्र०) < ठिगुर (देशी)]।

ठोंचा—(सं०) खुले मुँह की एक प्रकार की टोकरी (शाहा०)।

[देशी]।

ठीका के लीख—(सं०) नील की खेती की वह प्रणाली, जिसमें निलहे, किसी गाँव का खेत लेकर जिरात और इसी तरह की दूसरी जमीनों में खेती किया करते थे।

[ठीका के+लीख < ठीका (फा०), के (विभ०) + लीख < नील]।

ठीकेदार—(वि०) (१) ठीके की जमींदारी लेनेवाला। दे०—ठेकेदारी। (२) किसी काम को ठीका पर करनेवाला।

[ठीके+दार (प्र०)-(फा०)]।

ठीकेदारी—(सं०) (१) वह जमींदारी, जो किसी विशेष निश्चित कर, या कुछ वर्षों की शर्त्तों पर या पूर्व में लिये हुए रुपयों के बंधक के तौर पर ले ली जाती थी। (२) ठीके पर कोई काम करना। ठीकेदार का काम या भाव। ठीकेदार = ठीकेदारी की जमींदारी लेनेवाला।

[ठीकेदार+ई (प्र०) < ठीकेदार (फा०)]।

ठुंठा—(सं०) (१) वह फसल, जिसकी बाल किसी रोग से पीली और दाने-रहित हो जाती है (द० प० शाहा०)। पर्या०—बंकड़ (शाहा० प० मै०), बाँड़ (गया); ठुड्डा पट०); मुड़िया (द० पू०)। (२) वह पेड़, जिसकी शाखाएँ, नष्ट हो गई हों और स्वयं सूख रहा हो।



[ठुँठ (देशी), स्थूणा (संस्कृ०)]।

ठुड्डा—(सं०) (१) वह फसल, जिसकी बाल किसी रोग से दाने-रहित हो जाती है। (पट०)। दे०—ठुंठा। (२) शाखा, पत्तों आदि से रहित वृक्ष का केवल तना।

[ठुँठा (देशी), स्थूणा (संस्कृ०)]।

ठुरियावल—(क्रि०) (१) असमय में ही पौधों की बाढ़ का रुक जाना। (२) पौधों आदि का पीला पड़ जाना (मुं० प०)। (३) असमय में ही शरीर का विकास रुक जाना।

[ठुर+इया+वल (प्र०) <ठुरीं<थुरीं<स्थविर-(?) <√ स्था-]।

ठूंठ—(सं०) वह पेड़, जिसकी डाल और पत्तियाँ टूटकर गिर जाती हैं, या काटकर गिरा दी जाती है। (चंपा०, पाप)।

[ठूँठ-(देशी), मिला०—स्थूणा; स्थाणु-। स्थड्ड-=पीठ पर का कूबड़]।

ठूठा—(सं०) बिना सींगों का बैल (द० पू० वि०)। दे०—मुड़ेड़ा (रा)।

[देशी]।

ठूरी—(सं०) गरई और चरका मछली का बड़ा बच्चा (चंपा०-१)।

[देशी]।

ठेंगा—(सं०) (१) छोटी और कुछ मोटी लाठी (चंपा०)। (२) अँगूठा।

[मिला०—स्तङ्ग-, टङ्क=कुल्हाड़ी, छेनी]।

ठेंठा—(सं०) पुराना घिसा हुआ हल (उ० पू० मै०, अन्यत्र)। दे०—खिनौरी।

[देशी, मिला०—ठूँठ]।

ठेंठा के जोत—(सं०) नये और छोटे हल से की जानेवाली जुताई (मै०, चंपा०)। दे०—खिनौरी के जोत।

[ठेंठा के+जोत (बो०)]।

ठेंठिवाल नाद—(सं०) ऊख के रस को छाननेवाला मिट्टी का बरतन, जिसमें छिद्र बना रहता है। दे०—नाद।

[ठेंठि+वाल-नाद (देशी)]।

ठेंठी—(सं०) पुराना घिसा हुआ कुदाल।

[मिला०—ठूँठ]।

ठेंठी—(सं०) पुराना हल (द० पू० मै०, उ० प०)। दे०—खिनौरी।

[ठेंठ+ई (देशी)]।

ठेंठी कोदार—(सं०) पुराना घिसा हुआ कुदाल। दे०—कुदारी।

[ठेंठी (देशी)+कोदार < कुद्दाल-(संस्कृ०)]।

ठेउका—(सं०) करीन आदि से सींचने में पानी की सतह से ऊपर तक का पहला चढ़ाव (द० प० शाहा०)। दुठेउका = दूसरा चढ़ाव। तिनठेउका = तीसरा चढ़ाव।

[ठेवका < ठेवका < स्थानक (हिं० श० सा०)। मिला०—स्थानक—पेड़ के चारों ओर का थाला (थाल्हा); स्तवक-(संस्कृ०)=घेरा, गुच्छा।

ठेक—(सं०) (१) अन्न आदि रखने के लिए खुले स्थान में पुआल या खर आदि का बना हुआ एक प्रकार का घर (द० भाग०)। दे०—बखार। (२) अनाज रखने के लिए बनाई गई छोटी कोठरी। (३) एक प्रकार की बखारी।

[ठेक < थेग < थग < स्थगिका (=पनबट्टा)]।

ठेक—(सं०) (४) अन्न रखने के लिए गोलाकार बुना हुआ पात्र (५) हरानेवाले खेलाड़ी की घुट्टी में कसी से मारना (पट०-१)।

[< स्थगिका]।

ठेकर—(सं०) दुष्ट या भगोड़े जानवर को भागने से रोकने के लिए उसके गले में बाँधा जानेवाला लकड़ी का एक कुंदा। पर्या०—ठकर (प०), ठोकर (मै० द० प०), ठोकरा (मै०, उ० प० मै०), ठेकरा (प०), ठेकुर (द० मुं०), मुंगरा (उ०), मुंगरी (सं० उ०), डगरन (गया), गरहर या मड़हर (द० भाग०)।

[अनु० या ठेक + र (प्र०) < ठेक < थेग < थग < स्थग, स्थगिका-(?)]।

ठेकरा—(सं०) ओखल में अन्न उकसाने का चिपटा, चिकना छोटा-सा डंडा (गया, द० भाग०, पट०-१)। पर्या०—ठकरा, ठोकरा।

[अनु० या ठेक+रा (प्र०) < ठेग < थेग < थग < स्थगिका-(?)]।

ठेकरा—(सं०) (२) भगोड़े या दुष्ट जानवर का भागना रोकने के लिए उसके गले में बाँधा जानेवाला लकड़ी का कुंदा (पट०)। दे०—ठेकर।

[अनु०]।

ठेकरा देओल—(मु०) चूड़ा कूटते समय ठेकर से उसे उलट-पुलट करना (पट०-१)।

ठेकवा—(सं०) गँड़ासी की बेंट के अंत का गाँठदार अंश (द० प० मै० शाहा०)।

दे०—एड़ा।

[ठेक + वा (प्र०) < ठेकल (=ठेकना, स्पर्श होना)-देशी]।

ठेका—(सं०) फंदा या गाँठ युक्त रस्सी, जिसके द्वारा पशु बाँधा जाता है। दे०—जोर।

[ठेका < थग,-स्थगक, स्थग < √ स्थग्]।

ठेकुर—(सं०) दुष्ट या भगोड़े जानवर को भागने से रोकने के लिए उसके गले में बाँधा जानेवाला लकड़ी का एक कुंदा (द० मुं०)। दे०—ठेकर।

[ठेकुर < ठेकल-(बिहा०) (=स्पर्श करना, ठेकना) अनु०]।

ठेकुरा—(सं०) चिवड़ा कूटते समय ओखल के धान को चलाने के लिए प्रयुक्त चिपटा-चिकना डंडा। **ठेकुरा देओल**=ठेकुरा से उलटना-पुलटना (मुं०-१)।

[अनु०]।

ठेकूरी—(सं०) पतले बाँस का एक-सवा हाथ का टुकड़ा, जो घास झाड़ने के काम आता है (चंपा०-१)।

ठेठर—(सं०) जानवरों का एक नेत्ररोग, जिससे उनकी आँखों में टेढ़ापन आ जाता है (पट०-१)।

ठेपी—(सं०) वह वस्तु, जिससे अन्नागार के अन्न निकलनेवाले छेद को बंद किया जाता है (द० भाग०)। दे०—ढेवकन। (२) शीशी आदि के मुँह को बंद करने का ढक्कन।

[मिला०—स्तेम < √ स्तिप्]।

ठेम—(सं०) वह धान, जो खेत में झड़कर अगले साल स्वयं जमकर फलता है। 'ठेम', पाँच साल के बाद 'झरेंग' में बदल जाता है। (चंपा०)।

[देशी। मिला०—स्तेम < √ स्तिप्]।

ठेला—(सं०) (१) हल, कुदाल या खुरपी आदि से रगड़ खाने से हाथ, पैर या किसी अंग में पड़ा हुआ घट्ठा। (२) एक प्रकार की दो पहियोंवाली गाड़ी, जो हाथ से ठेलकर चलाई जाती है (चंपा०-१)।

[ठेला < ठेलल (बिहा०); ठेलना (हिं०); ठेलिणे-(मरा०); ठेलवुं (गु० क्रि०); ठेला (हिं०, पं०, बं०); ठेलो (ने०-सं०)=ठेलागाड़ी ; ठेल्नु (ने०-क्रि०) ठेलना।

ठेलल—(क्रि०) ठेलना, किसी वस्तु को धक्का देकर आगे बढ़ाना।

ठेल+ल (प्र०) < ठेल (देशी-१), ठेलना (हिं०); ठेल्नु (ने०); ठेलणे (मरा०); ठेलवुं (गु०); ठेलिबा (असा०); ठेला (बं०) ठेलिबा (ओ०), ठेलण (पं०); ठेलडु (सिं०)]।

ठेलाह—(सं०) रोपनी के समय खेत में जमा पर्याप्त जल। (चंपा०-१)।

[देशी, मिला०—ठेलल (बिहा० क्रि०=ठेलना]।

ठेहा—(सं०) (१) लकड़ी का वह कुंदा, जिसपर अन्न काटा जाता है (उ० प० मै०)। दे०—निसहा। (२) लकड़ी का वह कुंदा, जिसपर गँड़ासी से चारा काटा जाता है (सं० उ० शाहा०)। (३) वह कुंदा, जिसपर लकड़ी रखकर काटी, छीली जाती है। पर्या०—परिकठ (उ० पू० मै०, द० प०, गया) परकट्ठी या परैठ० (द० भाग०), परहठा (द० मुं०), कुटकटना (शाहा०), निसुहा (द० प० शाहा०)।

[देशी। मिला०—स्थाम—]।

ठैचा—(सं०) एक प्रकार की खुले मुँह की बड़ी टोकरी (शाहा०)। दे०—ठैंचा।

[देशी]।

ठैंचा—(सं०) एक प्रकार की खुले मुँह की बड़ी टोकरी। पर्या०—चँगोर, ठैंचा (शाहा०), ठाँचा (शाहा०)।

[ठैंचा-(देशी)]।

ठोकड़ा—(सं०) सरसों आदि के पौधे की जड़ के पास उगनेवाला एक प्रकार का पौधा (चंपा०-१)।

[देशी]।

ठोकर—(सं०) (१) दुष्ट या भगोड़े जानवर को भागने से रोकने के लिए उसके गले में बाँधा जानेवाला लकड़ी का एक कुंदा (द० प० मै०)। दे०—ठेकर। (२) आघात, ठेस।

[ठोकर—संम० < ठक-ठक् (अनु०) या < स्तोभ, < √ स्तुभ् (संस्कृ०); ठोकर (हिं०); ठोकर (ने०); ठुकरा (कश्म०); ठोकर (बं०); ठोकर (ओ०); ठोकेर (सिं०), ठोकर (गु०, मरा०)]।

ठोकरा—(सं०) (१) भगोड़े या दुष्ट जानवर को भागने से रोकने के लिए उसके गले में बाँधा जानेवाला लकड़ी का एक टुकड़ा (उ० प० मै०)। दे०—ठेकर। (२) एक पराश्रित घास, जो पोस्ते को हानि पहुँचाती है (शाहा०)। दे०—उरकुस्सी। (३) अनाज या चिउड़ा कूटते समय ओखल में उसे चलाते रहने के लिए प्रयुक्त चिपटा, चिकना छोटा डंडा। दे०—ठेकरा, ठुकरा। (४) हाथ की पाँचों अँगुलियों के पिछले भाग से किया जानेवाला आघात।

[ठोकर+आ < ढोकर, मिला०—ढोकर]।

ठोकल—(क्रि०) (१) गोइठे को बनाना या पाथना। दे०—पाथल। (२) किसी वस्तु को ठोकना। (३) बजाकर रुपये आदि का खरा-खोटापन देखना। दे०—बूझल।

[ठोक+ल (प्र०)<ठोक < स्तोक (?) या स्त्यान- < स्त्यै (संघाते)। ठोकनु (ने०); ठोकना (हिं०); ठोकुन (काम०); ठोकणे (कुमा०); ठोका (बँ०); ठोकण (पं०) बुँ०; ठोकण (ल०); ठोकणु (सि०); ठोक (गु०); ठोकणे (मरा०)]।

ठोठियारी—(सं०) ज्वार, मकई या ऊख के पत्ते पर श्वेत चिह्न-जैसा लगनेवाला एक रोग, जिससे ऊपर का भाग नष्ट हो जाता है (शाहा०)। दे०—औरंग।

[देशी]।

ठोपारी—(सं०) गुड़ के लिए उबाला और दूसरी बार साफ किया गया ऊख का रस (प०)।

[देशी]।

ड

डंका—(सं०) मालदह आम (चंपा०-१)।

डंगहन—(सं०) एक प्रकार की मकई, जिसके दाने उजले और बड़े होते हैं (सा०)।

[देशी, या डंग + हन, डंग (देशी ?), हन < धान्य-। डुङ्गुर, डङ्गुर (ने०) = राशि, बड़ा ढेर। डोंगर,-डुंगर (हिं०)—पहाड़ी, पहाड़; डंगरू (सि०); डुंगार (गु०), डुँग, डुंगर (मरा०)]।

डंगा—(सं०) काली उड़द (उ० पू० मै०)। पर्या०—कारी, करिया (शाहा०, द० पू० मै०) काला (गया), सियाह (पट०)।

टि०—उड़द के मौसमी भेद के अलावा वर्ण-कृत भेद भी होते हैं—काली और हरी।

[देशी]।

डँगाबल—(क्रि०) (१) अन्न निकालने के लिए डंडे से फसल को पीटना (मुँ०-१)। (२) किसी को लाठी से पीटना।

[डँगा+बल (प्र०) < डंगा (देशी), डांग=लाठी]।

डँगौनी—(सं०) तख्ते या जमीन पर फसल की आँटी झाड़कर अनाज निकालने की प्रक्रिया (पट०)। दे०—पीटन। (२) फसल पीटने का काम (मुँ०-१)।

[डँगौन + ई (प्र०) डँगाबल (बिहा०), डँगाना (हिं०) < डंगा<डांग=लाठी]।

डँटकी—(सं०) तंबाकू का डंठल (द० भाग०)। दे०—डंटी।

[डँटकी < डांट < दण्ड-(?)]।

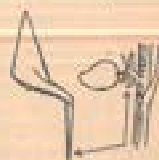
डँगाल—(सं०) ऊँचा तथा जहाँ-तहाँ पथरीला मैदान (मुँ०)।

[डंगुर (देशी) = पहाड़; डुँगर (गु०) = पहाड़; डुङ्गुर, डङ्गुर (ने०)=राशि; डोंगर,-डुंगर (हिं०); डुंगरू (सि०)। मिला०—डग्गल (= कोठा), 'डग्गलो भवनोपरि भूमितलम्-' हेम०—देशी०]।

डंटा—(सं०) (१) छोटा और मोटा डंडा। दे०—सोंटा। (२) वह धुरी, जिसपर ढेंकी चलती है (पू० मै०)। दे०—अखौता। (३) गुल्ली-डंडा के खेल में वह छोटी लकड़ी, जिससे गुल्ली को मारकर दूर फेंकते हैं (पट०-१)।

[डंटा < दंड]।

डंटी—(सं०) (१) खुरपे का वह पतला और नुकीला अंश, जो बेंट में ठोका जाता है (द० प० शाहा०)। (२) पत्ता, फल या फूल का वृंत। दे०—खरिका। (३) तंबाकू का डंठल। पर्या०-डांट (द० मुँ०), डँटकी (द० भाग०), टाँठ (पू० मै०)।



[डंट+ई (प्र०)<दंड-(?)]।

डंटी दाँवल—(क्रि०) फसल के डंठल से अनाज निकालने के लिए उसकी दूसरी दौनी करना (ग० उ० शाहा०)। पर्या०—तोड़ाएल (उ० पू० मै०), छांटल (प०), खुरदाँई (द० पू० मै०, द० मुँ०), तरझार (द० भाग०)।

[डंटी + दाँवल < डंटी + दाँव+ल (प्र०) डंटी < दंड, दाँव < दम < √ दम्]।

डंडा—(सं०) (१) ढेंकी की धुरी। (उ० पू० मै०)। दे०—अखौत। (२) घिरनी की धुरी, जिसपर वह नाचती है (चंपा०, द० प० मै०, गाइड०)। दे०—अखौता।

(३) ढेंकुल में लगी लकड़ी या बाँस की लग्गी (द० पू०)। दे०—बाँस।
[डंडा < दंडक-]।

डंडी—(सं०) (१) कड़ाही का डंडा। पर्या०—कड़ा, कढ़िया (द० मुं०)। (२) पत्ता, फूल या फल का वृंत। (३) तराजू का डंडा।
[डंड+ई० (प्र०) < दण्ड-]।

डँठुका—(सं०) किसी फसल का डंठल (चंपा०)।
[डँठ+ऊका < दण्ड-]।

डँठौका—(सं०) नातिदीर्घ मोटी लाठी (चंपा०-१)।

डँड़ेड़—(सं०) खेतों की सीमा, जो सामान्य भूमि से कुछ ऊँची उठी रहती है, मेंड़ (ग० उ०)। दे०—आर।
[देशी, या डँड़+पड़ (?) डँड़ < दण्ड-,पड़ (प्र०)]।

डँड़ेड़ी—(सं०) (१) लंबा बाँध, जिसके चारों ओर धान की उपजवाली और ऊँची सतह के जल-प्रवाह से युक्त ऊँची समतल भूमि रहती है। (२) खेतों के बीच का जलाशय (उ० प०, पट०)। पर्या०—खजाना (द० उ० प०); आहर, अहरा, अहरी (सं० द०, उ० प०) (३) लकीर, पंक्ति। (४) आर या सीमा।
[देशी या-डँड़+पड़ी (प्र०) < दण्ड-]।

डंफ—(सं०) फावड़े की धार का झुका हुआ भाग (द० प०)। दे०—फरी।
[देशी, मिला०—√ डम्फ् (=फेंकना, ढकेलना)]।

डंभक—(वि०) अधपका या पाक पर चढ़ा हुआ फल आदि (मुं०-१)।
[मिला०—डिम्भक-(=शिशु)]।

डंभा—(वि०) अधपका (चंपा०-१)। (सं०) खीरा-जैसा एक फल, जिसकी तरकारी बनती है (पट०-१)।
[मिला०—डिम्भक-]।

डँरवा—(सं०) (गाइड०) दे०—डाँड़ी।

डँरार—(सं०) डँड़ेर, पाँत (चंपा०-१)।
[देशी, या डँर+आर < दण्ड+आर-(?)]।

डँरेर—(सं०) (१) रेखा। (२) जमीन की पतली डगर। (३) सीमा, मेंड़ (सा०-१)।
[देशी, या डँर+एर, डँड़ < दण्ड+पर-(प्र०-१)]।

डकहा—(सं०) (१) गुण के अनुसार आम का एक भेद (पू०, पूर्णि०)। (२) पशुओं का एक मारक रोग, जिसमें खून के साथ पेट झड़ता है। एक प्रकार का हैजा।
[देशी, या डक+हा (प्र०)<डक<डांकस = उत्कट गंध देना]।

डगर—(सं०) (१) मोट खींचनेवाले बैलों को चलाने के लिए बना हुआ ढालू मार्ग (चंपा०, पट०, द० पू०)। दे०—पौदर। (२) वह रास्ता, जो सड़क की तरह हो, लेकिन उसपर मिट्टी आदि नहीं दी गई हो (चंपा०-१)।
[डग+र (प्र०) < डग (देशी)]।

डगरन—(सं०) (१) भगोड़े या दुष्ट जानवर को भागने से रोकने के लिए उसके गले में बाँधा जानेवाला लकड़ी का एक टुकड़ा (गया०)। दे०—ठेकर। (२) धगरिन, चमाइन।
[देशी]।

डगरा—(सं०) बाँस की कमाची की पत्तियों का बारीक बुना गोल पात्र।



[देशी]।

डगरी—(सं०) डगरा का छोटा रूप।
[डगरा+ई (अल्पा० स्त्री० प्र०) < डगरा (देशी)]।

डगरो-डगरो—(सं०) बंदरों को भगाने का भय-सूचक शब्द (मुं०-१)।
[अनु०]।

डघराएल—(क्रि०) झुंड में से निकालकर पशुओं को गाँव की ओर ले जाना (पट०)। दे०—निकासल।
[डघर+आएल (प्र०) < डघर < डगर]।

डटौका—(सं०) छोटा और मोटा डंडा। (चंपा०)। दे०—सोंटा।
[डट+औका (प्र०) < डटा < दण्ड-]।

डठौका—(सं०) छोटी लाठी (चंपा०-१)।
[डठ+औका (प्र०) < डठ < डंटा < दण्ड-]।

डड़ुआ तेल—(सं०) कुसुम के बीज (बर्रे) से निकाला गया तेल (शाहा०)। दे०—जरुआ तेल।
[डड़ुआ + तेल, डड़ुआ < डड़+उआ (प्र०); < डड़ < दग्ध; तेल < तैल- < तिल-]।

डपटन—(सं०) कड़ाह की पेंदी में चीनी को बैठने से बचाने के लिए उसे खुरचनेवाला औजार (द० भाग०)। दे०—खुरपी।
[देशी]।

डपटी—(सं०) कड़ाह से रस निकालनेवाली कलछी (द० भाग०)।
[देशी, मिला०—दर्वि-(संस्कृ०)]।

डफउर—(सं०) केले के पौधे का ऊपरी छिलका (चंपा०-१)।
[देशी]।

डबडबावल—(क्रि०) (१) बादल का पानी से भरा होकर बरसने को तत्पर होना (चंपा०-१)। (२) अश्रु-पूर्ण होना।
[डबडब+आ+वल (प्र०) < डब (अनुवा०)]।



डबरा—(सं०) छिछला और कुछ लंबा गड्ढा। (चंपा०-१)।
[देशी]।

डबल केराव—(सं०) बड़े दानोंवाला केराव (शाहा०)। दे०—दबलिया।
[डबल+केराव ; डबल (अँ०) वा <धवल-(संस्कृ०) =उजला, केराव<कलाव-]।

डबली केराओ—(सं०) (पट०-१)। दे०—डबल केराव।

डबहा—(सं०) किसी स्थान पर पानी का इकट्ठा हो जाना (चंपा०-१)।
[देशी]।

डब्बू—(सं०) (१) ठंडा करने के लिए कड़ाह में रखे गरम रस को चलानेवाली कलछी (शाहा०)। दे०—तमिया। (२) उबाले हुए रस को ठंडा करनेवाली लोहे या लकड़ी की कलछी (गं० द०)। दे०—तामिया। (३) कड़ाह से रस निकालने की कलछी (द० भाग०)। दे०—कठही। (४) लोहे या पीतल की बड़ी कलछी।
[डब्बू < दर्वि- ; डबको (ने०) ; डबका हिं० ; डबको (मरा०)]।

डमकल—(वि०) अधपका फल (पट०-१)।

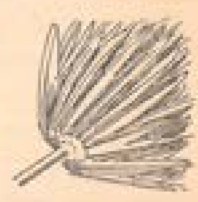
डमकी—(सं०) कच्चा फूट, जिसे आग पर पकाकर तरकारी आदि के तौर पर खाते हैं (द० प० शाहा०)। दे०—फूट।
[डमक + ओ—'ई' की 'ओ' ध्वनि < डंमक डिमक- (=शिशु)-(?)]।

डमसाहा—(वि०) अधपका फल आदि (मुं०-१)।
[डम+साहा (प्र०) < डम < डंमक < डिमक-]।

डमको—(सं०) फसल के खेत से चिड़िया आदि को उड़ाने के लिए पेड़ से लटकाया हुआ तालपत्र या टिन आदि, जो रस्सी से खींचते ही बज उठते हैं, जिससे पक्षी, सियार आदि भाग खड़े होते हैं (शाहा०)। दे०—डब-डब।
[डम + को, डम < दुम—(?), को < खोल्क, खल्ल]।

डमकोला—(सं०) फसल के खेत से चिड़िया आदि को उड़ाने के लिए पेड़ से लटकाया हुआ ताड़ का पत्ता या टिन आदि, जो रस्सी से खींचते ही बजने लगते हैं, जिससे चिड़िया या सियार आदि भाग जाते हैं (पट०)। दे०—डबडब।
[डम+कोला- दे०—डमखोला]।

डमखोला—(सं०) ताड़ का पत्ता (मुं०-१)।



[डम+खोला, डम (संम०) < दुम, खोला < खोल्क या खल्ल-(?)]।

डमार—(सं०) (१) सूखा हुआ गोबर (पू० मै०)। दे०—डमारा। (२) जंगल या चरागाह में खाद के लिए इकट्ठा किया हुआ या जलावन के लिए सुखाया हुआ गोबर (पू० मै०)। दे०—कंड़ड़ा। (३) मैदान या खेतों में पड़ा आप-से-आप सूखा हुआ गोबर। बनगोइठी (मुं०-१)।
[देशी, वा डमार < डम्बर- = राशि, ढेर, कोलाहल ; वा < डमर-, डामर- (कोलाहल)]।

डमारा—(सं०) सूखा गोबर (गं० द०)। पर्या०—डामर (पू० मै०), कंडा (शाहा० पट०), कँड़रा (प०, सा०), गौठि (उ० पू० मै०), गोठी (चंपा०)। (२) जंगल या चरागाह में खाद के लिए इकट्ठा किया हुआ या जलावन के लिए सुखाया हुआ गोबर (द०)। दे०—कँड़ड़ा।
[देशी वा डमारा < डामर-, डमर- वा डम्बर (=कोलाहल, राशि, ढेर]।

डमोला—(सं०) ताड़ का पत्ता (मुं०-१)।
[डम + ओला < दुम + खोल्क वा खल्ल वा डम (ढोल से उत्पन्न शब्द)+खोल्क- (=छिलका, पत्ता)]।

डम्हक—(वि०) अधपका फल आदि।
[डम्हक < डंमक < डिमक- (?)]।

डम्हरो—(सं०) निकृष्ट भूमि को नष्ट करनेवाली एक कड़ी मोटी घास (द० भाग०)। दे०—जम्हार।
[देशी ; मिला०—दर्भक-]।

डमहोआ—(सं०) फसल के खेत से चिड़िया आदि के उड़ाने के लिए पेड़ में लटकता हुआ ताड़ का पत्ता, टिन आदि, जो रस्सी से खींचते ही बजने लगते हैं और पक्षी आदि भाग जाते हैं। (गं० द०, प० शाहा०)। दे०—डबडबवा। (२) भय।
[डम+होआ ; दे०—डमखोला]।

डर—(सं०) (१) एक सूखी मोटी घास, जो परती भूमि पर उगती है और शारदीय फसल को नष्ट करती है। (प० मै०, द० पू०)। दे०—मोथा।
[देशी ; मिला०—दर्भ]।

डरबिआन—(सं०) नदी के सूख जाने पर या वर्षा के अभाव में नदी आदि की पतली धारा से पैन तक पानी पहुँचाने के लिए किया गया काम (शाहा०)।

डरेर—(सं०) दे०—डँरेर, डौड़ी (गाइड०)।

डलिया-(सं०) (१) कोल्हू से जिस बरतन में रस चूता है, उसके ऊपर रखा जानेवाला छेद किया हुआ मिट्टी का बरतन या टोकड़ी (दं० मुं०)। दे०—छुत्र। (२) अन्न रखने की टोकरी, जो बाँस की कमाचियों या सीक आदि से बनाई जाती है, टोकरी (चंपा० द० भाग०)। दे०—दौरा।

[डल+इया < डाल+ई (प्र०) < डाल < डल्ल= (शाखा)बा < दल। < डाल्ल (देशी)= डाल, शाखा डल्ल (प्रा०), डाल, डाला (हिं०); डालो (नें०)=टोकरी, शाखा; डालो (कुमा०); डालि (असं०); डाला (बँ०, ओ०); डल्ल (पं०)=टोकरी; डल्हो (सिं०); डाले-, डाल (मरा०)]।

डहरा—(सं०) सूअर का छोटा नर बच्चा (गं० उ० गया)। पर्या०—तहरा (शाहा०), छौना (पट०, प०); छावा (गया)। स्त्री०—डहरी, छाई (गं० उ०, गया); कूँभी (गया)।

[डहर+आ (पुं० प्र०), डहर (प्रा०); दहर (प्रा०); < दभ्र- (संस्कृ०)=छोटा, छोटा बच्चा, छोटा पशु]।

डहराएल—(क्रि०) झुंड में से निकालकर पशुओं को गाँव की ओर ले जाना (गया)। दे०—निकासल।

[डहर + आएल (ना० धा० प्र०) < डहर (संम०) < दहर < दभ्र-]।

डहरी—(सं०) सूअर का छोटा मादा बच्चा (गया०, गं० उ०)। पर्या०—छाई (गं० उ० गया) कँभी (गया)। (पुं०) डहरा, तहरा, छौना, छावा।

[डहर + ई (स्त्री० प्र०) < डहर- (प्रा०); दहर (प्रा०) < दभ्र-]।

डाँग—(सं०) (१) मवेशियों को हाँकने के काम में आनेवाली छोटी छड़ी (पू० मै०, पट०)। पर्या०-डेंग (गया) सोंटा। (२) लंबी तथा दबंग लाठी, बोंग (मुं०)।

[डाँग < दण्डक-(?) वा देशी। डङ्गा (प्रा०); छड़ी, डंगर (हिं०) = लाठी; डंगुर (कश्म०) = बैल, मूर्ख; डाङ० (अस) = छड़ी, लाठी; डाङ (बँ०) = लटकता खंभा; डांग (ओ०) = छड़ी; डाँग (पं०) = छड़ी, लाठी; डाँगल (पं०)=मील; डंगर (पं०) पशु, मूर्ख; डाँग (गु०) = लाठी, डांग (मरा०) = पहाड़ी; डङोर (काफि-अश्क)=अस्वस्थ; डाङ्गे (नें०) = बड़ा आलसी, बिना गंभीरता से कोई काम करना, एक प्रकार की बेंत]।

डाँगर—(सं०) (१) एक प्रकार का अनाज, जिसमें बाल नहीं होती (पट०, चंपा०)।

[देशी-, वा डाँग+र (प्र०) < डाँग (?)। दे०—डाँग]।

डाँगर—(सं०) (२) बुढ़ापे के कारण दुर्बल पशु (सा०); पर्या०—लटल (उ० पू० मै०)। (३) (मृत पशु (शाहा०)।

[मिला०—डङ्गर=फेंकना, घृणावाचक शब्द (मो० वि० डि०)। दे०—डाँग]।

डाँगा—(सं०) ऊँचे स्थान पर बसी बस्ती (मुं०-१)।

[देशी-, डाँगा < डंगा (प्रा०) वा तुङ्ग-(?)]।

डाँट—(सं०) (१) अनाज निकाल लेने के बाद बचा हुआ फसल का डंठल (मै०)। (२) अनाज की काटी गई फसल (उ० प० मै०)। दे०—डाँठ। (३) तंबाकू का डंठल (द० मुं०)। दे०—डंटी।

[मिला०—दंड-, दण्ड < दण्डास्थि (?)]।

डाँटी, डाँट—(सं०) मकई आदि भदई फसल का डंठल। दे०—ढट्ठा।

डाँट, डाँटी—(सं०) बाजड़े का डंठल (सर्वत्र)। पर्या०—ढट्ठा (शाहा०), ठठेरो (द० भाग०)।

डाँट, डाँटा, डाँटी—(सं०) शारदीय फसल का डंठल (जहाँ-कहीं)। दे०—डाँठी।

डाँट, डाँटी, डाँठी—(सं०) मँड़ुआ का डंठल (गया)। दे०—नेरूआ।

डाँटा, डाँट, डाँठी—(सं०) शारदीय फसल का डंठल (जहाँ-कहीं)। दे०—डाँठ।

डाँटी—(सं०) (१) अनाज निकालने के बाद फसल का बचा हुआ डंठल (गं० द०, चंपा०)। दे०—गोधार। (२) मँड़ुआ के दाने निकाल लेने पर बची हुई ऊपर की भूसी (गं० उ०)। पर्या०—कट्ठआ (उ० मै०); पुत्ती (द० प० मै०), खोलड़ी (द० प० शाहा०), भूँसी (शाहा०), भूसा, खलकोइय, (पट०, गया), भुस्सा (द० पू०)।

[डाँट+ई (प्र०) < डाँट < दंड, दण्ड (?)]।

डाँटी, डाँट, डाँठी—(सं०) मँड़ुआ का डंठल (गया)। दे०—नेरूआ।

डाँटी, डाँट—(सं०) (१) बाजड़े का डंठल (सर्वत्र)। (२) मकई आदि भदई फसल का डंठल (अन्यत्र)। दे०—ढट्ठा।

डाँटी, डाँट, डाँटा—(सं०) शारदीय फसल का डंठल (जहाँ-कहीं)। दे०—डाँठ।

डाटुका—(सं०) शारदीय फसल का डंठल (गं० उ०)। दे०—डाँठ।

[डाँट+उका (प्र०) < डाँट < दंड-, दण्ड-(?)]।

डाँठ—(सं०) (१) शारदीय फसल का डंठल (ग० उ०)। पर्या०—डाँटुका, कुटका (गं० उ०), ढट्ठा (पट०, प०), डाँट, डाँटा, डाँटी (जहाँ-कहीं) ठठेरो (द०

भाग०, पट०); अंतिम शब्द विशेष कर जनेरा के के डंठल के लिए प्रयुक्त होता है। (२) मूंग या किसी दलहन का डंठल, जो भूसा के लिए व्यवहृत होता है (उ० पू० मै०)। दे०—के ँगरा। (३) मकई का डंठल, जिसमें बाल लगी रहती है (सा०-१)। (४) तंबाकू का डंठल (पू० मै०)। दे०—डाँटी। (५) कटी हुई अनाज की फसल (उ० प०)। पर्या०—डाँट (उ० प० मै०), लार (पू० मै०), लेहनी (शाहा०), लेहन (चंपा०), पतौर (गया), पतौड़ी, पतनी (पट०); पातन (द० मुं०), पत्तन (द० भाग०)। पल्हरी=काटकर इकट्ठा किये बिना ही खेत में पड़ी; फसल (शाहा०)। पथारी = काटकर इकट्ठा किये बिना ही खेत में पड़ी फसल (सा०)।

डाँड़—(सं०) (१) सामान्य भूमि से ऊँची उठी हुई खेतों की सीमा, मेंड़ (द० प० शाहा०)। दे०—आर। (२) काटने के लिए तैयार ऊख का पौधा (द० पू०)। दे०—अगरबंधु। (३) बाँस का वह पोला नालदंड, जिसे हल के पीछे की ओर जोड़कर उसके द्वारा बीज खेत में गिराया जाता है (सा०-१)। (४) रेखा, नाला (मुं०-१)। (५) खेत तक जानेवाला जल-प्रवाह का मार्ग या नाली (द० पू०, चंपा०)। (६) जुरमाना, अधिक दंड। (७) चप्पू, नाव खेने का साधन-विशेष।



[डाँड़ < दण्ड-। दण्ड-(संस्कृ०) =डंडा, जुरमाना; दंड, डंड—(पा०, प्रा०); **डाँड़** (हिं०)=खंभा, जुरमाना; **डाँड़** (ने०)=जुरमाना; **डान** (कुमा०); **डाँर** (अस०)=लग्ग, खंभा या डंडा; **डाँड़, डाँड़ा** = चप्पू, जुरमाना; दण्ड (ओ०)=मार्ग; डन्न (पं०)=जुरमाना; दण्ड (सिं०) =जुरमाना; दाँड़ों डाड़ो (गु०)=खंभा, डंडा; दाँड़ (मरा०) = लाठी, धरन, एक पड़िया; दड (सिंह०)= =जुरमाना; दन (कश्म०)=गदा, मुद्गर; दन (दरदी) =हत्या; दोनु (शिना०); रन (रोमा०)]।

डाँड़र—(सं०) बैलों को बाँधने के लिए प्रयुक्त लोहे की जंजीर (चंपा०, मै०)। दे०—सीकर।

[देशी, या डाँड़+र (प्र०) < डाँड़ < दंड-(?)]।

डाँड़ी—(सं०) (१) खुरपे का वह नुकीला और पतला अंश, जो बेंट में ठोका जाता है (द० प० शाहा०)। दे०—नार। (२) फसल का नुकीला, पतला और सीधा भाग, जो बेंट में ठोका जाता है (द० प० शाहा०)। दे०-नार। (३) नदी की सतह पर आर-पार बाँधा गया ढालू बाँध, जिसपर होकर पानी धीरे-धीरे आगे बहता है और रोक के कारण रुका हुआ पानी बगल के पैन आदि में मुड़ जाता है (गाइड०)। पर्या०-डँरवा, डरेरी, छिलका।

[डाँड़+ई (स्त्री० प्र०) < डाँड़ < दण्ड-]।

डाक हिल्कार—(सं०) दियारा या किसी ऐसी ही जमीन का अधिकार-प्राप्त रैयत (गाइड०)।

टि०—बंगाल टेनेंसी ऐक्ट १८० (१) के अनुसार दियारे या जिरात जमीन के मालिक की अधिकार-याचना के बाद उन्हें उसका अधिकार मिला था।

[डाँड़+ई (अल्पा० स्त्री० प्र०) < डाँड़ < दंड-]।

डाड़—(सं०) जमींदार द्वारा किया जानेवाला जुरमाना (पट०-१)।

डाढ़ा—(सं०) फसल का रोग-विशेष, जिसके लगने से फसल सूख जाती है (पट०-१)।

डाढ़ी—(सं०) डंठल के साथ जुड़ा हुआ गाँजा (शाहा०)।

[डाढ़+ई (प्र०) < डाढ़ < (=शाखा, डाल); डाल (देशी)]।

डाब—(सं०) मजबूत और भारी फलकवाली एक प्रकार की हँसिया। दे०—पचरिया।

[डाब<दाव<दात्र-(?) < √ दो (=काटना) + त्र (प्र०)]।

डाबर—(सं०) ऊँची-नीची जमीन। (चंपा०, उ० पू० मै०)। दे०—उभर-खाभर।

[देशी, या < दभ्र—(?)। डाबो, डाबर (ने०)= चिह्न, लांछन, छोटी फुंसी, जो मच्छड़ आदि के काटने से होती है; डाबर<डब्ब—('र' आगम के साथ,—(नेपा०); डोब (कश्म०)=चिह्नित; डब्ब (पं०)=चिह्न; डब्बा (पं०)=चिह्नित; डब्बी (पं०); डबो (सिं०)=एक प्रकार का कुत्ता; डिबक, (सिं०)=दंशन का चिह्न।]

डाबर—(सं०) (२) खेती के योग्य जमीन का घिरा हुआ या सीमित टुकड़ा, खेत (चंपा०, गया)। दे०—खेत।

डाभ—(सं०) (१) कच्चा फूट, जिसे पकाकर तरकारी आदि बनाकर खाते हैं। दे०—फूँट। (२) कच्चा नारियल। (३) चने का अंकुर (द० प० शाहा०)। पर्या०—डिब्भी, (शाहा० के० शे० भा०), डिब्भी (द० मुं०), गजुर, सूआ (द० भाग०)। (४) एक प्रकार की घास (दर०-१; पूर्णि०-१)।

[डाभ<दाभ<दब्भ (पा०) < दर्भ-(संस्कृ०)]।

डाभी—(सं०) (१) अंकुर की वह दशा, जब उसमें पत्तियाँ बनती हैं (द० प० शाहा०)। दे०—डिब्भी।

(२) भूमि पर उगा हुआ बीज का पहला अंकुर (द० प० शाहा०)। दे०—डिब्भी। (३) एक पशुखाद्य लंबी घास (सं० उ०,गया, शाहा०)। (४) फसल को नष्ट करनेवाली एक मोटी घास। (५) एक प्रकार की घास।

[डाभ+ई (प्र०) < दाभ < दम्भ < दर्भ-, वा < डिम्भ—(?)]।

डाल—(सं०) (१) (सा०-१)। दे०—डाँटी। (२) शाखा।

[देशी, वा < दल वा < डल्ल (प्रा०), डाल, डल्ल (प्रा०); डाल (हिं०); डोलो (नें०); डालो (कुमा०); डाल (अस०); डाल (ओ०); डाल (पं०); डाऊ (सिं०); डाल (गु०)]।

डाला—(सं०) नील के पानी को निकालने के लिए उसके ऊपर-नीचे रखा छेदयुक्त तख्ता। पर्या०—चलना। (२) बड़ा टोकरा।

[डाला < डल्ल < दल+(क)। वा < डल्ल, डाल (प्रा० देशी); डाल, डाला (हिं०); डालो (नें०)=टोकरी, शाखा; डालो (कुमा०); डाली (अस); डाला (बं०, ओ०); डल्ल (पं०); डल्हो (सिं०); डाले (गु०); डाल (मरा०), =चित्र का कटरा। डाल, डाला. डालो < डल्ल-, डाले, डाली (मरा०)=डलिया, टोकड़ी< टहनियों से बना हुआ—(नेपा०)]।

डाली—(सं०) (१) बढ़ई आदि को मजदूरी में दस सेर से तीस सेर तक दिया जानेवाला अन्न। (२) शाखा, डाल।

[डाल+ई (प्र०)<डाला < डल < डल्ल-(?)]।

डाहरखना—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिससे हलक में शोथ हो जाता है (पट०-१)।

डाही—(सं०) घास-पात जलाकर बनाई हुई खाद (पट० गया)। दे०—खादर।

[डाह+ई (प्र०) < डाह < दाह < √दह्]।

डिड़िया मिरचाई—(सं०) एक प्रसिद्ध लंबी तीती फली, जो मसाले में प्रयुक्त होती है, मिरचाई (द० मुं०, पट०-१)। दे०—मिरिच।

[डिड़िया+मिरचाई, डिड़िया< डिंड़ < डिंड—डंडी (?) मिरचाई<मिरचा<मरीच-]।

डिंड़ी, डिंडी—(सं०) (१) पोस्ते के ऊपर का भाग। (पट०)। दे०—ढेंढ़ी। (२) कपास की फली (पट०) दे०—ढेंढ़। द० मुं०)। (३) अरहर या किसी अनाज की फली (पट०, पट०-१) दे०—टेंढ़ी।

[डिंढ़ी < डिंडी<ढेंढ़ी < संभ०- < तुंडी, तुंडिक]।

डिप्पी—(सं०) वह ऊख, जिसमें सद्यः अंकुर निकला है। (द० भाग०)। दे०—पुआरी।

[डिप्पी < डिम्भी<डाभ<दम्भ< दर्भ- (?) वा डिम्भ-]।

डिफ्फी—(सं०) (१) मकई आदि का उगा हुआ अंकुर। (२) मकई आदि के खेत में उगी हुई घास (मुं०-१)।

[डिफ्फी < डिम्भी < डिम्भ-(?)]।

डिब्भी—(सं०) (१) कपास के अंकुर का प्राथमिक पत्रोद्गम। (शाहा०)। दे०—पतियाएल। (२) भूमि पर उगा हुआ बीज का पहला अंकुर (सं० उ०, शाहा०)। पर्या०—डाभी (द० प० शाहा०), अंकुरा (गया, मैं०), गाछी (उ० पू० मैं०), अँखुआ (पट०, मैं०), कनूसी (द० मुं०), गुजर (द० भाग)। (३) अंकुर की वह दशा, जब उसमें पत्तियाँ बनती हैं। पर्या०—डाभी (द० प० शाहा०), टँभी (पट०)।

[डिब्भी<डाभी < डाभ<दाभ<दम्भ<दर्भ-वा < डिम्भ-]।

डिब्भी, डीभी—(सं०) रहर एवं दूसरे दलहनों का अंकुर। पर्या०—गाछ (उ० पू०)। अनाज का छोटा पौधा।

[डिब्भी < डिम्भ-(?)]।

डिल्ला—(सं०) भूमि या पत्थर का कुछ उभरा भाग। मिट्टी का ढेर। दे०—टिलहा।

[डिल्ला<टिल्ला<डिल्हा<तिलक-(?)]।

डिहवार पूजा—(सं०) वर्षा के आरंभ में पहले-पहल बीज बोने के समय की जानेवाली पूजा। इस दिन कृषक मुट्ठी-भर अनाज चरवाहे आदि को देता है।

[डिह+वार+पूजा < डीह+वार (प्र०)+पूजा; डीह<दीर्घ-(?)]।

डिहाँस—(सं०) (१) गाँव के पास की उपजाऊ भूमि (शाहा०,-पट०, गया)। दे०—गोंएड़। (२) वह ऊँची जमीन, जो ठीक बस्ती से मिली हुई और उपजाऊ हो। दे०—डीह। (३) ऊँची जमीन (पट०)। दे०—उजार।

[डिह+आँस < डीह+ आंस < दीर्घ+अंश वा पांशु]।

डिही—(सं०) गाँव में स्थायी तौर पर रहनेवाला रैयत (उ० पू० मैं०)। दे०—छपरबंद।

[डिह+ई (प्र०) < डीह < दीर्घ-(?)]।

डीड़ा—(सं०) गाँव-घर से सटी हुई जमीन। पर्या०—डीड़ा (द०—भाग०)।

[देशी]।

डौंड़ी—(सं०) अरहर या किसी अनाज की फली (द० मुं०)। दे०—ढूँढी।
[डौंडी < ढिंढी<ढेंढी; < तुण्डिक, तुण्डि]।

डौंड़ी—(सं०) गाँव-घर से सटी हुई जमीन (द० भाग०)। दे०—डौंड़ा।
[देशी]।

डौरी—(सं) चना आदि की छीमी (प० पू० मै०)।
[डौंर+ई < डोड़ < ढेंढी < तुण्डिक तुण्डी (?) या < डिम-]।

डौभी—(सं०) किसी बोई हुई फसल का अंकुर (चंपा०)।
[डौभ+ई (स०) √ डिभ-(?)]।

डौभी, डिब्भी—(सं०) (१) अनाज का छोटा पौधा। (२) अरहर एवं दूसरे दलहनों का अंकुर। दे०—डिब्भी।

डौल—(सं०) (१) मिट्टी या पत्थर का कुछ उभरा हुआ भाग। मिट्टी का ढेर। (द० प० शाहा०)। दे०—टिल्हा। (२) किसी कंदरा या खोह के बीच की ऊँची जमीन (शाहा०) दे०—डूह। (३) ऊँची जमीन। दे०—उपरवार।
[डौल < टिल्ला < तिलक-(?)। डिल् (ने०)= किनारा, तट, पहाड़ी के पास का टोला; डेल (कुमा०)=राशि; डिल (अस०)=दिल, डिला (अस०)= आम की गाँठी; ढेला (बँ०)=ढेला; डौल, ढेला, (हिं०)=ढेला, जोती हुई भूमि; ढेल्ला, ढेल्हा (पं०)= आँख की कनीनिका; डिल्ह, ढेला (उ०)=कच्चा फल, दील, डौल (गु०)=शरीर, ऊपर; <डेल्ल < डिल्ल- (नेपा०)]।

डौला—(सं०) किसी नदी की धारा के हट जाने के बाद फिर से निकली हुई जमीन (द० प० शाहा०)। दे०—छारन।
[डौल+आ (प्र०) < डौल < तिलक (?)]।

डीह—(सं०) (१) उजड़े हुए गाँव की जगह का भीठा (द० मुं०)। (२) ऊँची जमीन (द० भाग०)। दे०—उपरवार। (३) पुराने गाँव का स्थान या टीला। (४) वह ऊँची जमीन, जो ठीक बस्ती से मिली हुई हो। पर्या०—डिहास, भीठा (मै०); भीठ (चंपा०)। डीह (गाइड०)। (५) पुराने गाँव का वह स्थान, जहाँ गाँव की आबादी समाप्त हो गई हो और उस जगह खेत बन गया हो। (६) गाँव का वह ऊँचा स्थान, जहाँ नोनियाँ नमक बनाते हैं। मिट्टी जमा होते-होते वह स्थान काफी ऊँचा हो जाता है। (चंपा०-१)।
[डीह < दीर्घ- (?) या < देह-डीह (हिं०), डाहा (हिं०)=टोला; डिहि (ने०)=टीला, चबूतरा छोटा घर; डिहि (बँ०)=जिले का प्रधान गाँव; डिहि (ओ०)=वेदी, निवास-गृह; डेह (पं०)=गाँव; डेहरी (ल०)=मीनार; डिह (सिं०); डेरवान (गु०),= ग्रामीण। < देहिन् (संस्कृ०)—नेपा०]।

डीह-बस्गित—(सं०) निवास-संबंधी जमीन (सा०)।
[डीह+बस्गित< डीह+बस्ती, (ग० का आगम, मध्य 'अ, का ई', से विपर्यय) के साथ< वसति < √ वस्]।

डुड़िया—(सं०) बिना सींगों का बैल (द० प० शाहा०)। दे०—मुँड़ेरा।
[देशी, मिला०-तुण्डिक—)।

डुबावल—(क्रि०) (१)-खेत को धारावाहिक सिंचाई द्वारा पानी से अच्छी तरह डुबा देना, जिससे उसमें पर्याप्त हाल हो जाय। (२) बाढ़ आदि के पानी से खेत या फसल को डुबाना। (३)-डुबाना, निमग्न करना (४) नष्ट करना, ध्वस्त करना। (वि०) डुबाया हुआ।
[डुब+आवल (प्र०) < डुब < डुब्ब < ब्रुड (वर्ण-व्यत्यय के साथ), डूबल क्रि० का प्रे०। डुबाना (हिं.); डुबाउनु (ने०); डुबाउन्नु (कुमा०), डुबाइबा (अस०); डुबान (बँ०); डुबाउण (पं०); डुबाड्वुँ (गु०)]

डुब्भी—(सं०) कपास के अंकुर का प्राथमिक पत्रोद्गम (द० प० शाहा०)। दे०—पतियाएल।
[डुब्भ+ई (प्र०) डुब्भ < दूबी, दर्भ, डिभ-]।

डूबल—(क्रि०) (१) धान आदि फसल का बाढ़ के पानी से डूब जाना। (२) धारावाहिक सिंचाई द्वारा खेतों में पर्याप्त पानी पहुँचा देना, जिससे भूमि में खूब हाल हो जाय। (३) डूबना। (४) नष्ट होना। (वि०) डूबा हुआ। पानी के अंदर पड़ गई फसल आदि।
[डूब+ल (प्र०) < डूब < डुब्ब < ब्रुड-(वर्ण व्यत्यय के साथ) (नेपा०)। या< √मुड् (=कड़ना); डूबना (हिं०); डुबने (ने०), डुब, (कुमा०); डुबिबा (अस); डुबा (बँ०); डुबिबा (ओ०); डुब्बणा (पं०); डुबवुँ (गु०); डुब्बे (मरा), डुबुन (कश्मी०); डुबो (दरदी)]।

डेउढ़ी—(सं०) (१) जमींदार का घर (पट०-१)। (२) देहली।

डेउढ़ी देमान—(सं०) जमींदार के पटवारियों का प्रधान (पट०-१)।

डेढ़ा—(सं०) (१) कर्ज पर अनाज देने की वह दर; जिसमें एक मन अनाज सूद-समेत डेढ़ मन हो जाता है। पर्या०—डेओढ़ा, डेउढ़िया (द० पू०)। (२) एक और आधा का परिमाण या संख्या।
[डे+ढ़ा < द्व्यर्ध, द्व्यर्धक]।

डेढ़िया—(सं०) (१) उधार लिये हुए अन्न या नकद का दिया जानेवाला डेवढ़ा सूद। (२) डेवढ़ा सूद। (३) डेवढ़ा (भाग०-१)।

डेढ़ुआ—(सं०) एक पशुखाद्य घास (द० मै०)।
[देशी]।

डेढ़ौराजोर—(सं०) मवेशियों को खूँटे से बाँधने की रस्सी (गाइड०, प० मै०)।। दे०—छान।
डेढ़ौरा+जोर ; डेढ़ौरा (देशी) ; जोर < जोड- या (वर्णविपर्ययात्)<रज्जु-]।

डेफ—(सं०) गेहूँ का प्रथम उत्पन्न अंकुर (उ० प० मै०)। दे०—सूइया। डेफ निकसल (मु०) = अंकुर फूटा (उ० पू० मै०)।
[डेफ < डिफो < डिम्भी < डिम्भ-]।

डेफी—(सं०) गेहूँ का उत्पन्न पहला अंकुर (पू०)। दे०—सूइया।
[डेफ+ई (प्र०) < डिफो < डिम्भी <डिम्भ-]।

डेब—(सं०) वह बैल, जिसका एक सींग नीचे की ओर और दूसरा ऊपर की ओर जाता है। (चंपा०, प० मै०)। दे०—सरगपताली। (२) पशुओं का एक ऐब ; जिसमें दोनों सींग एक समान नहीं होते हैं (सा०-१)। पर्या०—सरँगपताली।
[डब- (देशी)]।

डेयोरा—(सं०) एक सूखी मोटी घास, जो बिना जोती जमीन पर उगती है और शारदीय फसल को नष्ट करती है (द० मुं०)। दे०—मोथा।
[देशी]।

डेरवा—(सं०) एक प्रकार की मछली (चंपा०)।
[देशी]।

डेली—(सं०) (१) अरहर या झाऊ के डंठल की बनी हुई कुछ बड़ी टोकरी। दे०—खैंचा। (२) सड़क आदि पर काम करनेवाले कुलियों के काम में आनेवाली टोकरी (उ० प० बिहा०)। (३) कहीं कहीं मुरगी, मछली या सूअर के बच्चों को रखने के काम में जो टोकरी आती है, उसे भी डेली कहते हैं। संताल परगने में बाँस के बने बड़े ऊँचे गोल बरतन को डेली कहते हैं, जिससे अनाज रखने के लिए कोठी का काम लिया जाता है।
[डेली < डाली < डल्लक, < डल्ल या < दल-]।

डेवा—(सं०) मछली पकड़ने का एक प्रकार का जाल, जिसमें पानी के बहाव पर चार खूँटों को गाड़कर उसपर कपड़ा बाँध देते हैं और इसके ऊपर मछली कूदकर आ जाती है। (२) सख्त जमीन (चंपा०)।
[देशी]।

डेहरी—(सं०) दो हराई के बीच का भाग (सा०-१)। (२) छोटी कोठी (चंपा०-१)। (३) अन्न रखने के लिए घर के अंदर सरपत और मिट्टी की बनी हुई छोटी गोल कोठी।
[डेहरी < देहरी < देहली]।

डोंग—(सं०) चीनी-मिल का वह साधन-विशेष, जिसके द्वारा ऊख और उसके टुकड़े पेरने के कोल्हू तक ले जाये जाते हैं। यह डोंगी के आकार का होता है (री०)।

डोंड़—(सं०) (१) दो आदमियों द्वारा प्रयुक्त होनेवाला दो खंभों का जाल (चंपा०)।
दे०—डोंड़ी।
[डोंड <तुंड या < डोर < दवर (प्रा०) डोरी-दोर (संस्कृ०)]।



डोंड़—(सं०) (२) एक प्रकार का अल्पविष साँप, जो स्थल की तरह जल में भी रहता है।
[डोंड < डुण्डुभ-]।

डोंड़ा—(सं०) वह रस्सी, जिसके द्वारा प्रधान रस्सी मेह में बाँधी जाती है (द० भाग०)। दे०—जुरी।
[डोंड+आ (प्र०) < डोंड < डोर=दवर (प्रा०); दोर (संस्कृ०)]।

डोंड़ी—(सं०) कपास की फली (पट०, द० मुं०)। दे०—ढेंड़।
[डोंड+ई (प्र०) < डोंड < तुंड-(?)]।

डोंड़ी—(सं०) दो आदमियों द्वारा प्रयुक्त होनेवाला दो खंभों का जाल (पट०, गया० प०)। पर्या०—डोंड़ (चंपा०)।
[डोंड़ + ई (प्र०) < डोंड़ < तुंड या < डोर < दवर (प्रा०)=डोरी ; दोर—(संस्कृ०)]।

डोरा—(सं०) हल के जुए (पालो) को हरीस से बाँधनेवाली रस्सी (द० भाग०)। दे०—नारन।
[डोर+आ (प्र०) < डोरा < डोर < दोरक (संस्कृ०) ; दोर, दवर (प्रा०)]।

डोक—(सं०) ऊख को पेरने के लिए चक्की तक ले जानेवाला मिल का एक यंत्र (सा०-१)।
[डोक < डोङ्गा, डोंगी (हिं०, बिहा०)]।

डोकल—(क्रि०) सूप से फटककर अनाज से धूल आदि अलग करना (मुं०-१)।

[डोक + ल (प्र०) < डोक- (देशी) अथवा डोक < डोक < धौंक < धमानक < √ ध्मा]।

डोका—(सं०) (१) पौधा (दर०-१, पूर्णि०-१, चंपा०-३)। (२) पीठ पर रखकर मनुष्य को ढोने का टोकरीनुमा पात्र। इसका उपयोग पहाड़ी लोग पहाड़ पर चढ़ाने में करते हैं (चंपा०-३)।

[देशी ; मिला०—डुलि=कच्छपी। डोको (ने०) = टोकरी ; खुले मुँह की टोकरी, जिसे सिर पर या कंधे रखकर रस्सी से पीठ पर लटकाकर ढोते हैं ; डोको (कुमा०)=गहरी टोकरी ; डोक (गु०)=गरदन ; डोकँ (गु०) = सिर ; डोके (मरा०)=सिर, डोक, डोई (हिं०, मरा०)=सिरा से व्युत्पन्न हो सकता है। 'ध्वाक' डोक (देशी) से इनका संबंध जोड़ते हैं। मिला०—डेक (करम०)=लगार < डोकु (करम०) = कुबड़ा ; डोका (हिं०, बँ०) ; बूढ़ा, जरातुर ; डोको (गु०) = बूढ़ा मनुष्य ; डोका (मरा०)]।

डोभर—(सं०) (१) छोटे गड्ढे का किनारा या मेंड़ (गया)। दे०—खई। (२) छोटा तालाब।

[मिला०—दुर्भर (?)]।

डोभरा—(सं०) छोटा तालाब (पट०-१)।

डोभल—(१) (क्रि०) किसी खेत में किसी फसल को खोंसना या रोपना (चंपा०-१)। (२) मकई या मकई की तरह ही दूसरे अनाज को छींटकर बोना, जिसमें बीजों को गीली भूमि में हाथ से दबा देते हैं। दे०—डोभा।

[डोभ+ल (प्र०) < डोभ < डुभ < दभ < √दभ्, √ दन्भ् (=बाँधना, ग्रथन करना)]।

डोभा—(सं०) (१) बीज रोपनेवाला मजदूर। पर्या०—रोपनिहार। (२) मकई और मकई की तरह दूसरे अनाज को भी छींटकर बोने की प्रक्रिया, जिसमें बीज छींटकर हाथ से गीली भूमि में दबा देते हैं। डोभल (क्रि०) उक्त विधि से बीज को बोना। (३) एक प्रकार की उड़द, जो पूस-माघ में तैयार होती है (पू० मुं०)।

[डोभा < डोभल < √ दभ्]।

डोभा करैल—(सं०) हलकी नीली मिट्टी (शाहा०)।

[डोभा+करैल, डोभा (देशी) वा √ < दभ् ; करैल < (संभ०) कराल (?)]।

डोभवा तार—(सं०) ताड़ का वह पेड़, जिसका फल बड़ा और काले रंग का होता है (पट०-१)।

डोर—(सं०) (१) सिंचाई के साधन चाँड़ (एक प्रकार की टोकरी) में लगाई गई रस्सी। पर्या०—डोरी, जोती (सा०), डोर (गाइड०)। (२) साधारण रस्सी। दे०—रस्सी। (३) सरेह का वह भाग, जिसकी ओर हमेशा आना-जाना होता हो (चंपा०-१)। (४) चीनी-मिल में स्थित वह हौज, जहाँ रस इकट्ठा करके पकाया जाता है (री०)।

डोर, डोरी—(सं०) सैन (एक प्रकार का सेचन-पात्र) में लगी रस्सी, जिससे वह लटकता है।

[डोर- < डोरअ < डोरक-]।

डोरियावल—(सं०) मवेशी आदि को गले में डोरी बाँधकर साथ ले चलना (मुं०-१)।

[डोर+इयावल (प्र०) < डोरा < डोरक-, दोरक-]।

डोरिया सीम—(सं०) एक प्रकार की लंबी सेम (पट०-१)।

डोरी—(सं०) (१) सिंचाई के काम में आनेवाले चाँड़ (एक प्रकार की टोकरी) में लगी हुई रस्सी। दे०—डोर। (२) साधारण रस्सी। दे०—रस्सी। (३) मछली पकड़ने की एक प्रकार की बंसी। इसमें करीब पचास हाथ की डोरी लगी रहती है और चार बंसियाँ बाँधी जाती हैं। इसमें एक लोहे का टुकड़ा बँधा रहता है (सा०-१)। (४) पूआ, जलेबी आदि बनाने के लिए घोला हुआ मैदा या आटा (द० भाग०)।

[डोर+ई (प्र०) < डोर < डोरक < दोरक]।

डोरी जाल—(सं०) एक प्रकार का जाल, जिसमें चारों ओर रस्सी बँधी रहती है और अगल-बगल दोनों ओर दो बाँस के डंडे लगे रहते हैं (सा०-१)।

[डोरी+जाल < डोर+ई (प्र०)+जाल < डोरक+जाल]।

डोरी, डोर—(सं०) सैन (एक प्रकार का सेचन-पात्र) में लगी रस्सी, जिससे वह लटकता है।

[डोर+ई (प्र०) < डोर < डोरक, < दोरक-]।

डोल—(सं०) (१) कुएँ से पानी निकालने का चौड़े मुँह का लोहे का एक पात्र। ढेंकुल द्वारा पानी निकालने का पात्र-विशेष, कूंड़ (उ० पू० मै०)। (२) कुएँ की दीवार को गिरने से बचाने के लिए यथासमय प्रयुक्त बाँस की फट्ठियों या वृक्ष की टहनियों से बनाया गया गोल ढाँचा (उ० प०)। दे०—कोठी। (३) कुएँ से पानी निकालने का लोहे का एक बरतन। पर्या०—कूंड़। (४) पानी भरने का बरतन, बाल्टी। (५) पौधे की रक्षा के लिए बाँस की फट्ठियों का बना गोलाकार घेरा (चंपा०-१)। (६) वृक्षादि



की रक्षा के लिए लगाया गया बाँस का बना घेरा। (७) देवताओं की मूर्ति को झुलाया जानेवाला आसन (चंपा०-१)।

[डोल < दोल (?) ; दोल, डोल (हिं०) ; डोल— (ने०) ; डोल (कुमा०) ; डोल (करम०) ; डोल (पं०); डोलु (सिं०) ; डोल (गु०) ; डोल (मरा०)]।

डोलपत्ता—(सं०) गाँवों का एक खेल-विशेष (पट०-१)।

डौल—(सं०) (१) बंदोबस्ती का हिसाब। (२) किसी को जमीन बंदोबस्त करने पर तैयार किया जानेवाला विवरण (सा०-१)। (३) उपाय, युक्ति।

[देशी]।

डौलबंदी—(सं०) बड़े-बड़े खेतों की लगान निश्चित करने के लिए की जानेवाली फसल की जाँच (पट०-१)।

ढ

ढंकुली—(सं०) लाठे से छोटा वह साधन-विशेष, जिससे कुएँ में से पानी निकाला जाता है।

टि०—इस छोटे लाठ या ढंकुली का उपयोग तब होता है, जब कुआँ और उसका पानी गहरा न हो। पर्या०—ढेंकी, ढेंकुल।

ढकचल—(क्रि०) (१) बैलों या साँड़ों का ढकरना। (२) पूरा खाकर ढकार लेना (मुं०-१)।

[ढकच + ल (प्र०) < ढकच (देशी), मिला०—धक्क (अनुवा०)]।

ढकढकिया—(सं०) खेत की फसल के रक्षार्थ चिड़ियाँ आदि को डराने के लिए पेड़ में लटकाये गये टिन आदि, जिन्हें रस्सी से खींचते हैं और उनकी आवाज से पक्षी, जानवर आदि खेत से भाग जाते हैं (द० पू० मैं०)। दे०—ढबढबवा।

[ढक-ढक + इया (प्र०) < ढक + ढक < ढक (अनुवा०)]।

ढकना—(सं०) तश्तरी के आकार का मिट्टी का बना एक बरतन (पट०-१)।

ढकना—(सं०) अन्न रखनेवाले मिट्टी के बरतनों का ढक्कन (शाहा०)। पर्या०—भकना (पू० मैं० गया०), मुंदन (पू० मैं०, द० भाग०)।

[ढक+ना (प्र०) < ढक < √ ढक्का]।

ढकनी—(सं०) मिट्टी का तश्तरी-जैसा छोटा पात्र। (पट०-१)।

ढकरल—(क्रि०) (१) गाय, बैल या साँड़ का ढकरना (मुं०-१)। (२) ढकार मारना। दे०—ढकचल।

[ढकर+ल (प्र०) < ढकर < ढकर (अनु०)]।

ढकिया—(सं०) बाँस की कमाची या करची की बनी हुई खुले मुँह की छोटी टोकरी, जिसे कभी-कभी ताड़ का पत्ता देकर भी बुनते हैं। दे०—गाँजा।

[ढक+इया (प्र०) ढक < ढक्क < √ढक्क]।

ढचकल—(क्रि०) दे०—ढकचल।

ढटहल—(क्रि०) किसी फसल या लता का हवा से लह-लहाना (चंपा०-१)।

[ढटह+ल (प्र०) < ढटहा (देशी)]।

ढट्ठर—(सं०) बाँस बाँधकर बनाया गया घेरा (चंपा०-१)।

[ढट्ठर < ढट्ठर < ढट्ठकर < स्थाणकर या स्थाणु-(?)]।

ढट्ठा—(सं०) (१) मकई आदि भदई फसल का डंठल (प०)। पर्या०—ठठेरा (ग० उ०); ठठेरी (द० भाग०); डाँट, डाँटी (अन्यत्र)। (२) ज्वार या जनेर का डंठल, जो चारे के लिए काटा जाता है (प०)। दे०—ठठेरा। (३) शारदीय फसल का डंठल (प०)। दे०—डाँठ। (४) मड़ुए का डंठल (उ० प०)। दे०—नेरूआ। (५) बाजड़े का डंठल (शाहा०)। दे०—डाँट। (६) पशुओं के रहने के लिए बनाया गया छायादार घेरा (उ० पू०)। दे०—पाम्हा। (७) सूखा डंठल (सा०-१)।

[ढट्ठा<ढट्ठा<स्थाण- < √स्था+ण (प्र०) (?)]।

ढठेरा—(सं०) ज्वार या जनेर का डंठल, जो चारे के लिए काटा जाता है (प०)। पर्या०—ढट्ठा (प०), ठठेर, ठठेरा (पू०)।

[ढठ+एरा (प्र०) < ढठ < ढट्ठ < स्थाण-(?)]।

ढड्ढा—(सं०) वह बही, जिसमें असामी का नाम, हर तरह की मालगुजारी, जमीन का रकबा आदि लिखे रहते हैं।

[ढड्ढा < ढट्ठा < स्थाण- (?) या देशी]।

ढपना—(सं०) कोठी का ढक्कन (पू० मैं०, द० भाग०)। दे०—पेहान।

[ढप+ना (प्र०) <ढप- (देशी)। मिला०—ढक्कन]।

ढबढबवा—(सं०) खेत में लगी फसल की रक्षा के निमित्त चिड़ियाँ आदि को डराने के लिए पेड़ या मचान में लटकाये गये टिन या ताड़ के डमखोले आदि, जिसे रस्सी से खींचकर बजाते हैं (ग० द०)। पर्या०—ठकरा (प०), ढकढकिया (द० पू०), अकासी (द० पू० मैं०), तारकखुक्ख (कहीं-कहीं दर०); धूआ, डमहोआ (गं० द०, प० शाहा०), डमको (कहीं-कहीं शाहा०), डमकौआ (पट०), ढलकौआ (गया), हरका या हरकाहा (द० भाग०, द० मुं०)।

[ढब+ढब+वा (प्र०) ढब+ढब (अनुवा०)<ढब]।

डबरी—(सं०) वह जमीन, जो कुछ दिन पानी में और कुछ दिन सूखी रहती है। पर्या०—डाब।
[देशी]।

डरका—(सं०) जानवरों का एक नेत्ररोग, जिसमें उनकी आँखों से आँसू बहते रहते हैं (पट०-१)।
[डरक+आ (प्र०) < डरकल]।

डर्रा—(सं०) ऐंची आँखवाला बैल (पट०-१)।

डलकौआ—(सं०) खेत में लगी फसल के रक्षार्थ चिड़ियाँ आदि को डराने के लिए वृक्ष या मचान आदि में लटकाये गये टिन या ताड़ के पत्ते आदि, जिन्हें रस्सी से खींचते हैं और वे बजने लगते हैं (गया)। दे०—डबडबवा।
[डल + कौआ < डल (देशी) + कौआ < काअ < काक-, या < काकोल- (संस्कृ०)-]।

डहल—(क्रि०) (१) मछलियों का जाल में फँसना (चंपा०-१)। (२) किसी वस्तु या मकान आदि का गिरना (ढहना)।
[डह+ल (प्र०) < डह < √ ध्वंस्- (?)]।

डही—(सं०) चिड़ियाँ आदि को डराने के लिए खेत में रखे हुए टिन आदि (प० गया)। दे०—धूह।
[देशी ; मिला०—धूह]।

ड़ाँकल—(क्रि०) ढकना, आच्छादन करना।
[ड़ाँक+ल (प्र०)<ड़ाँक< मिला०—√ढिक्क्]।

डाँव—(सं०) ऊँची जमीन (पट०-१)।

डाका—(सं०) (१) बड़ा खुला हुआ बाँस की कमाची या करची का बना हुआ टोकरा। यह विशेषतः ताड़ का पत्ता देकर बुना जाता है। दे०—टोकड़ा। (२) पूर्वी पाकिस्तान का एक प्रसिद्ध नगर, जहाँ की मलमल बहुत मशहूर है।

डाकी—(सं०) (१) पान उपजानेवालों के व्यवहार में आनेवाला पान रखने का बड़ा टोकरा। दे०—बेलहरा। (२) बाँस की कमाची या करची का बना बड़ा खुला टोकरा। यह विशेषतः ताड़ का पत्ता देकर बुना जाता है। दे०—टोकड़ा।
[डाक+ई (प्र०) डाक < √ ढक्क्-?]।

डाको—(सं०) छोटी मँड़ई (द० भाग०)। दे०—गोहिया।
[डाक + ओ ('अ' को 'ओ' ध्वनि) < डाक < ढाँकल (बिहा० क्रि०) < √ ढक्क् (संस्कृ०)]।

डाठ—(सं०) (१) पशुओं के रहने की जगह, गोष्ठ। दे०—बथान। (२) पशुओं के रहने के लिए बनाया गया छायादार घेरा (प० मैं०)। दे०—पाम्भा। (३) नेवारी या जलावन रखने या पशुओं के रहने के लिए बनाया गया घेरा (चंपा०, मैं०, पू०)। दे०—घेरान।
[डाठ < ठाठ < स्थात्र-(?)]।

डाठा—(सं०) (१) पशुओं के रहने की जगह, गोष्ठ। दे०—बथान। (२) मकई या जनेर की फसल का डंठल (चंपा०-१)।
[डाठ+आ < डाठ < ठाठ < स्थात्र-(?)]।

डाठी—(सं०) चारे को बचाने के लिए बैल के मुँह को चारों ओर से कसने का कैंचीनुमा लकड़ी का टुकड़ा।
[डाठ+ई (प्र०) डाठ < स्थात्र-(?)]।

डाढ़ा, डाढ़ी—(सं०) सूखी गरम हवा के कारण झुलसी हुई फसल (पू०)। दे०—झोलाइल।
[डाढ़+आ (प्र०) < डाढ़ < दग्ध-?]।

डाढ़ी, डाढ़ा—(सं०) सूखी गरम हवा के कारण झुलसी हुई फसल (पू०)। दे०—झोलाइल।
[डाढ़+ई (प्र०) < डाढ़ < दग्ध-?]।

डाब—(सं०) (१) नदी आदि के पानी के भीतर बालू, मिट्टी आदि के खिसकने या ऊपर-नीचे होने से बनी हुई ऊबड़-खाबड़ भूमि। (२) नदी के किनारे या उसके पास की जमीन, जहाँ बाढ़ का पानी लगा रहता है (चंपा०-१)। (३) वह जमीन, जो कुछ दिन पानी में और कुछ दिन सूखी रहती है। दे०—डबरी।
[डाब < √ ध्वस् (?)-(अनु० को०)]।

डाबली—(सं०) बड़े दानोंवाला केराव (पट०)। दे०—दबलिया।
[देशी; मिला०—धवल-]।

डास—(सं०) उतार भूमि (चंपा०-१)।
[डास (संस्कृ०)=दास, < √ ध्वस्-(?)]।

डाला—(सं०) (१) चट्टी, जूट आदि की बनी चीज, जिसे बैलगाड़ी पर रखकर उसमें अनाज रखते हैं (चंपा०-१)। (२) गाड़ी की पेंदी में अन्न को गिरने से बचाने के लिए बिछाई हुई जूट की चटाई (सा०)।
[देशी]।

डालो—(सं०) एक प्रकार की मछली (चंपा०-१)।
[देशी]।

डाह—(सं०) नदी का ऊँचा किनारा (उ०)। दे०—कराहा।
[डाह < दहल (बिहा० क्रि०), ढहना (हि०) < √ ध्वंस्]।

डिमका—(सं०) ऊँची जगह, टीला (मुं०-१)।
[देशी]।

डीबर—(सं०) ऊँची जमीन (हजा०)। दे०—उपरवार।
[देशी]।

डीलमुहाँ—(सं०) वह बैल, जिसकी जननेंद्रिय बहुत लटकी रहती है (पट०-१)।

डुरका—(सं०) नहर या पैन आदि का मुँह खोलकर जमीन की सतह से उच्च जल-प्रवाह के द्वारा पूर्णरूपेण खेत की धारावाहिक सिंचाई (द० भाग०)। दे०—अपटा।
[देशी]।

डुल्ला—(सं०) अनाज के ऊपर का छिलका (द० मुं०)। दे०—भूसा।
[देशी]।

डुसियाएल—(क्रि०) बैलों का ढाही (टक्कर) मारना (गया) दे०—हरपेतल।
[डुस+इयाएल (प्र०) < डूस, डुस्यावनु (ने०)]।

डुसियाहा—(सं०) ढाही (टक्कर) मारनेवाला बैल। दे०—हरपेतल।
[डुस+इयाहा (प्र०) < डूस]।

डूँस मारल—(क्रि०) बैलों का ढाही (टक्कर) मारना (पट०, पू०)। दे०—डुसियाएल।
[डूँस+मार+ल (प्र०)-(यौ०)]।

डूरनिहार—(सं०) (१) पानी से भरे मोट को खाली करनेवाला मनुष्य (सं० उ०)। पर्या०—छिनवा (द० प० शाहा०), मोटढरवा (शाहा०, द० मुं०), (२) खोजनेवाला।
[डूरनि + हार (प्र०) < डूरन < ढूण्ढ-(संस्कृ०)—(हिं० श० सा०)]।

डूसमार—(सं०) ढाही (टक्कर) मारनेवाला बैल (द०—हरपेतल।
[डूस+मार (यौ०)]।

डूस मारल—(क्रि०) बैलों का ढाही (टक्कर) मारना (द० पू०)। दे०—हरपेतल।
[डूस+मार+ल (?)-(यौ०)]।

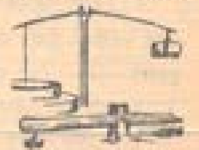
डूह—(सं०) (१) किसी कंदरा या खोह के बीच की ऊँची जमीन। पर्या०—डूही (द० प० शाहा०), डील (शाहा०), टिल्हा (पट०, गया, द० मुं०), टिक्कर टीकर (द० भाग०)। (२) मिट्टी या पत्थर का कुछ उभरा भाग या मिट्टी का ढेर। (३) भूमि का वह ऊँचा भाग, जो सामान्य सतह से ऊँचा हो (द० प० शाहा०)। दे०—टिल्हा।
[डूह < ध्वंस-वा < स्तूप-(हिं० श० सा०)]।

डूही—(सं०) (१) मिट्टी या पत्थर का कुछ उभरा हुआ भू-भाग, मिट्टी का ढेर (शाहा०, सा०)। दे०—टिल्हा। (२) किसी खोह की ऊँची जमीन (द० प० शाहा०)। दे०—डूह।
[डूह + ई (प्र०) < डूह < ध्वंस (?), < स्तूप-(हिं० श० सा०)]।

ढेंक—(सं०) ऊख के कोल्हू को कृषकों द्वारा एक सप्ताह की पारी पर क्रमशः चलाना।
[देशी, मिला०—ढेङ्क—(संस्कृ०) = एक प्रकार का पक्षी—(मो० वि० वि०)]।

ढेंका—(सं०) (१) अन्न कूटने का एक साधन-विशेष, जो लंबी मोटी लकड़ी का बना होता है और जिसके एक छोर पर मूसल जड़ा रहता है (शाहा०)। दे०—ढेंकी। (२) लकड़ी का घुमावदार टुकड़ा, जो कोल्हू के जाठ (मोहन) की पूंछ से लगा रहता है। पर्या०—ढेंकुआ (उ० पू० मै०)। (३) ऊख के कोल्हू के मोहन के चूर में लगा लकड़ी का टेढ़ा टुकड़ा। पर्या०—ढेंकुआ (उ० मै०, शाहा०, द० भाग०) ढेकुहा (सा०)। (४) ऊख के कोल्हू के पेट में रहनेवाले मोहन के मूंड के ऊपर का कटा हुआ भाग (द० मुं०)। दे०—कान्ह।
[देशी, मिला०—ढेङ्क—ढेङ्किका (संस्कृ०) = एक प्रकार का नृत्य, एक पक्षी—(मो० वि० वि०)]।

ढेंकी—(सं०) (१) अन्न आदि कूटने का एक साधन-विशेष; जो एक मोटी, लंबी लकड़ी के कुंदे का बना होता है और एक छोर पर मूसल लगा रहता है। पर्या०—ढेंका या ढेका (शाहा०), ढेंकुल (सा०)। (२) कुएँ से पानी निकालने के लिए दोफानी खंभे पर स्थित बाँस की लग्गी में पिछली ओर बोझ देकर अगली ओर कूंड़ लगाकर बनाया गया सिंचाई का साधन-विशेष। दे०—ढेंकुल, ढेंकुली (गाइड०)।



[ढेंक +ई (प्र०) < ढेंक (देशी)। मिला०—ढङ्क-(=एक पक्षी, एक प्रकार का नृत्य—(मो० वि० वि०)]।

ढेंकुआ—(सं०) (१) लकड़ी का घुमावदार टुकड़ा, जो कोल्हू के जाठ के उपरले छोर (मोहन) से लगा रहता है (उ० पू० मै०)। दे०—ढेका। (२) ऊख के के कोल्हू के मोहन के चूर में लगा लकड़ी का टेढ़ा टुकड़ा (उ० मै०, द० भाग०, शाहा०)। दे०—ढेंका।
[ढेंक+उआ (प्र०) < ढेंक (देशी)-(?)]।

ढेंकुल—(सं०) (१) अन्न आदि के कूटने का एक साधन-विशेष, जो एक लंबी मोटी लकड़ी का बना होता है और जिसके एक छोर पर मूसल लगा रहता है।

दे०—ढेंकी। (२) कुएँ से पानी निकालने के लिए दोफानी खंभे पर स्थित बाँस के लग्गे में पीछे की ओर बोझ देकर अगली ओर कूँड़ लगाकर बनाया गया सिंचाई का साधन-विशेष। पर्या०—ढेकुला, ढेंकी, लट्ठा, लाठा (गं० द०), जाँत (द० भाग०)। (३) लाठा में लगी लकड़ी या बाँस की लम्बी या डंडा (पं०)। दे०—बाँस।

[देशी]।

ढेंकुला—(सं०) कुएँ से पानी निकालने के लिए दोफानी खंभे पर स्थित बाँस की लग्गी में पिछली ओर कूँड़ लगाकर बनाया गया सिंचाई का साधन-विशेष। दे०—ढेकुल, ढेंकुला।

[देशी]।

ढेंकुहा—(सं०) ऊख के कोल्हू के मोहन के चूर में लगा लकड़ी का टेढ़ा टुकड़ा (सा०)। दे०—ढेंका।

[देशी]।

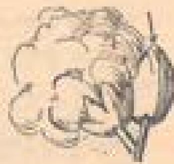
ढेंगरा—(सं०) एक प्रकार की चोइंटा-रहित सफेद मछली, जिसकी अगल-बगल दो काँटे लगे रहते हैं और पीठ पर भी काँटा होता है (सा०)।

[देशी, संभ०—ढेंग+ रा-(प्र०) < ढेंग<टङ्ग-, < टङ्क-(?) कड्डकोट (संस्कृ०); ढेंकुरा, ढेंगड़ा (हिं०), ढेंगड़ा माछ (बँ०)]।

ढेंगराबल—(क्रि०) (१) किसी वस्तु का ढेर लगा देना (मुं०-१)। (२) अधिक मार-पीट करना या मार-पीट कर ढेर लगा देना। (३) जमा करना, बहुत ज्यादा बना देना (अ० क्रि०) ज्यादा होना, जरूरत से अधिक होना (मुं०-१)।

[ढेंगर+आवल (प्र०) < ढेंगर—देशी (?)]।

ढेंड़—(सं०) कपास की फली (उ० प०)। पर्या०—ढेंढ़ी (द० भाग०), ढोंढ़ी (शाहा०); ढेर (गया) ढोढ़ी, ढिढ़ी (पट० द० मुं०)।



[< तुण्ड वा < डिण्डिर-(?)]।

ढेंढ़ी—(सं०) (१) पोस्ते का ऊपर का भाग। पर्या०—ढिढ़ी (पट०)। (२) कपास की फली (द० भाग०)। दे०—ढेंड़।



[ढेंड़+ई (प्र०) < ढेंड़ < तुण्ड-(?) वा डिण्डिर-]।

(३) अरहर या किसी अनाज की फली (शाहा०)। पर्या०—छेमी (गं० उ०, शाहा०), छीमड़ी (पु०), छीमी (गया), ढिढ़ी (पट०), ढोंढ़ी (द० मुं०)।

[ढेंढ़ी < डिण्डिर-(?)]।

ढेंपी—(सं०) मिट्टी का वह ढेर, जिसमें पान का पौधा लगाया जाता है (शाहा०)।

[देशी, मिला०—ढेंप, ढेंपी (हिं०)]।

ढेंरिया मिरचाई—(सं०) एक प्रसिद्ध लंबी तीती फली, जो मसाले में प्रयुक्त होती है। पीपर (गया)। दे०—मिरिच।

[ढेंरिया+मिरचाई (चौ०), ढेंरिया < डिण्डिर-(?) मिरचाई < मरीच-]।

ढेंसी—(सं०) (१) वह टोटका जाल, जो चरँगा, गरई आदि मछलियों को फँसाने के योग्य बनाया जाता है। (२) मछली मारने का एक प्रकार का जाल (चंपा०-१)।

[देशी]।

ढेका—(सं०) अन्न आदि कूटने का साधन-विशेष, जो लंबी मोटी लकड़ी का बना होता है और आगे मूसल लगा रहता है (शाहा०)। दे०—ढेंकी।

[देशी]।

ढेकुला—(सं०) छोटा लाठा (पट०-१)।

ढेढ़ियाबल—(क्रि०) किसी फसल की ढेढ़ी (फली) में अन्न का हो जाना।

[ढेढ़ि + आवल (प्र०) < ढेढ़ी < तुण्ड-(?) वा < डिण्डीर-(?)]।

ढेढ़िया मालभोग—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१; पूर्णि०-१)।

[ढेढ़िया+मालभोग (चौ०)]।

ढेढ़ी—(सं०) (१) किसी फल या फसल की छीमी। (२) अनाज की राशि, जो तैयार करके तौलने के लिए गोलाकार बनाई गई हो (चंपा०-१)।

[मिला०—तुंड-, तुण्डिन्; ढेर (हिं०); ढेर, ढेरी (ने०); ढेर (कुमा०); ढेर (असम०); ढेर, ढेरी (बँ०); ढेर (ओ०); ढेर (पं०, ल०); ढेर; ढेर (गु०, मरा०)]।

ढेपा—(सं०) ढेला (चंपा०-१)।

[ढेपा < स्तेप < स्तिप्-(?)]।

ढेब—(सं०) ढेर, राशि (सा०-१)।

देशी-(?)]।

ढेबुआ—(सं०) एक पैसे का सिक्का। पर्या०—कचा (गया)।

[ढेबुआ < ढेब्ब-(= पिंड, ढेर)—(नेपा०); ढेबुआ, ढेबुवा (हिं०)=एक पैसे का सिक्का; ढेबुआ (ने०)=एक पैसे का सिक्का, या उसके बराबर का ताँबे का अमुद्राङ्कित सिक्का। ढेबरी (हिं०) = ढेला, पिंड; ढेबरी (सिं०) = एक प्रकार की रोटी; ढेब्बू (गु०)=मोटी रोटी; ढेंबे (मरा०)=लंबी बिस्तृत नाक; ढेबूस (मरा०)=तोंद]।

ढेर—(सं०) कपास की फली (गया)। दे०—ढेंढ़।
[ढेर < डिण्डीर-(?)]।

ढेर—(सं०) अन्न या किसी वस्तु की राशि। दे०—ढेंब।
[ढेर < ढेर (=पिंड)—(नेपा०)। ढेर (हिं०, पं०); ढेर (ने०) = राशि, फुला ; ढेर (कुमा०) = बड़ी राशि; ढेर (असा०)=अधिक, ढरिवा (असा० क्रि०)=राशि करना; ढेर (बं०) = अधिक, ढेरी (बं०) =राशि ; ढेर (उ०)= अधिक ; ढेरी (उ०) = टीला, पहाड़ी ; ढेरू (सिं०) = राशि; ढेर (गु०) ; ढेर (मरा०)]।

ढेरियावल—(क्रि०) ढेर लगाना, ढेरी बनाना, तैयार फसल या अनाज का एक विशेष प्रकार से ढेर लगाना (मुं०)।
[ढेर+इयावल (प्र०) < ढेर ; ढेरियाना (हिं०) ; ढेरिवा (असा०)]।

ढेरी—(सं०) (१) इकट्ठा किये हुए अनाज की राशि (उ० पू० मैं०)। दे०—रास। (२) खलिहान में राशीकृत फसल के बोझों का ढेर। दे०—गांज। (३) दौनी करने के बाद अनाज और भूसा मिले हुए और ओसाने के लिए रखे हुए अनाज की राशि (चंपा०, मैं०, द० मुं० पट०-१)। दे०—सिल्ली। (४) अन्न का ढेर। पर्या०—रास, सिल्ली (गया)। (५) घर के पास खाद की राशि। पर्या०—गोनर (पू० मैं०), मान (गं० उ०)।
[ढेर+ई (प्र०) < ढेर ; ढेरी (हिं०) ; ढेरि (ने०); ढेरी (उ०) = पहाड़ी, टीला ; ढेरी (मरा०) = छोटी राशि, टीला]।

ढेला—(सं०) मिट्टी का टुकड़ा या पिंड (चंपा०-१)।
[ढेला<ढेल्ल—(नेपा०)। ढेला (हिं०, पं०, भो०); ढेला (ने०); ढेल (मरा०)=राशि]।

ढेसरावल—(सं०) (१) पकने के पहले किसी अन्न की छीमी का पुष्ट हो जाना। (२) बालें बनाना (चंपा०-१)।
[ढेसर+आवल (प्र०) < ढेसर। ढेस्निनु (ने०) = कसमकस करके बैठना ; ढेसान (बं०) = धीरे-धीरे प्रवेश करना ; ढेसरो (मरा०) = भीड़ लगाना, धक्कम-धुक्का करना]।

ढेहीं—(सं०) पानी का जोर से गिरना और उससे आवाज होना (चंपा०-१)।
[ढेहीं०< (?)]।

ढोंढ़ी—(सं०) कपास की फली (शाहा०)। दे०—ढेंढ़।
[ढोंढ़+ई (प्र०) < ढोंढ़ < तुण्ड-, तुण्डिन् ; या डिण्डिर-(?)]।

ढोका—(१) एक प्रसिद्ध चौपाया पशु, जिसका मुँह लंबा और दोनों बगल लंबे दाँत होते हैं। सुअर। दे०—सुअर। (२) लकड़ी का बना पानी पटाने का पात्र-विशेष। (दर०-१, पूर्णि०-१)। (३) पीठ पर रखकर मनुष्य को ढोने का टोकरीनुमा पात्र। इसका उपयोग पहाड़ी लोग पहाड़ पर चढ़ाने में करते हैं (चंपा०-३)।
[ढोका<(?) या<तोक, तोकम-(?) या<आढ्य-(?) ; ढोका, ढोका (हिं०) = पत्थर या किसी कड़ी वस्तु का बड़ा अनगढ़ टुकड़ा। वह बाँस, जो कोल्हू में जाठ के सिरे से कोल्हू तक बँधा रहता है। दो ढोली या चार सौ पान]।

ढोर—(सं०) गायों का झुंड (सा०-१)। पर्या०—गोरू, पशु, मवेशी।
[ढोर < धुर्य (= भारवाहक, भारवाही पशु, घोड़ा, बैल) < धुर < धुरा या < धवल (= एक प्रकार का बैल)- (हर्ष०)]।

ढोली—(सं०) (१) दो सौ पान के पत्तों की एक गिनती (चंपा०-१)। (२) दो सौ पान की पत्तियों की एक राशि। दे०—कोरी।

आधा ढोली=१०० पान की पत्तियों की राशि।
७ ढोली=१ कनवाँ
१४ ढोली=१ अथवा
२६ ढोली=१ पौवा या पावा
४ पौवा=१ लेसो
१०८ ढोली=१ लेसो (गं० द०)।
[< ढोली (?)]।

ढौस—(सं०) दोनों ओर से बड़ी-बड़ी रस्सियों से बँधा हुआ लटकता बरतन, जिसे दो मनुष्य पकड़कर गड्ढे आदि से पानी निकालकर खेत सींचते हैं (मैं०)। दे०—सैन।
[ढौस<(?) मिला०—धूसर—धूसर वर्ण का, गदहा, कबूतर, एक प्रकार की झाड़ी]।

ढौंसा—(सं०) (१) पीले रंग का बड़ा मेंढक। (२) जड़ से कटे हुए धान के पौधे (मुं०-१)।



[ढौंसा (?) < ध्वंस-(?)]।

त

तंगी–(सं०) (१) चावल ढोने या रखने का थैला। दे०—बोरा। (२) मवेशी की पीठ पर रखकर अन्न ढोने का बोरा। दे०—आखा।

[तंगी < तंग (फा०)]।

तउजी—(सं०) (१) जमीन या जमींदारी से संबद्ध हिसाब-किताब का चिट्ठा, जिसे एक निश्चित तारीख तक कलक्टरी में जमा करना पड़ता है। (२) वर्ष में एक दिन (प्रायः दशहरा के समय) जमींदारों की ओर से किसानों से लिया जानेवाला उपायन या नजराना। यह रीति पहले थी, जबकि जमींदारी-प्रथा चालू थी। (३) अनाज की लेन-देन करनेवाले महाजनों द्वारा नियत कोई विशेष दिन, जिसमें वे असामियों को अनाज कर्ज देते हैं (चंपा०-१)। (४) गाँव का नंबर, जो कलक्टरी के कागजों में दर्ज रहता है।

[तउजी < तौर्जीकः (अ०), तौजी (हिं०); तौजि (ने०)]।

तउजी नंबर–(सं०) खसरा, खतियान के अतिरिक्त जमींदारी-संबंधी गाँव के हिसाब-किताब का नंबर।

तउल—(सं०) (१) वह बैल, जिसके दूध के दाँत टूटकर उनकी जगह पूरे दाँत आ गये हों (चंपा०-१)। (२) तौल, नाप।

[तउल < तौल < तौलल (बिहा०), तौलना (हिं०) < तुला]।

तकरार—(सं०) झगड़ा, मार-पीट आदि (सा०-१)।

तकरार होअल (मु०) लड़ाई होना, वाद-विवाद होना।

तकाजा—(सं०) कर्ज या मालगुजारी आदि वसूलने का कार्य (सा०-१)।

[तकाजा < तकाजः (अ०)]।

तख्ता—(सं०) (१) गाँव में बिखरा हुआ खेतों का प्रत्येक टुकड़ा, जिसका मालिक जमींदार होता है। पर्या०—किता। (२) किसी हिस्सेदार के अधीन गया हुआ जमींदारी के गाँव का एक विभाग। दे०—पट्टी। (३) लकड़ी का चौरस लंबा पटरा।

तगड़ि–(सं०) एक प्रकार का फूल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[तगाड़ि < तगर- (?)]।

तगवा—(सं०) लौके का एक लंबा भेद (चंपा०-१)।

[देशी]।

तगही–(सं०) पशुओं के बाँधने की रस्सी (सा०, गया)। दे०—पगहा।

[देशी; या तगही < तग + ही (प्र०) तागा < तग्गा (प्रा०)-?]।

तगाड़–(सं०) तंबाकू के बनाने में प्रयुक्त छोआ (गया)। दे०—छोआ।

तगाड़ी–(सं०) (१) कुआँ खोदने के समय भीतर से मिट्टी को बाहर निकालने का पात्र (द० पू० मै०)। दे०—चलना। (२) कठौता।

[तगाड़ी < तगाड़ + ई (प्र०)। तगार (फा०) = वह स्थान, जहाँ मकान बनाने के लिए चूना, सुरखी आदि का गारा बनाया जाता है]।

तगावी—(सं०) कर्ज के रूप में दी जानेवाली द्रव्य-राशि, जो मवेशी खरीदने, कुआँ खोदने आदि कामों के लिए दी जाती है। सरकार की ओर से यह कर्ज बाढ़, अकाल, भूकंप, सूखा आदि से उत्पन्न विपत्तियों के समय किसानों को दिया जाता है, जिसको एक निश्चित अवधि तक लौटा देना पड़ता है। (२) अग्रिम दी जानेवाली द्रव्य-राशि। दे०—करजा।

[तगावी < तक़ावी (फा०)]।

तग्गड़—(सं०) एक प्रकार का फूल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[तग्गड़ < तगर-]।

तजपत्ता—(सं०) दालचीनी के समान एक पेड़ की पत्तियाँ, जो मसाला के तौर पर प्रयुक्त होती हैं। यह पेड़, लंका, दार्जिलिंग, काँगड़ा आदि की पहाड़ियों पर बहुतायत से होता है। (चंपा०-१)।

[तजपत्ती < त्वक्पत्र-?]।

तड़क—(सं०) सूख जाने के बाद फटी हुई जमीन, जिसमें हल नहीं चल सकता (चंपा०)। पर्या०—तरख, तड़ख।

[तड़क < ताडक- = आघात (धक्का देना, फटना, मारना)। मिला०—तल्कव (फा०) = कड़ुआ, कड़ु; तल्क- (संस्कृ०)=वन]।

तड़कल—(क्रि०) (१) पानी के अभाव में जमीन का फट जाना (सा०-१)। पर्या०—फाटल। (२) मेघ का गरजना। (३) किसी मादा पशु का दुहते समय स्थिर न रहना, दुहने के समय बाधा उपस्थित करना।

[तड़क + ल (प्र०) < तड़क < तड़ (अनु०), मिला०—√तड् (आघाते); √ त्वर् (संचलने—त्वरते, त्वरयति)।

तड़का—(सं०) (१) मूल्य के बिना ही उपभोग के लिए संबंधियों से मिली हुई भूमि (मग०)। (२) मृत व्यक्ति के संबंधी को मिलनेवाली उसकी संपत्ति।

[तड़का < तर्क़ः (अ०)]।



तड़कुल–(सं०) ताड़ का पेड़ । ताड़ (सा०-१) । पर्या०—ताड़ ।

[तड़+कुल<ताड़ < ताल- ; कुल <कुल- (१)] ।

तड़वन्ना–(सं०) ताड़ों का जंगल या वह स्थान, जहाँ ताड़ बहुतायत से हों (मुं०-१) ।

[तड़+वन्ना<ताड़+वन< तालवन-या तालवन्या ; तालवनि—रघु०] ।

ततुरियाएल–(सं०) वह फसल, जो किसी कारण से बढ़ न सकी हो (शाहा०, पू० मै०) । दे०—बैठल हासिल ।

[ततुरिय+आएल (ना० धा० प्र०) < ततुरि-?] ।

तनाजा–(सं०) वह जमीन, जिसपर झगड़ा उठ खड़ा हुआ हो (पट०-१) ।

तपनाह–(सं०) कमजोर मिट्टी (उ० पू० मै०) । दे०—हलुक ।

[देशी] ।

तफसील–(सं०) (१) जमीन जोतने की लगान (सा०-१) । (२) ब्यौरा, विवरण ।

[तफ़सील (अ०)] ।

तबजारी–(सं०) दुकानदारों पर जमींदारों की ओर से लगाया गया कर (द० पू०) । दे०—तहबजारी ।

[त + बजारी < तहबजारी (फ़ा०) ; तहबाजारी (हिं०)] ।

तबरंगबन–(सं०) वह बैल, जिसका पिछला धड़ कमजोर हो (पट०-१) ।

तबलक–(सं०) जमींदारों और किसानों के बीच चलनेवाला एक प्रकार का कच्चा हिसाब, जो एक चिट पर लिखकर दूसरी बहियों के साथ रख लिया जाता है । पर्या०—कैदक ।

[तब + लक (देशी प्र०) < तब < तबलक- (?) तब्लक (अ०)=कागज का बंडल या ढक्कन । मिला०—तबलक (मरा०)—(म० व्यु०)] ।

तमनी–(सं०) (१) कोड़नी, कोड़ने की प्रक्रिया (चंपा०, मै०) । दे०—कोड़ब, कोड़नी । (२) जुताई के पहले खेत की सफाई के लिए घास आदि को कोड़कर निकाल देना । दे०—टोकब । पर्या०—तामनि (दर०-१, पूर्णि०-१) ।

[देशी ; मिला०—टमना, टमनी, टमनाकुडि, टमनीकुडि (संता०) = कुदाल की तरह का हलकी खुदाई करने का औजार] ।

तमस्सुक–(सं०) वह कागज, जिसे ऋण लेनेवाला ऋण के प्रमाण रूप में लिखकर महाजन को देता है (पट०-१) ।

तमाकुल–(सं०) तंबाकू । दे०—तमाकू ।

[तमाकु+ल (प्र०) < तमाकु, तमाखु < टुबैको—पुर्त०] ।

तमाकू–(सं०) तंबाकू । पर्या०—तमाकुल ।

टि०—तंबाकू की खेती द० भाग० और द० मुं० को छोड़कर मं० द० में बहुत कम होती है । किंतु मं० उ० में बहुतायत से होती है । तंबाकू के मुख्य तीन भेद होते हैं—(१) देसी या बड़की (उ० पू० मै०) । (२) विलायती (चंपा०, उ० मै०), कलकतिया । (३) चैठुआ, जो माघ में बोया जाता है और जेठ में काटा जाता है ।

तंबाकू के विषय में बहुत-सी कहावतें प्रसिद्ध हैं—

"चून तमाकु सान के बिन माँगे जे दे ।
सुरपुर, नरपुर, नागपुर तीनू बस कर ले ॥"

—जो आदमी चूने में तंबाकू मिलाकर बनाकर माँगे बिना दूसरे को देता है, वह तीनों लोकों—स्वर्ग, मर्त्य और पाताल को जीतता है ।

कभी कोई ग्रामीण अपने किसी मित्र के घर गया । वहाँ उसने मित्र को सवेरे हाथ-मुँह धोये बिना ही हुक्का पीते देखा, तो उसने कहा—

"भोर भये मानुस सब जागे,
हुक्का चीलम बाजन लागे ।"

—सवेरा होते ही मनुष्य जग गये और हुक्का-चीलम गुड़गुड़ाने लगे ।

दूसरे मित्र ने जवाब दिया—

"खैनी खाये न तमाकू पीये,
से नर बताब कैसे जीये ।"

—जो मनुष्य न तो खैनी खाता है और न तंबाकू पीता है ; कहो, वह कैसे जीवित रहेगा ?

संस्कृत के परवर्ती सूक्ति-साहित्य में 'तमाखु' या 'तमालपत्र' शब्द तंबाकू के लिए प्रयुक्त हुआ है । यथा—

"तमाखुपत्रं राजेन्द्र, भज मा ज्ञानदायकम् ।"

—हे राजेन्द्र, अज्ञानदायक (या ज्ञानप्रद) तंबाकू का पत्ता मत खाइए ।

"चतुर्भिर्मुखैरुत्तरं तेन दत्तं
तमालं तमालं तमालं तमालम् ।"

कहीं-कहीं 'तमालं' की जगह 'तमाखुः' भी आता है ।

—चारो मुखों से ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि 'तमाखु, तमाखु, तमाखु, तमाखु ।'

"क्वचिद् हुक्का, क्वचिद् चुक्का क्वचिन्नासाप्रवर्त्तिनी ।
एषा त्रिपथगा गङ्गा पुनाति भुवनत्रयम् ॥"

—कहीं हुक्का, कहीं तैनी, और कहीं नस के रूप में यह त्रिपथगा गंगा-रूपी तंबाकू तीनों भुवनों को पवित्र करती है।

तंबाकू के विषय में प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में कोई-न-कोई सूक्ति है। जैसे गुजराती में—

"कोई ए खाधो, कोई ए पीधो, कोई ए लीधो नास।
तमाकुनी निंद्रा करे तेनो जय सत्यानास।"

—कोई तंबाकू खाता है, कोई पीता है और कोई नस लेता है। तंबाकू की निंदा मत करो। ऐसा करने से तुम्हारा सत्यानास होगा।"

[तमाकू < तंबाकू। तमाकू, तमाखू, तंबाकू (हिं०), तमाखु (ने०); तंबाकु (मरा०); तमाकु (गु०); तमाक (बं०); तमाखुर, थमखुर (संता०); डुबैको (पुर्त०, अं०)]।

तमोनी—(सं०) मकई के खेत में की जानेवाली कोड़नी (मुं०-१)।
[देशी—(?)]।

तरक—(सं०) फसल बोने या रोपने का उपयुक्त समय (मुं०-१)।
[तरक, दे०—तरसा। मिला०—तलक- (संस्कृ०) मिट्टी का बरतन, नमक, तालाब—(मो० वि० डि०)]।

तरकही—(सं०) लंबी आकृति का मिट्टी का बड़ा बरतन, जिसमें ताड़ी रखी जाती है। दे०—हथौना।
[तर+कही < ताड़+कही ; < कहिया (सं० उ०) = दूध दुहने का मिट्टी का बरतन। मिला०—कुतू (संस्कृ०)=तेल रखने का पात्र]।

तरकुल—(सं०) ताड़ (चंपा०-१)।

तरकोका—(सं०) लाल कमल का मुकुल, जिसका उपयोग औषध में होता है (पट०)।
[तर+कोका ; तर < तल, कोका < कोकनद- (?)=लाल कमल]।

तरख—(सं०) थोड़ी कड़ी जमीन (चंपा०-१)।

तरखा—(सं०) छिछली, ऊँची और कृषि के योग्य भूमि, जहाँ सुविधा से पानी नहीं चढ़ता है (भाग०, मुं०-१)।
[तर+खा < तट+क, तट्टक (?)=तट पर की वस्तु, ऊँची वस्तु। मिला०—तल्ख (फा०) = कड़ुआ, कटु। तल्क-(संस्कृ०)=वन, जंगल]।

तरखुजर—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिससे उनकी चमड़ी फट जाती है और पानी चलने लगता है (पट०-१)।

तरछल—(क्रि०) जमीन का हाल सूख जाना (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[तरछ+ल (प्र०) < तरछ-(?) या < तरङ्ग-(?)]।

तरछा—(सं०) एक प्रकार का बोरा या थैला, जो लदनिया घोड़ा या बैल की पीठ पर रखा जाता है। (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[तरछा < तलच्छद- (?)। मिला०—तलसारक-, तलसारण-, तलसारिका (संस्कृ०)=तोबड़ा ; घोड़े आदि की छाती से पीठ तक बाँधने की रस्सी या फीता। मिला०—तलाची (संस्कृ०-)=चटाई-(मो० वि० डि०)]।

तरछी—(सं०) (१) कुआँ खोदने के समय भीतर से मिट्टी निकालने का पात्र (चंपा०)। दे०—चलना। (२) अन्न साफ करने तथा छानने की एक प्रकार की छलनी (चंपा०)।
[तर+छी < तल+सारिका-?]।

तरजुआ—(सं०) किसी चीज को तौलने का वह उपकरण, जिसमें एक डंडी के दोनों सिरों पर दो पलड़े रस्सी से लटकते रहते हैं (द० भाग०)। दे०—तराजू।
[तरजु+आ < तराजू (फा०) ; तराजू (हिं०), तुलो, तराजु (ने०) ; तराजू (मरा०) ; तराजवुं, काजवुं (गु०) ; तुला (संस्कृ०) ; तुला (पा०, प्रा०) ; तुल (कश्मी०) ; तुल, तुलि (कुमा०) ; तुल (कों०) ; तुल (बं०, असं०) ; तुरो (सिं०)]।

तरजुई—(सं०) दे०—तरजुआ, तराजू।

तरजू—(सं०) किसी चीज को तौलने का वह उपकरण, जिसमें एक डंडी के दोनों सिरों पर दो पलड़े रस्सी से लटकते रहते हैं (पु० मै०, द० मुं०)। दे०—तराजू।
[तरजू < तराजू (फा०) ; तराजू (हिं०)]।

तरझार—(सं०) फसल के डंठल से अनाज निकालने के लिए की जानेवाली दूसरी दौनी (द० भाग०)। दे०—डंटी दौंवल।
[तर+झार < त < रतल ; झार (हिं०, देशी) या झार < झरल < √ झर्]।

तरवन्ना—(सं०) ताड़ के पेड़ों से भरी हुई जगह (पट०-१)।

तरबुजा—(सं०) दे०—तरबूज।

तरबुज्जा—(सं०) (पट०-१)। दे०—तरबूज।

तरबूज—(सं०) दीयर या बलुआही जमीन पर होनेवाला एक प्रसिद्ध फल, जो ठंडे, मीठे पानी से भरा रहता है और जिसका गूदा लाल या उजला रहता है। पर्या०—तरबूजा, तार्भुज (उ० प० मै०), पनिहौआ (चंपा०) ; हिनुआना (प०, प० शाहा०)।
[तरबूज < तरबुज (फा०), मतीरा (राज०)]।

तरमीस—(सं०) दियारे आदि में बाढ़ के समय जल-प्रवाह द्वारा भीतर-ही-भीतर जमीन का इस तरह कटाव होना, जो मालूम न हो सके (मुं०-१)।

तरमीस लगल—(क्रि०) पानी के भीतर घुसकर किनारे की जमीन का काटना।

[तरमीस तर + मीस, < तर < तल ; मीस <√ मिष् (छिड़कना, भिगोना)-? वा मीस<मीसन (=मसलना) < मृष्ट <√ मृज् ?]।

तरवाँसि—(सं०) वह भैंस, जो हमेशा भूमि पर अपना तलवा रगड़ती रहे (पट०-१)।

तरसइल, तरसैला—(सं०) जुआ के नीचे का पल्ला या फलक। पर्या०—सैला (शाहा०)।

[तर+सइल ; तर < तल-, सइल < हकल (= खंड, भाग) < शकल < सकल (प्रा०) वा सइल शल्य, कील—(?)]।

तरसिवाई—(सं०) नदी का ढालुआ किनारा। पर्या०—तरी (द० मुं०)।

तरसैला, तरसइल—(सं०) जुआ के नीचे का पल्ला या फलक। दे०—तरसइल।

[तर + सैला < तल+शकल वा तल + शल्य वा तर+कील-?]।

तरसोआ—(सं०) कुएँ के अंदर सतह पर निकला हुआ बगल का जलस्रोत (उ० प०, मै० चंपा०-१)।

[तर+सोआ < तर+सोअअ < तल+स्रोतस्-]।

तरहा—(सं०) काटी हुई भूमि और कुएँ की गहराई की नाप के लिए प्रयुक्त एक हाथ का परिमाण (उ० प०)। पर्या०—खनित (द० प०), खंता (द० प० शाहा०, द० पू० मै०), तर्रा (गया), गिलंदाजी (द० पू०)।

[तर+हा (प्र०) < तल]।

तराई—(सं०) (१) पहाड़ के नीचे की भूमि (चंपा०)। (२) खजूर के पत्तों की चटाई (चंपा०-१)।

[तराई < तरी, तल- ; तराई (हि०) ; तराइ (ने०) ; तराई (पं०)]।

तराजु—(सं०) (१) बाँस की बनी हुई उथली गोल टोकरी, जो तौलने के काम आती है। (२) एक डंडी से दो रस्सियों में लटकते हुए दो पल्ले, जिनसे तौला जाता है। पर्या०—तरजुई।

तराजुई—(सं०) (१) बाँस की बनी हुई गोल और कुछ उथली टोकरी, जो तौलने के काम आती है। (२) तराजू। दे०—तराजु।

तराजू—(सं०) तौलने का वह साधन-विशेष, जिसमें डंडे के दोनों छोरों पर रस्सी में दो पलड़े लटकते रहते हैं। पर्या०—तरजुआ, तरजुई, तराजु।

[तराजू (फा०)। दे०—तरजुआ]।

तराय—(सं०) ताड़ के पत्ते की चटाई (पू०)।

[तराय < ताड़-, < ताल ; मिला०—तलाची—(संस्कृ०) (=चटाई) < तल+आची <√ अच्]।

तरासल—(क्रि०) किसी वस्तु को तेज हथियार से ऊपर-ऊपर छीलना (मुं०-१)।

[तरास+ल (प्र०) < तराश (फा०)]।

तरी—(सं०) (१) नदी का ढालुआ किनारा (द० मुं०)। दे०—तरसिवाइ।

[तरी < तटी—?]।

तरी—(सं०) (२) किसी पोखरे की तलहटी या जमीन। पर्या०—कौंच (शाहा०) ; कानो किच्छड़ (प०, पट०, गया)। (३) किसी नदी के हट जाने पर निकली हुई जमीन। पर्या०—भागर (शाहा०), छिछलहिया (द० प० शाहा०)। (४) अन्नों के मिश्रण में निम्न कोटि का अन्न। जैसे—'जौकेराई' में केराव निम्न कोटि के होने के कारण तरी कहलाता है। (५) अन्न तौलने के बाद जमीन पर बिखरा हुआ अतिरिक्त अन्न (चंपा०-१)। (६) फसल के बोझों के रखे रहने पर खलिहान में झरकर पड़ा हुआ अनाज (शा०, गं० द०)। दे०—अगवार। (७) मकान आदि की खोदी गई नींव।

[तरी < तर+ई (प्र०) < तर < तल- ; तरी (हि०)=नींव, नीचे की वस्तु ; तरि (ने०) = दलदल भूमि, नीची भूमि, जहाँ घास बहुतायत से उगती है]।

तरेरा—(सं०) मटर, चना, जौ और गेहूँ अथवा किन्हीं दो या तीन अन्नों का मिश्रण (द० प० शाहा०)। पर्या०—गजरमसर (शाहा०), मजावजा (सं० द०), उटरा (पट०), पैरा (उ० प०), पैर (प० मै०), पीर (पू० मै०), बेकरा (पू० मै०)।

[तरेरा (देशी)]।

तरैल—(सं०) हल की मूठ के नीचे हरीस के शुरू में दिया हुआ पच्चड़ (द० भाग०)। दे०—समधरिया।

[तर+ऐल < तल+कील ; तरेलि (ने०)=पंक्ति]।

तरोई—(सं०) प्रायः बरसात में होनेवाला एक लंबा गोल फल, जिसकी तरकारी बनती है। पर्या०—नेनुआ, घिउरा, घेवड़ा।

तरौटा—(सं०) चक्की का नीचेवाला पत्थर। पर्या०—तलौटा (ग० द०)।

[तर + औटा (प्र०) < तर < तल ; औटा < (प्र०) वा < अवट-(?)]।

तरौना—(सं०) झाऊ की बनी हुई टोकरी (गया)।
[देशी]।

तर्रा—(सं०) कटी हुई भूमि और कुएँ की गहराई की नाप के लिए प्रयुक्त एक हाथ का लंबा परिमाण (गया)। दे०—तरटा।
[तर्रा < तल—(?)]।

तलाई—(सं०) छोटा जलाशय या पोखरा।
[तला+ई (अल्पा० प्र०) < ताल, तडाक]।

तलाब—(सं०) खोदकर और चारों ओर से बाँधकर बनाया गया लंबा, चौड़ा और गहरा जलाशय। दे०—पोखर। ताल=(उ० पू० मैं०) = बड़ा तालाब। यह अर्थ निम्नलिखित लोकोक्ति से स्पष्ट होता है—

"ताल त भोपाल ताल और सभ तलैया।
राजा त सिवसिंघ और सभ रजैया॥"

—भोपाल गाँव का ताल, वस्तुतः बड़ा तालाब है और सभी तो तलैया—छोटे तालाब हैं। राजा तो, वस्तुतः शिवसिंह हैं और सभी राजे तो रजैया—छोटे राजे हैं।

[तलाब < तल + आब < ताल (हिं०) + आब (फा०); तडाक (संस्कृ०); तलाक (प्रा०); तलाब, तालाब (हिं०); तलाउ (नें०); तलाउ (कुमा०); तलाउ (सिं०); तलाव (गु०); तलाव (मरा०); तला (सिंह०)। तटाक (संस्कृ०) (संभ०) <तट (= किनारा) के प्रभाव से व्युत्पन्न है। तट, तड (प्रा०, पा०); तड़ (बं०); तड़ (ओ०); तर (हिं०); तड़ (सिं०); तड (मरा०), जिससे यह पृथक् हो गया है। संभव है—तल- (संस्कृ०), तलक (संस्कृ०)=जलाशय (<तल-१) संबंध हो। तळे (मरा०); तल्ल (संस्कृ०)—(नेपा०)]।

तलाय—(सं०) तालाब (पट०-२)।
[तला + य (प्र०) < तडाग, तडाक (संस्कृ०); ताल (हिं०)]।

तलौटा—(सं०) चक्की का नीचेवाला पत्थर (मं० द०) दे०—तरौटा।
[तल+औटा < तल-; औटा (प्र०) या <अवट]

तवाई—(सं०) धूप और गरमी का बढ़ जाना (चंपा०-१)।
[तवा + ई (प्र०) < तवा < ताप <√ तप् (सन्तापे)]।

तसील—(सं०) मालगुजारी की तहसील।

तसीलदार—(सं०) जमींदार के कारोबार की देखरेख, मालगुजारी वसूलने की व्यवस्था तथा जमीन की बंदोबस्ती करनेवाला अधिकारी (पट०-१)।
[तसील+दार (प्र०) तसील < तहसील (फा०)]।

तहबजारी—(सं०) जमींदार की ओर से दुकानदारों पर लगाया गया कर (द० पू०)। पर्या०—तबजारी (द० पू०)।
[तह+बजारी < तह+बाजार+ई (प्र०)-(फा०)]।

तबील—(सं०) किसी मद का रुपया।

तहबीलदार—(सं०) (१) जमींदारी कारोबार का खजांची (पट०-१)। (२) नकद रुपयों का हिसाब-किताब रखनेवाला।

तहरीर—(सं०) (१) लगान के अतिरिक्त जमींदार के कर्मचारियों द्वारा लिया जानेवाला इनाम (पट०-१)। (२) लिखित प्रमाण।
[तहरीर (फा०)]।

तहसील—(सं०) (१) मालगुजारी की वसूली (सा०-१)। (२) वसूलने की क्रिया।
[तहसील (फा०); तहसील (हिं०); तहसील (नें०)]।

तहसीलदार—(सं०) सरकारी मालगुजारी वसूल कर राजकोष में जमा करनेवाला अधिकारी। दे०—लमरदार।
[तहसील + दार (फा०); तहसीलदार (हिं०); तहसीलदार (नें०)]।

तहसीलदारी—(सं०) तहसीलदार का काम।

तांबूल—(सं०) पान (दर०-१)।
[< ताम्बूल-]।

ताका—(सं०) वह मवेशी, जिसकी आँखें दो तरह की हों। —(घाघ)।

"ताका भैंसा गादर बैल, नारि कुलच्छनि
बालक छैल।
इनसे बचि चातुर जावे, राज छाड़ि के
साधै जोग॥"

ताखी—(सं०) वह बैल, जिसकी एक आँख भूरे रंग की होती है (पट०-१)।

ताड़—(सं०) बिना शाखाओं का एक प्रसिद्ध पेड़, जो ऊपर की ओर सीधा खड़ा रहता है और जिसमें केवल सिरे पर पत्ते रहते हैं। आजकल ताड़ के रस का गुड़ बनने लगा है। यह रस या ताड़ी ऊपर बथरी या पत्तों के मूल में से निकलती है। यह नीरा और ताड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। गरमी में इसमें बड़े फल लगते हैं, जिनके अंदर कोओं का तीन कोश रहता है। यह कच्चा खाया जाता है और यही फल बरसात में पक जाता है, जिसका रस गाढ़ा और मीठा होता है। दे०—तार।
[ताड़ < ताड-, ताल-]।

ताड़ल—(क्रि०) (१) किसी चीज की तौल की जाँच करना। पर्या०—साधल। (२) किसी गुप्त बात को अनुमान से ठीक-ठीक समझना।
[ताड़+ल (प्र०) < ताड़ < तार < √ तृ-(१)]।

ताड़ी—(सं०) (१) ताड़ का रस। (२) ताड़ का वह रस, जो बासी होने पर मदकारक बन जाता है। दे०—तारी।
[ताड़+ई (प्र०) < ताड़, ताल-]।

ताड़ी उतारल—(क्रि०) ताड़वृक्ष के सिरे से ताड़ी नीचे लाना (पट०-१)।

ताधी—(सं०) गाँव के बाहर की जमीन (चंपा०)। दे०—बहरसी।
[देशी]।

तान—(सं०) नील की सफाई के लिए प्रयुक्त एक उपकरण, जो उसके हौज की दीवार के सहारे अवलंबित रहता है (चंपा०)। दे०—मजुसी।
[देशी]।

तामनि—(सं०)=जुताई से पहले खेत की घास आदि की सफाई के लिए की जानेवाली खुदाई (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—टोकल।

तामल—(क्रि०) (१) कोड़ना, खोदना (चंपा०, मैं०)। दे०—कोड़ल। (२) जुताई के पहले खेत से घास आदि की सफाई के लिए खोदना। **तोनी**—(सं०)= कोड़नी, कोड़ने की प्रक्रिया।
[ताम+ल (प्र०) < ताम < स्तम्ब=गुच्छा, घास। मिला०—स्तम्बघ्न- = घास या फसल काटने की हँसिया]।

तामिया—(सं०) उबाले हुए ऊख के रस को ठंडा करनेवाला लकड़ी का चम्मच (गं० उ०)। पर्या०—तमिया (सा०, उ० पू० मैं०), डब्बू (सं० द०), भँभरा (द० भाग०)।
[ताम+इया (प्र०) < ताम- (१)]।

तार—(सं०) ताड़। एक प्रसिद्ध पेड़, जिसमें शाखाएँ नहीं होतीं और जो ऊपर की ओर सीधा खड़ा रहता है। उसके सिरे पर पत्ते होते हैं। उसके पत्ते एक लंबे वृंत में चौड़ी आकृति के और ऊपर फटे-फटे-से होते हैं। इसमें गरमी में फल लगते हैं, जिसके अंदर कोओं के तीन कोश होते हैं और पकने पर इसका फल गाढ़ा और मीठा होता है। ताड़ से जो रस चुलाया जाता है, वह ताड़ी या नीरा कहलाता है। यह पीने के काम आता है। इस रस से गुड़, चीनी और मिसरी भी बनती है। इसके पत्तों के पंखे बनते हैं और वृंत के चोप या रेशों से रस्सी बनती है। इसके तने का उपयोग धरन, नाली, ऊखल, मूसल आदि के बनाने में होता है। पर्या०—ताड़।
[तार < ताड़, < ताल-]।

तार—(सं०) चार फीट सूत की लंबाई की एक नाप (पट०-१)।

तारक छब्बा—(सं०) (१) ताड़ का पत्ता। (२) खेत की फसल की रक्षा के निमित्त चिड़ियाँ आदि को डरा-कर भगाने के लिए पेड़ या मचान आदि में लटकाया हुआ ताड़ का पत्ता, जिसे खींचने से झर्झर की आवाज होती है और चिड़ियाँ आदि भाग जाती हैं। दे०—डबडबवा।
[तार+क (विभ०) + छब्बा, तार < ताल-; छब्बा < छदक, छद=पत्र-]।

तार चढ़ल—(क्रि०) ताड़ी उतारने के लिए ताड़ पर चढ़ना।

तार छेवल—(क्रि०) ताड़ी निकालने के लिए ताड़ के सिरे को छीलना (पट०-१)।

तारल—(क्रि०) (१) चिउड़ा आदि कूटने के लिए धान को पानी में रखकर फुलाना और उसे उबालना (चंपा०-१, भाग०-१)। (२) पार करना, उद्धार करना।
[तार+ल (प्र०) < तार- (१)]।

तारी—(सं०) (१) ताड़ का रस, ताड़ी। (२) ताड़ का मदकारक पेय रस। पर्या०—ताड़ी।
[तार+ई (प्र०) ताड़ < ताड़-, ताल-]।

तारु—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिससे उनके मुँह में छाले पड़ जाते हैं और तालू सूज जाता है (पट०-१)।

तार्बुज—(सं०) दियारा या बलुआही जमीन पर होनेवाला एक प्रसिद्ध फल, जिसके अंदर मीठा, ठंडा रस और लाल या उजला गूदा रहता है (उ० पू० मैं०)। दे०—तरबूज।
[तार्बुज < तरबुज- (फा०)]।

तालुका—(सं०) वह भूमि, जो किसी दूसरे गाँव की सीमा के अंदर पड़ती है, पर उसपर अधिकार उससे भिन्न गाँव का होता है (गं० उ०)। दे०—मोतलके।
[फा०]।

तालुका—(सं०) जमींदार की बड़ी जमींदारी या उसकी संपत्ति।
[तालुका (फा०)]।

तालुकादार—(सं०) बड़ी जमींदारी का मालिक।
[तालुक+दार (प्र०)—(फा०)]।

ताव—(सं०) (१) ऊख के रस का उतना परिमाण, जितना एक बार में उबाला जा सके। पर्या०—खेपान (द० पू० मैं०), पाक (पट०), रान या रान्ह (द० मुं०, द० भाग०)। (२) किसी वस्तु को गरम करने के लिए पहुँचाई जानेवाली गरमी, ताप। (३) आवेश, रोष।
[ताव < ताव-, < ताप < √ तप्]।

तावा—(सं०) अधिक वर्षा के बाद तेज गरमी पड़ने पर जमीन में पपड़ी पड़ जाने के कारण पौधे की वृद्धि की रुकावट (गं० द०, द० प० शाहा०)। दे०—सपट आइल।
[ताव+आ < ताप-, तापक-]।

तिआर—(सं०) मछली पकड़ने का एक प्रकार का जाल, जो पचास से सौ हाथ तक लंबा होता है, जिसके ऊपर सिरकी की गुल्ली लगी रहती है और नीचे पकी मिट्टी की गोली (चंपा०-१)।
[देशी, या तिआर < तिवार < त्रि + वार-? < त्रिवृत-?]।

तिअहरिया—(सं०) दिन का तृतीय प्रहर (सा०-१)।
[तिअ+हरिया < तीअ+हर < तृतीय+प्रहर-]।

तितकदुआ—(सं०) एक प्रकार का गोल कद्दू, जो खाने में कड़ुआ होता है (पट०-१)।

तितकनइल—(सं०) एक प्रसिद्ध पीला फूल, कनैल (पट०-१)।

तितली—(सं०) (१) एक पशुखाद्य घास। पर्या०—तेवारी (मैं०), तेवार (पू० मैं०)। (२) तितली।
[देशी, या तितली < तित्तिरि-, < तित्तिलीक-?]।

तितिरिआ—(सं०) एक प्रकार का परवल, जिसपर धारियाँ रहती हैं और जो आकार में बड़ा होता है (पट०-१)।

तितिली—(सं०) (१) गेहूँ में उगनेवाली एक घास। दे०—चौपट्टा। (२) तितली, एक उड़नेवाला सुन्दर छोटा जीव।
[तितिली < तित्तिरि-; < संभ०—अनेक रंग के कारण तीतर के समान होने से ऐसा नाम पड़ा हो]।

तिलोई—(सं०) एक पशुखाद्य घास (गया, द० मुं०)।
[देशी]।

तिनकोनिया—(सं०) (१) खेतों के बीच का वह स्थान, जहाँ तीन सीमाएँ या मेड़ें मिलती हैं। (२) तिकोना (३) तिकोना खेत। (वि०) तीन कोनोंवाला।
[तिन+कोनिया, तिन < त्रीणि, कोनिया < कोणिक-]।

तिनजाँत—(सं०) वह बड़ा कुआँ, जिसमें तीन लाठे चलाये जा सकें (द० भाग०)। दे०—तिनलट्ठी।
[तिन + जाँत; तिन < त्रीणि, जाँत < जाँत जाँता < दन्तक-(?)]।

तिनपतिया—(सं०) तीन पत्तोंवाली एक पशुखाद्य घास (द० प०)। दे०—चकोड़ा।
[तिन + पतिया; तिन < त्रीणि, पतिया < पत्तिअ < पत्रिक- < पत्र+इक (< ठक्- प्र०) या पतिया < पत्तिअ < पत्रित- पत्र+इतच् (प्र०)]।

तिनपेड़िया—(सं०) वह स्थान, जहाँ तीन ओर से रास्ते आकर मिलते हों (चंपा०-१)।
[तिन+पेड़िया, तिन < त्रीणि; पेड़िया < पड़िया < पथा < पद्+था (?)]।

तिनपौआ—(सं०) (१) तीन पाव या बारह छटाँक की तौल। (२) तीन पाव के परिमाण का पात्र या कोई अन्य वस्तु (३) तीन पाव।
[तिन+पौआ; तिन < त्रीणि; पौआ < पादक-। मिला०—पाय्य- (संस्कृ०) = एक प्रकार का प्राचीन परिमाण]।

तिनफसिला—(सं०) वह खेत, जिसमें वर्ष में तीन बार फसल पैदा होती है।
[तिन + फसिला; तिन < त्रीणि; फसिला < फसल (फा०)]।

तिनलट्ठी—(सं०) वह बड़ा कुआँ, जिसमें तीन लाठों से पानी निकाला जा सके। पर्या०—तेलट्ठी, तेजला (द० मं०), तिन जाँत (द० भाग०)।
[तिन + लाट्ठी; तिन < त्रीणि, लट्ठी (देशी), यष्टि- (संस्कृ०)]।

तिनलरा—(सं०) (१) तीन लपेट (गुन) वाली सुतली। इससे प्रायः खाट बीनी जाती है (सा०-१)। (२) तीन लट (गुन) की रस्सी।
[तिन + लरा; तिन < त्रीणि; लरा < लड़ लड़ी (देशी)]।

तिनसेमानी—(सं०) वह स्थान, जहाँ तीन गाँवों की सीमाएँ मिलती हों (पट०-१)।

तिनसेरा—(सं०) तीन सेर की तौल। पर्या०—तीनसेरी।
[तिन+सेरा; तिन < त्रीणि; सेरा < सेरक-]।

तिपदार—(सं०) सरकारी मालगुजारी वसूल करके राजकोष में जमा करनेवाला अधिकारी (उ० पू० मैं०)। दे०—तमरदार।
[तिपदार- (फा०)]।

तिरौंटी—(सं०) नील की तीसरी फसल; जो इसकी दूसरी फसल काट लेने के बाद उसी के शेष में से उगती है (उ०० प०)। दे०—तैंजी।
[तिरौंटा—?]।

तिरिजजिम्मवार—(सं०) वह प्रपत्र या कागज, जिसमें प्रत्येक असामी, खेत का रकबा और प्रत्येक तरह की फसल का हिसाब लिखा रहता है।
[तिरिज+जिम्मवार—(फा०)]।

तिरिज पटेवारी—(सं०) वह बही, जिसमें प्रत्येक पट्टे पर की जमीन का तलमीना, रकबा, रेट और मालगुजारी आदि के विषय में लिखा रहता है।
[तिरिज+पटेवारी (फा०)]।

तिल, तील—(सं०) काला या उजला, चिपटा, तिकोना एक प्रसिद्ध तेलहन, जिससे तेल निकाला जाता है। पर्या०—तिल्ली (द० प० शाहा०)।
[तिल < तिल-। तिल- (संस्कृ०), तिल (पा०, प्रा०); तिल (हिं०, पं०, ने०); तिल (कुमा०); तिल (असं०, बँ०); तिल (ओ०); तिल (सिं०); तल, तिल (सिं०); तील (मरा०); तल (सिंह०)]।

तिलकोड़—(सं०) एक प्रकार का साग (दर०-१, पूर्णि०-१)।

तिलजौ—(सं०) पूजा में व्यवहृत होनेवाला काला तिल और जौ (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[तिल+जौ < तिल+यव-]।

तिलठी—(सं०) सरसों का सूखा डंठल (प०, उ० पू० मैं०)। दे०—संठी।
[तिल+आठी < तिल+अष्ठी-, अस्थि-]।

तिलहा—(सं०) वह बैल, जिसके सभी अंगों में तिल हों (पट०-१)।

तिलाठी—(सं०) सरसों का सूखा डंठल। दे०—संठी।
[तिल+आठी < तिल+अष्ठी, अस्थि-]।

तिलिया कोढ़ी—(सं०) वह हलकी जमीन, जो अपनी उपजाऊ शक्ति खो चुकी होती है (द० मुं०)। दे०—भूस।

तिल्ला—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिसमें उन्हें शोथ, दमा, ज्वर और अरुचि हुआ करती है (पट०-१)।

तिल्ली—(सं०) काला या उजला, चिपटा, तिकोना एक प्रसिद्ध तेलहन, जिससे तेल निकाला जाता है (द० प० शाहा०)। दे०—तिल।
[तिल्ली < तिल-]।

तिसरी—(सं०) जमीन की उपज में से एक तिहाई (१/३) जमींदार और दो तिहाई (२/३) किसान में बाँटने की प्रणाली (चंपा०, सा०)। दे०—तेकुरी।
[तिस + री या ति + सरी < तीसरा, तृतीय (संस्कृ०)]।

तिसरी—(सं०) नगदी या अनाज आदि की मजदूरी के बदले में किसान का तीन दिनों तक हल चलाकर एक दिन के लिए किसान के हल को अपने लिए लेकर काम करनेवाला मजदूर (चंपा०, उ० पू० मैं०)। दे०—अँगवरिया।
[तिसर+ई (प्र०) < तिसर < तीसर, तीसरा, तृतीय-(संस्कृ०); तिसोरि, त्यसोरि (ने०) = ऐसा, इस प्रकार]।

तिसरिया—(सं०) नगद या अनाज आदि की मजदूरी के बदले में किसान का तीन दिनों तक हल चलाकर एक दिन के लिए किसान के हल को अपने लिए लेकर काम करनेवाला मजदूर (चंपा०, उ० पू० मैं०)। दे०—अँगवरिया।
[तिसर+इया (प्र०) < तिसरा < तीसरा]।

तिसिऔढा—(सं०) तीसी (पट०-१)।

तिसी—(सं०) तीसी, अलसी (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—तीसी।

तिसौर—(सं०) बोझे से बड़ी फसल की राशि। यह वस्तुतः बोझों की राशि होती है, जिसमें ३० बोझों का ढेर होता है।
[तिस+और (प्र०) < तीस < त्रिंशत्]।

तिहैया—(सं०) जमीन की उपज में से एक तिहाई (१/३) जमींदार और दो तिहाई (२/३) किसान में बाँटने की प्रणाली (शाहा०, पट०, गया)। दे०—तेकुरी।
[तिहैया < तिहाई < ति+हाई < त्र्याहिक- < त्रि+अहन्+इक]।

तीतल—(वि०) भींगा हुआ (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—भींगल।

तीथा—(सं०) (१) कुएँ के मुँह के आगे का वह गहरा स्थान, जहाँ कूँड से पानी गिराया जाता है (प०)। पर्या०—अड़ास, सीठा। (२) करीन आदि से पानी गिराने का वह गहरा स्थान, जहाँ से पानी बहकर आगे बढ़ता है (प०)। पर्या०—परछा (द० प० शाहा०), मेलवानी (गया)।
[तीथा < तीर्थक-]।

तीन ठेउका—(सं०) करीन आदि से सींचने में पानी की सतह से उसे ऊपर तक चढ़ाने में तीसरा चढ़ाव। दे०—ठेउका।
[तीन + ठेउका; तीन < त्रीणि, ठेउका (देशी) या < स्थायुक = (स्थिर, ऊँचा स्थान) या स्तायुक- (=उभरा हुआ, एकत्र किया हुआ) या स्थपुट- (=कूबड़, उन्नत स्थल)-?]।

तीनमुहानी—(सं०) (१) तीन पैन के मिलने की जगह (पट०-१)। (२) तीन रास्तों का संगम-स्थल।

तीनसेरी—(सं०) तीन सेर की तौल। दे०—तिनसेरा।
[तीन+सेरी; तीन<तीन श्रीणि; सेर<सेटक-]।

तीरा—(सं०) एक प्रकार का बरसाती फूल (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी]।

तील, तिल—(सं०) काले या उजले रंग का चिपटा, तिकोना एक प्रसिद्ध तेलहन। दे०—तिल।
[तील < तिल-]।

तीसी—(सं०) बैंगनी रंग का तिकोना-लंबा एक प्रसिद्ध तेलहन, अलसी। पर्या०—चिकना (पू०), तिसी (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[तीसी < अतसी; अतसी (संस्कृ०); तीसी (संस्कृ०); तीसी (हिं०, पं०); तिसि (ने०); तिसि (असा०); तिसि (असा०); तिसि (बँ०, ओ०); तिसी (मरा०); टर्नर महोदय के अनुसार, इसकी व्युत्पत्ति अतसी (संस्कृ०) से स्पष्ट नहीं हो पाती है]।

तुअल—(क्रि०) चू जाना (चंपा०-१)।
[तुअ+ल (प्र०) <चुअ (?)<चवन <√ च्यु]।

तुड़ल—(क्रि०) (१) किसी वस्तु का टूटना। (२) पेड़ से आम आदि फलों का टूटकर गिरना। (३) कागज आदि का मुड़ना। (४) फल आदि का तोड़ना। पर्या०—तुरल।
[तुड़ + ल (प्र०) < तुड <√ त्रुट् (काटना, टूटना—त्रुट्यति); √ त्रुट्, तोड् (प्रा०—तुट्टइ, टुट्टइ), तुत् (कश्म०); तोड़ा (बँ०); टुट्टणा (पं०); टूटना (हिं० अक०); तोड़ना (हिं० सक०); तोड़णा (पं०); त्रोड़ण (ला०); तोड़णु (सि०); त्रोड़वुँ, तोड़वुँ (गु०); तोड़णे (मरा०)]।

तुड़ावल—(क्रि०) दे०—तुरावल।

तुलरियावल—(क्रि०) पौधे की बाढ़ का रुक जाना (चंपा०-१)।
[तुलरिया + वल, या आवल (प्र०) < तुलरिया (देशी)-?]।

तुनि—(सं०) एक प्रकार का पौधा (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी, मिला०—तुन्न- (संस्कृ०)]।

तुमड़िया—(सं०) कद्दू का एक भेद, जो गोलाकार होता है।
[तुमड़+इया (प्र०) < तुमड़ी < तुम्बुक-]।

तुमड़ी—(सं०) छोटी तुंबी।
[तुम + ड़ी (प्र०) < तुम्बी, तुम्बिका (संस्कृ०), तुंब (प्रा०, प०); तुंबा (देशी); तुंब, लवु (कश्म०); तुम्बि, तुम्बि, तुम्बो (ने०); तुमड़ो (कुमा०); तुंबा, तोंबा (हिं०); तुम्बा (बँ०); तुंबा (पं०); तुंबा, तुम्बा (ला०); तुंबो, तुंबी (सि०); तुंबड़ुं (गु०), तुंबड़ी (गु०); तूँबा, तूँबो (मरा०)। जे० रिजिलस्की के अनुसार यह आस्ट्रो-एशियाटिक शब्द से उधार लिया गया है—(ज० ए०—१९२६)—(नेपा०)]।

तुमड़ी जाल—(सं०) मछली मारने का एक प्रकार का जाल। इसमें दो रस्सियाँ लगी रहती हैं। नीचे की रस्सी में मिट्टी की गुड़िया और ऊपर तुमड़ी बँधी रहती है।
[तुमड़ी+जाल; तुमड़ी < तुम्बुक-]।

तुरल—(क्रि०) दे०—तुड़ल।

तुरावल, तुड़ावल—(क्रि०) (१) किसी मवेशी द्वारा अपने बाँधने के रस्से को तोड़ देना (चंपा०-१)। (२) तुड़ाना।
[तुरा+वल (प्र०) < तुरा < तुड़ <तोड़, तोड़ल, तोरल। तोड़ना (हिं०) < त्रोटन <√ त्रुट्]।

तुलबुलिया—(सं०) एक प्रकार की मकई, जिसके दाने छोटे-छोटे होते हैं (पट०-१)।

तुलबुल्ली—(सं०) हरे रंग की उड़द (उ० पू० मै०)। पर्या०—हरियर (शाहा०), हररा (गया), सबजी (पट०)।
[देशी]।

तुलसी—(सं०) एक प्रसिद्ध पौधा, जिसके पत्तों से तीक्ष्ण गंध निकलती है। हिंदू इसे पवित्र मानते हैं। इससे शालिग्राम ठाकुर की पूजा होती है। यह औषध में भी प्रयुक्त होता है। इसका क्षुप एक-डेढ़ हाथ तक ऊँचा होता है। इसके दो भेद होते हैं—एक श्याम तुलसी, जिसकी पत्तियाँ काली तीखी होती हैं। औषध में अधिकतर इसी का उपयोग होता है। दूसरा है सामान्य, जिसकी पत्तियाँ हरी होती हैं और जो अधिक तीखी नहीं होतीं।
[< तुलसी, तुलसी (संस्कृ०); तुलसी (हिं०); तुलसि (ने०)]।

तुलसी फूल—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का उत्तम धान (द० मुं०)।
[तुलसी+फूल; तुलसी <तुलसी; फूल<फुल्ल-(?) तुलसी फूल के समान सुगंधित होने के कारण ऐसा नाम पड़ा है]।

तुलसीमंजरी—(सं०) एक प्रकार का महीन और सुगंधित धान (मुं०-१)। पर्या०—तुलसीफूल।
[< तुलसी+मंजरी]।

तुलान—(सं०) बैलगाड़ी के पहियों को सन तथा रेंड़ी के तेल के साथ धुरे में बैठाने की प्रक्रिया (मुं०-१)।
[तुल + आन (प्र०) < तुल < तूल (रूई) या < तुला—तुलयति]।

तूंत—(सं०) एक प्रसिद्ध फली, शहतूत। तूत का वृक्ष।

तूंति—(सं०) एक प्रकार की फली, शहतूत (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[तूँति < तूत < शहतूत (फा०); मिला०—तुत्थ (संस्कृ०)]।

तूंनल—(क्रि०) हाथ से रूई साफ करना। दे०—तूनल।
[तूँन+ल (प्र०) < √ तन् (तनोति, तनुते) या √ धू=(धुनोति, धूनयति)]।

तूड़ल—(क्रि०) तोड़ना। दे०—तुड़ल। (वि०) तोड़ा हुआ।
[तूड़ + ल (प्र०) < तूड़ < तोड़, तोड़ना (हिं०) < त्रोटन < √ त्रुट्]।

तूत—(सं०) एक प्रसिद्ध फल का वृक्ष और उसका फल, शहतूत। यह फल लंबा और पतला होता है। यह पकने पर मीठा और कच्चा खट्टा होता है। इस पेड़ की पत्तियों पर रेशम के कीड़े पाले जाते हैं। इसका रेशम बहुत मुलायम होता है, इसे मलवरी कहते हैं।
[तूत (फा०)। मिला०—तुत्थ-(संस्कृ०)]।

तूनल—(क्रि०) रूई को धुनने के पहले हाथ से अलग-अलग करना (शाहा०, चंपा०-१)। पर्या०—तूँनल, तूमल (शाहा०)।
[तून+ल (प्र०) < √ तन् (= फैलाना—तनोति, तनुते) या √ धू (धुनोति, धूनयति)]।

तूना—(सं०) फल आदि का कच्चे ही गिर जाना (पट०-१)।

तूमल—(क्रि०) रूई को हाथ से साफ करना और रेशों को अलग-अलग करना (शाहा०)। दे०—तूनल।
[तूम+ल (प्र०) < तूम < √ तन्-(?)]।

तूर—(सं०) चरखी से साफ करने के बाद की कपास। दे०—रूई।
[तूर < तूल-]।

तेंजी—(सं०) नील आदि की तीसरी फसल, जो इसकी दूसरी फसल काट लेने पर उसी के शेष में से उगती है। पर्या०—तेतरी, तिरौंटी (उ० प०)।
[तें+जी; तें < त्रितय, तृतीय, जी<जीव-(?)]।

तेंतर—(सं०) (१) एक साथ उगा हुआ वृक्ष, जिसमें पाकड़, पीपल और बरगद तीनों एक साथ हों। (२) वह चौथी संतान, जो तीन बेटों के बाद चौथी लड़की हो या तीन बेटियों के बाद चौथा बेटा हो। एक लोकोक्ति—'तेंतर बेटी राज दिलावे, तेंतर बेटा भीख मँगावे' (द० भाग०)।
[तें+तर < त्रि+अन्तर, या < त्रितल- (?)]।

तेकुना—(सं०) एक सेर से बीस सेर तक का भारी उजला शकरकंद। दे०—देशी।
[देशी, मिला०—त्रिगुण-?]।

तेकुरा—(सं०) जमीन की उपज में से एक तिहाई ($\frac{1}{3}$) जमींदार और दो तिहाई ($\frac{2}{3}$) किसान में बाँटने की प्रणाली (द० प० शाहा०)। दे०—तेकुरी।
[ते + कुरा < तीन+कुड़ी < त्रि+कूट (=कुड़ी, एक राशि)]।

तेकुरी—(सं०) जमीन की उपज में से एक तिहाई ($\frac{1}{3}$) जमींदार और दो तिहाई ($\frac{2}{3}$) किसान में बाँटने की प्रणाली (शाहा०, पट०, गया)। पर्या०—तिहैया (शाहा०, पट०, गया), तेकुरा (द० प० शाहा०), तेखुरी (द० भाग०), तेकुली (चंपा०), तिसरी (चंपा०, सा०), तेसरी (द० मुं०)।

तेकुली—(सं०) (चंपा०)। दे०—तेकुरी।
[ते+कुली < ते+कुरी < त्रिकूट-?]।

तेखरा—(सं०) (१) जमीन की तीसरी जोत, तीसरी चास। (२) वह जमीन, जिसमें तीसरी चास की जाती है या की गई है (चंपा०)। दे०—तेखार। (३) तीन चास। किसी खेत को दो बार आड़ी और एक बार पड़ी जोतना (चंपा०-१)।
[ते+खरा < त्रिष्कार- < त्रि+स् (सुच्) + कार < √ कृ+घञ् (=अ)]।

तेखार—(सं०) (१) जमीन की तीसरी जोत, तीसरी चास। (२) वह जमीन, जिसमें तीसरी चास की जाती है। पर्या०—तेखरा (चंपा०), तेहरावन (प०), दोखार (द० पू०), तेखारि (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[ते+खार त्रिष्कार-]<।

तेखारल—(क्रि०) किसी खेत को दो बार आड़ी और एक बार पड़ी जोतना या हेंगाना (चंपा०-१)।
[ते + खार + ल (प्र०) < त्रिष्कार < त्रि+स् (सुच्)+ √कृ+अ (=घञ्)]।

तेखारि—(सं०) (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—तेखार।

तेखुरी—(सं०) जमीन की उपज में से एक तिहाई ($\frac{1}{3}$) जमींदार और दो तिहाई ($\frac{2}{3}$) किसान में बाँटने की प्रणाली (द० भाग०)। दे०—तेकुरी।
[ते+खुरी < ते < त्रि, खुरी < कुरी < कुड़ी < कूट-]।

तेगहवा—(सं०) तीन जगह लाठा लगाकर सींचने का कार्य करना (पट०-१)।

तेगान—(सं०) तीन बार का पटावन (पट०-१)।

तेगुनल—(क्रि०) दो रस्सियों को बाँटकर उसे फिर तीसरी लड़ी के साथ बाँटना (चंपा०-१)।
[ते+गुन+ल (प्र०); ते < त्रि-; गुन < गुण-, (त्रिगुणयति)]।

तेघाव—(सं०) करीन आदि से सींचने में पानी की सतह से तीसरा उठान या जल रुकने का स्थान, जहाँ से दूसरे करीन के द्वारा पानी और ऊपर उठाया जाता है। दे०—एघाव। पर्या०—तेघावा (पट०)।
[ते+घाव, ते < त्रि, घाव (देशी)]।

तेघावा—(सं०) करीन आदि से सींचने में पानी की सतह से तीसरा उठान या जल रुकने का स्थान, जहाँ से पुनः दूसरे करीन आदि के द्वारा पानी और ऊपर उठाया जाता है (पट०)। दे०—एघाव, तेघाव।

तेजत्ता—(सं०) वह बड़ा कुआँ, जिसमें तीन लाठे चलाये जाते हैं (द० मुं०)। दे०—तीन लट्ठी।
[ते + जत्ता; ते < त्रि; जत्ता < जाँत < जांता < यन्त्रक-]।

तेजपत्ता—(सं०) तेजपात, मसाले में प्रयुक्त एक प्रसिद्ध पत्ती। दे०—तजपत्ता।
[तेजपत्ता < त्वक्पत्र—(?)]।

तेजपात—(सं०) (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—तेजपत्ता।

तेतरी—(सं०) (१) एक प्रसिद्ध फली, इमली (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) वह लड़की, जो अपने तीन अग्रज भाइयों के बाद जनमी हो (द० भाग०)। पु०—तेतरा।
[तेतरी < तिन्तिडीक-। तेतरी < ते + तर < त्रितय— (?), त्रितरा, तृतीयतरा वा < तुरीयतर- (?)]।

तेतार—(सं०) एक पशुखाद्य घास (द० मैं०)। दे०—तितली।
[देशी, वा < तिन्तिडीक-]।

तेतारी—(सं०) एक पशुखाद्य घास (द० मुं०)। दे०—[देशी]।

तेधरी—(सं०) हल जोतने या गाड़ी चलाने में एक साथ प्रयुक्त तीन बैल, जबकि उनमें से दो बैल काम करते हैं और एक विश्राम करता है (पू० मैं०)।
[ते+धरी < त्रिधुर्य-]।

तेधूरा—(सं०) हल जोतने या गाड़ी चलाने में एक साथ प्रयुक्त तीन बैल, जबकि उनमें से दो बैल काम करते हैं और एक विश्राम करता है। पर्या०—तेधरी (पू० मैं०), तेपता (पट०)।
[ते+धूरा < त्रिधुर्य-]।

तेनु—(सं०) एक प्रकार का फल (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[देशी, मिला०—तिन्दुक-]।

तेपखी—(सं०) वह उड़द, जो कार्त्तिक में फलती-पकती है (सा०, द० प० मैं०)। पर्या०—कतिका (सं० उ०)।
[ते+पखी < त्रिपक्षीय-?]।

तेपता—(सं०) हल जोतने या गाड़ी में एक साथ प्रयुक्त तीन बैल, जबकि उनमें से दो बैल काम करते और एक विश्राम करता है (पट०)। दे०—तेधूरा।
[ते+पता < त्रिपत्त्रक-, पत्त्र=वाहन, घोड़ा, बैल आदि]।

तेलचट—(सं०) (१) रेंड़ की फसल का एक रोग (पट०, पू०)। पर्या०—पटोई (प० मैं०, गया, द० मुं०)। (२) चपड़ा, एक कीड़ा (दर०-१, पूर्णि०-१)। पर्या०—झिंगुर। (३) एक प्रसिद्ध गाढ़ा लाल या चाकलेट रंग का कीड़ा, जो कपड़े, कागज, तेल आदि चाट जाता है। पर्या०—ओसरार (द० भाग०)।
[तेलचट + तेल + चट; तेल < तैल- (?) चट < चाटल (बिहा० क्रि०), चाटना (हि०)]।

तेलट्ठी—(सं०) वह बड़ा कुआँ, जिसमें तीन लाठे चलाये जाते हैं या चलाये जा सकें। दे०—तिनलट्ठी।
[ते+लट्ठी < तीन+लट्ठी; तीन < त्रीणि; लट्ठी < लट्ठा (देशी)]।

तेलरी—(सं०) नील आदि की तीसरी फसल, जो इसकी दूसरी फसल काट लेने के बाद उसकी बची जड़ में से निकलती है। दे०—तेंजी।
[ते+लरी; ते < त्रि-; लरी < लट्ठी (देशी)]।

तेलहन—(सं०) वह अनाज, जिससे तेल निकाला जाता है। दे०—चिकना।
[तेल+हन < तैल+धान्य-, तैल+अन्न-]।

तेलहन तीसी—(सं०) वह अनाज, जिससे तेल निकाला जाता है। दे०—चिकना।
[तेलहन+तीसी < तैल+धान्य+अतसी]।

तेलिया केवाल—(सं०) काली मिट्टी (द० पू० मैं०)।
[तेलिया+केवाल—(देशी)]।

तेसर पटावन—(सं०) ऊख की तीसरी सिंचाई। दे०—आखिरी पटावन।
[तेसर+पटावन-]।

तेसरी—(सं०) जमीन की उपज में से एक तिहाई ($\frac{1}{3}$) जमींदार और दो तिहाई ($\frac{2}{3}$) किसान में बाँटने की प्रणाली (द० मुँ०)। दे०—तेकुरी।

[तेसर + ई (प्र०) < तेसर < ते+सर < त्रि+ सीर- (?), < तीसर-]।

तेसरी पटावन—(सं०) ऊख की तीसरी या अंतिम सिंचाई (द० भाग०)। दे०—आखिरी पटावन।

[तेसरो + पटावन ; तेसरो, तेसर, तीसरा < ते+ सर (प्र०)—(हिं० श० सा०); तेसरो < त्रि + सीर- (=हल)— (?) ; पटावन < पटावल (बिहा० ; क्रि०), पटाना (हिं०)]।

तेहरावन—(सं०) (१) जमीन की तीसरी जोत, तीसरी चास (२) वह जमीन, जिसमें तीसरी चास की जाय (प०)। दे०—तेवार।

[तेहर+आवन (प्र०) < तेहरा < त्रिहत्य-]।

तेहारल—(क्रि०) तीन बार हल से जोतना, जिसमें दो बार अड़ी और एक बार पड़ी जोत की जाती है (चंपा०-१)।

[तेहार+ल (प्र०) <तेहार < तेहर < ते+हरा- (हिं० श० सा०) ; < त्रि+हल्य-]।

तैयार—(सं०) पूर्ण युवा मवेशी। दे०—तौल। (वि०) तैयार वस्तु।

[तैयार (फा०)]।

तोड़ई—(सं०) (पट०)। दे०—गोंमरा।

तोड़न—(सं०) आल नामक रंग का मोटा मूल (पट०, गया)। दे०—आल।

तोड़ल—(क्रि०) (१) वृक्ष से फल आदि तोड़ना। (२) किसी वस्तु को खंड-खंड करना। (३) अलग करना।

[तोड़+ल (प्र०) <√ त्रुट् (=तोड़ना, त्रोटयति) ; —(संस्कृ०) ; तुट्ट, तोड़ (तोड्ड)- (प्रा०) ; त्रुड (करम०) ; तोड़ा (बँ०) ; तोड़ना (हिं०); तोड्नु (ने०) ; तोड़णा (पं०) ; त्रोड़ण (ल०), त्रोड्णु (सिं०) ; तोड़वुँ (गु०) ; तोड़णे (मरा०)]।

तोड़वाहा—(सं०) आम आदि फलों को तोड़कर जीविका चलानेवाला (मुँ०-१)।

[तोड़+वाहा < तोड़ < तोड़ल ; वाहा (प्र०) या <√ वह्]।

तोड़ा—(सं०) हल का वह भाग, जिसमें फाल लगा रहता है (पट०-१)। (२) कमी, कठिनाई।

तोड़ाएल—(क्रि०) (१) फसल के डंठल से अनाज निकालने के लिए दूसरी दौनी करना (उ० पू० मै०)। दे०—डाँटी दौवल। (२) तोड़ाना, पशुओं का रस्सी तुड़ाकर भागना।

[तोड़+आएल (प्र०) < तोड़ < त्रोटन <√त्रुट् (त्रोटयति)]।

तोड़ी—(सं०) तोरी, सरसों (मुँ०-१, पट०-१)।

तोड़ौन—(सं०) मिरचा आदि का पौधे से तोड़ना (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[तोड़+औन (प्र०) <तोड़ल <त्रोटन<√त्रुट्]।

तोरियठ—(सं०) सरसों का सूखा डंठल (शाहा०)। दे०—संठी।

[तोरिय+ठ (प्र०) < तोरि < तोरी, तोरिया (देशी), ठ (प्र०) या < काठी <काष्ठी, <अस्थि-]।

तोरियाठी—(सं०) सरसों का सूखा डंठल (द० प० मै०)। दे०—संठी।

[तोरिया+आठी, ठी (प्र०) < तोरी, तोरिया ; आठी (प्र०) या < अट्ठी, अस्थि-]।

तोरी—(सं०) छोटे दानों की तीखी सरसों (चंपा०)। दे०—चराई। पर्या०—तोड़ी (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[तोरी < त्रुटि- (मैला०) ; < तुरी (हिं० श० सा०) ; तोरी (हिं०) ; तोरि (ने०) ; तोरी (कुमा०) ; तोरिया (पं०)]।

तोलवाही—(सं०) जमींदार द्वारा तेलियों से प्रतिदिन कर के रूप में लिया जानेवाला एक तोला तेल (पट०-१)।

[तोल+वाही ; तोल < तोला ; वाही (प्र०)]।

तोलसीमंजर धान—(सं०) नीले रंग का धान-विशेष, जिससे तुलसी की गंध आती है (पट०-१)। दे०—तुलसीमंजरी।

तौजी—(सं०) (सा०-१)। दे०—तउजी।

तौजी सलामी—(सं०) तौजी के समय दी जानेवाली सलामी या उपहार।

[तौजी+सलामी (फा०)]।

तौल—(सं०) (१) जवान बैल या कोई दूसरा मवेशी, जिसके आठों दाँत पूरे हो गये हों। इसके साथ दूसरे यौगिक शब्द भी हैं—**एकतौल** = वह बैल, जिसे जवान हुए एक वर्ष हो गया। **दूतौल** = वह बैल, जिसे जवान हुए दो वर्ष हुए हों। यह गणना बैलों के आठ दाँत पूरा होने पर आरंभ होती है। अर्थात्, जब वह चार वर्ष या उससे अधिक की आयु का होता है, तब इन शब्दों का प्रयोग होता है। पर्या०—पूर (गया)। (२) नाप तौलना, भार, परिमाण।

[तौल < तोलल (बिहा०) ; तौलना (हिं०), < तुला]।

तौलल—(क्रि०) (१) तौलना, नाप-जोख करना। (२) किसी भारी वस्तु को हाथ से उठाकर उसके भार का अनुमान लगाना। (वि०) तौला हुआ।

तौला—(सं०) (१) बुरी नजर से फसल को बचाने के लिए खेत में रखी गई कालिख लगी हाँड़ी। (उ० प० मै०)। दे०—टोटका। (२) ताड़ी रखने का बड़ा बरतन (द० भाग०)। (३) बड़ी हाँड़ी या तसला।

[तौला (बिहा०) = बड़ी हाँड़ी या तसला]।

तौलाई—(सं०) अनाज तौलनेवाले व्यक्ति का शुल्क, जो प्रायः प्रति मन एक सेर होता है (द० पू०)। दे०—हटवाई।

[तौल+आई (प्र०) < तौल < तुला]।

थ

थंभुआ—(सं०) (१) केले का थंभ या धड़। (२) खंभा, स्तंभ (मुं०-१)।

[थंभ+उआ (प्र०) < स्तम्भ <√ स्तम्भ् (स्तम्भते)]।

थकरी—(सं०) कतरा नामक पौधे की जड़ का बना कंघा। इससे स्त्रियाँ अपने बालों को साफ करती हैं। अब इसका प्रचलन बहुत कम हो गया है। (चंपा०-२)।

[थकर+ई (प्र०)<थकरल (बिहा०)<√स्थग्-?]।

थकल—(सं०) थकना, खिन्न होना। कामकाज करने के पश्चात् श्रांत होना। पर्या०—थाकल।

[थक+ल (प्र०) < थक <√ स्थग्, थक्क (प्रा०) —थक्कर = रुकता है); थकुन (करम०); थकना (हि०); थाक्नु (ने०); थाकणो (कुमा०); थाकिबा (असo) = ठहरना; थाका (बँ०); थाकिबा (ओ०) = थकना; थक्कणा (पं०); थक्कण (ल०); थक्कणु (सिं०); थाकवुँ (गु०); थाकणे (मरा०)। इनकी व्युत्पत्ति < स्था, 'थक्क' आगम के साथ संभव है। √ स्था (धा०—स्थाति, ठाति); थाह, ठाह (प्रा०), थाइँ (गु०)—(नेपा०)]।

थकावल—(क्रि०) थकाना, श्रांत करना।

[थक+आवल (प्र०) < थक < थक्क (प्रा०); थकल क्रि० का प्रे०। दे०—थकल]।

थकुरई—(सं०) हाथ से की जानेवाली घास आदि की सफाई (द० भाग०)। दे०—चिखुरनी।

[थकुर+ई (प्र०) < थकुर < थकर < थकरल (बिहा०) = थकरना, छिलना, बाल झाड़ना; थाकनु (ने०) < स्तुका (संस्कृ०) = केशों की वेणी, घुँघराले केशों का गुच्छा]।

थक्का—(सं०) (१) किसी वस्तु की राशि, ढेर। (२) दही आदि घन-तरल वस्तु का ढेर।

[थक्का < ? दे०—थाका]।

थमनी—(सं०) ढेंकी चलाने के समय अवलंबन के लिए ऊपर लटकती हुई लग्गी या कोई खंभा (द० भाग०)। दे०—अस्थम।

[थमन+ई (प्र०) < थम्हल (बिहा०)<√स्तम्भ्]।

थभुआ—(सं०) टूटी दीवार, छप्पर, शाखा आदि के सहारे के लिए लगाया गया खंभा (द० पू० मै०)। दे०—अस्थम।

[थभ+उआ (प्र०) < थम्ह < स्तम्भ-]।

थम्हुआ—(सं०) टूटी छप्पर, दीवार, शाखा आदि के सहारे के लिए लगाया गया खंभा (द० भाग०)। दे०—अस्थम।

[थम्ह+उआ (प्र०) < थम्ह < स्तम्भ-]।

थर—(सं०) वह स्थल, जहाँ मवेशी को बाँधने का खूँटा हो, और वह बैठता हो (चंपा०-१)।

[थर < थल < स्थल <√ स्था; थलो (ने०)= स्थान। वह स्थान। जहाँ मवेशी बाँधे जाते हैं, खलिहान]।

थरना—(सं०) एक प्रकार की कलम (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी]।

थलकमल—(सं०) एक प्रकार का फूल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[थल+कमल < स्थलकमल-]।

थलियावल—(क्रि०) (१) तंबाकू के बीज बोने के पूर्व उसके लिए एक सीधी रेखा में स्थान बनाना। (२) वृक्षों, पौधों आदि के चारों ओर थल्ला बनाना (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[थल+इय+आवल (प्र०) < स्थल] <√ स्थलय् (स्थलयति)]।

थल्ला—(सं०) पौधों या वृक्षों के चारों ओर घेरकर या ऊँची मेंड़ देकर बनाया गया स्थान, जिससे सींचने की सुविधा होती है।

[थल्ला < स्थल। दे०—थाला]।

थाक—(सं०) अनाज आदि की राशि, ढेर।

[थाक < थाहक-? 'थक्क' आगम के साथ < थाह (देशी)—(नेपा०), थाक् (ने०); थाक (अस०) = खाना (घर); थाक (बँ०); थाक (ओ०) = ताखा; थाक (हि०) = सीमा, स्तंभ; थाक, थाग (गु०) = सीमा; थाक (कुमा०) = सीमा; थहा (पं०) = ढेर; थोहा (सिं०)]।

थाकर—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।

थाकल—(क्रि०) श्रांत होना, थकना। दे०—थकल।

थापी—(सं०) कोल्हू के बेलन में ऊख को लगाने के लिए बनी हुई लकड़ी की हथौड़ी। पर्या०—मिलिट (उ० पू० मैं०)। (२) मिट्टी के कच्चे बरतन को पीटने का कुम्हारों का एक साधन-विशेष, जो लकड़ी का बना होता है।

[थाप + ई (प्र०) < थाप < थापल (बिहा०), थापना (हि०) < √ स्थापि (स्थन्त) < √ स्था]।

थाला—(सं०) (१) किसी पौधे या पेड़ के चारों ओर बनाया गया गड्ढा या घेरा। (२) किसी पेड़-पौधे को दूसरी जगह रोपने के लिए उसे इस अंदाज से मिट्टी-सहित खोदना कि जड़ न कटे और मिट्टी उसके साथ लगी रहे। (चंपा०-१)।

[थाला < स्थला ; स्थला-संस्कृ०) = कृत्रिम भूमि; स्थली = अकृत्रिम भूमि। मिला०—'स्थली अकृत्रिमा चेत् स्थलाऽन्या'—सि० कौ०, श्रीप्र०—'कुण्डगोल स्थल ···।' थला, थल्ला (हि०, थलि) (ने०); थलि (कुमा०) = चौरस भूमि, मैदान ; थलि (असा०) = सूखी भूमि, अन्न-क्षेत्र, थली (पं०) ; थड़ी (मरा०) = पौधों का रोपना]।

थुकहा—(सं०) एक प्रकार की घास (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी, वा<स्तोक-?]।

थुन्ही—(सं०) कुएँ के पास में गाड़ा गया दो नोंकवाला खंभा, जिसपर घिरनी नाचती है (पट०-१, शाहा०)। दे०—थुरी।

[थुन्ह+ई (प्र०) < थुन्ह < स्तम्भ- या स्थूणा]।

थूआ—(सं०) सन या पटुए के डंठल से निकाले हुए रेशों की एक राशि (पू० मैं०)। दे०—लरछा।

[थूआ < स्तुका, स्तुपा (= केशों की वेणी या ग्रंथि]।

थेग—(सं०) (१) सहारे के लिए खड़ा किया गया खंभा आदि। (२) रोकने की ताकत। (३) चलने-फिरने की ताकत (मुं०-१)।

[थेग < थेघ < स्थेघ < √ स्तिघ् (उच्छ्राये = ऊपर उठना, चढ़ना), स्तिघ्नति (स्वाद०); (गोवि०); स्लेगोन; स्तीगन, स्तेंगन (कर्मा०); थेगो (ने०), थेग्नु(ने० क्रि०)=सहारा देना, भार सँभालना, सहना। थेग्नु < थेग्नु। 'अ' आगम के साथ < स्थेयः (संस्कृ०) = स्थिर होने योग्य, थेग्र (प्रा०)—(नेपा०)]।

थेघका—(सं०) करीन आदि से पानी चलाने में कई एक उठान के बीच, पहला उठान या जल रुकने का स्थान, जहाँ से पुनः दूसरे करीन से जल और ऊपर ले जाया जाता है (उ० प०)। पर्या०—पहला गार (उ० पू० मैं०), कानर (उ० पू० मैं०) ; एघाव (द० भाग०)। एघाँव, लजाना (गं० द०), एघावा (पट०)।

[थेघका < स्थायुक, स्थापक-(?)]।

थोक—(सं०) (१) किसी हिस्सेदार के अधीन गया हुआ जमींदारी के गाँव का एक विभाग (ग० उ०)। दे०—पट्टी। (२) किसी वस्तु की एक विशेष राशि या परिमाण।

[थोक < स्तोक-, स्तोमक- या < स्तोवक— (नेपा०)। स्तोक- (संस्कृ०); थोक्क (प्रा०) ; थोक, थोक् (ने०)=वस्तु, घटना, सन्निवेश ; थोक (कुमा०)=जनता का एक भाग ; थोक (असा०)=फलों का गुच्छा, थोक (बँ०) ; थोके (ओ०)=कुछ, थोड़ा ; थोक=(हि०) द्रव्य-राशि, परिमाण; थोक (पं०) = राशि, ढेर ; थोक (ल०) =दल, मस्तु ; थोकु (सि०)=वस्तु ; थोक (गु०)=बंडल, पूला ; थोक (मरा०) = रेशम का परिमाण ; टोक (सिह०)=कुछ, थोड़ा ; थोक (शिना०) = बूँद ; थुंक (दरदी) ; थुकरिएन (प० पहा०)=कुछ]।

थोथा—(सं०) (१) खराब अन्न (सा०-१)। (२) वह व्यक्ति, जिसके एक या एक से अधिक दाँत टूट गये हों। (वि०) खाली।

[थोथा (हि०), थोतो, थोथो (ने०) =पुराना ; थोथा (पं०)=खाली, दंतहीन ; थोथो (सि०) =निरर्थक; थोथु (गु०) = अन्न का खराब अंश ; मिला०—तोदपर्णी = खराब अन्न ; थोर, थोटक-]।

थोथिया—(सं०) वह भैंसा, जिसकी जननेन्द्रिय बहुत बड़ी हो (पट०-१)।

थोप—(सं०) मेआना के सामने के डंडा का घूमा हुआ अंतिम भाग।

[< स्तुप, स्तूप- (?)]।

थौकचल—(क्रि०) किसी वस्तु को किसी भारी पदार्थ से चूर करना (मुं०-१)।

[थौकच+ल (प्र०) < थौकच—(देशी)]।

द

दंगाठ—(सं०) पशुओं के द्वारा पददलित फसल (द० (पू० मैं०)। दे०—दँगाठ।

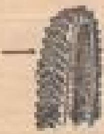
[दँग + काठ ; दंग < दाँग < धांग < धांगल (बिहा०, क्रि०) < √ ध्राघ् ; काठ < काष्ठ या अस्थि]।

दंडोत्पल—(सं०) एक प्रकार का फूल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[दंड+उत्पल-]।

दँतकमरा—(सं०) मकई आदि फसल की अधपकी बाल (द० मुं०)। दे०—दुद्धा।
[दँत+कमरा < दन्तकम- (?)]।

दँतुआ—(सं०) (१) किसी मशीन का वह लहरदार नुकीला भाग, जो एक दूसरे चक्के से मिलकर मशीन को चलाता है। (२) दाँतोंवाला (सा०-१)।



[दँत+उआ (वि० प्र०)<दन्त-? मिला०—दन्तुर-]।

दँतुला—(सं०) दाँतवाली हँसिया। पर्या०—कँचिया, कचिया, कचिया (द० पू० बिहा०)।
[दँत+उला (वि० प्र०) < दन्तुर < दन्त + उर (प्र०) वा < दात्री < √ दो (काटना)]।

दउनी—(सं०) फसल से अन्न निकालने के लिए, बाल-सहित डंठल को खलिहान में रखकर उसपर बैलों को चलाकर अन्न निकालने की प्रक्रिया (चंपा०-१, पट०-१)।



[दउन+ई (प्र०) दमन < √ दम्]।

दउरा, दौरा—(सं०) बाँस की कमचियों का बना हुआ टोकरा (चंपा०-१)।



[देशी, मिला०—दोर+क- (देशी, संस्कृ०)= (रस्सी); दोला]।

दउरी, दौरी—(सं०) बाँस की फट्ठियों की बनी हुई टोकरी (चंपा०-१)।
[दउरा+ई (अल्पा० बोध० < दउरा < दौरा (देशी); मिला०—दोरक (देशी, संस्कृ०) = रस्सी, दोला]।

दउलत खानी धान—(सं०) एक प्रकार का सुगंधित धान। यह बासमती धान की जाति का है और इसकी उपज का परिमाण बासमती से अधिक होता है (पट०-१)।

दखिनहा—(सं०) (१) धान, ज्वार, बाजरा और ऊख में लगनेवाला एक रोग, जो घातक दक्षिणी हवा के कारण पैदा होता है। इससे फसल के पत्तों पर उजले धब्बे हो जाते हैं और ज्वार आदि नष्ट हो जाते हैं। एवं ऊख का उपरला भाग नष्ट हो जाता है (उ० द० पू०)। (२) दखिनी हवा (वि०)। दक्षिण दिशा की वस्तु। पर्या०—सिरोरा (पट०), पीरो (द० भाग०), दखिनाहा (गया० द० प०), नीमा (उ० मै०)।
[दखिन + आहा (प्र०) < दखिन < दक्षिण- < दक्ष+इन]।

दखिनाहा—(सं०) (१) धान, ज्वार और ऊख के पौधों में लगनेवाला एक रोग, जो घातक दक्षिणी हवा के कारण पैदा होता है। इससे पत्तों पर उजला धब्बा लगता है और फसल नष्ट हो जाता है। ऊख का भाग नष्ट होता है (गया, द० प०)। (२) दखिनी हवा (वि०) दक्षिण दिशा की वस्तु। दे०—दखिनहा।
[दखिना+हा (प्र०) < दक्षिण]।

दगदार—(सं०) अनाज की वह बाल, जिसमें पाला या रोग लग गया हो (शाहा०)। दे०—मराएल।
[दग+दार (फा० प्र०) < दाग (फा०)]।

दगियाल—(सं०) वर्षा के कारण मरा चना या दूसरी रबी फसल (द० भाग०) (वि०) दागवाली वस्तु। दूषित, लांछित।
[दग+इयाल (वि० प्र०) < दाग (फा०)]।

दछिनी—(१) एक प्रकार का लाल आलू (गं० उ०)। दे०—आलू। (२) इलायची (मै०), (वि०) दक्षिण दिशा में उत्पन्न होनेवाली वस्तु।
[दछिन+ई (प्र०) < दक्षिण-]।

दछिनी सीम—(सं०) एक प्रकार की सेम, जिसकी छीमी अरहर की भाँति होती है।

दड़िमा—(सं०) गुण के अनुसार आम का एक भेद (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[दड़िम+आ (प्र०) < दाडिम (संस्कृ०)=अनार]।

दड़िमी—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[दड़िम+ई (प्र०) < दाडिम-]।

दतनिपोर—(सं०) वह बैल, जिसके दाँत बराबर बाहर निकले रहते हैं (पट०-१)।

दबलिया—(सं०) बड़े दानोंवाला केराव (द० प० शाहा०)। पर्या०—डबल केराव (शाहा० के० शे० भाग), डाबली (पट०)।
[दबल + इया (प्र०) < दबल (?) < डबल (अं०-?) वा धवल- (संस्कृ०)-?]।

दबौटा—(सं०) नील को कुचलनेवाली लकड़ी की शहतीर (सा०, चंपा०)। नील की खेती न होने के कारण अब इसका उपयोग नहीं होता। पर्या०—सहतीर (मै०, सा०), दाब, धरन (उ० पू० मै०), बीम (द० पू० मै०)।
[दब+औटा (प्र०) < दाबना (क्रि०) < √ दम्]।

दमकट्टी—(सं०) खेत में लगी फसल का मूल्य-निर्धारण करके किया जानेवाला बँटवारा (शाहा०, पट०, गया)। दे०—कनकुत्ती बटाई।
[दम+कट्टी<दम+<दाम<द्रम्म, कट्टी<कातन]।

दमसल—(क्रि०) फल का कुछ-कुछ पकना (चंपा०-१)।
[दमस+ल (क्रि० प्र०) < दमस (?)]।

दमहरिया—(सं०) अरहर या झाऊ के डंडे की बनी छोटी टोकड़ी। दे०—खाँची।



[देशी]।

दमाव—(सं०) खेत में खड़ी फसल का मूल्य-निर्धारण करके किया जानेवाला उपज का बँटवारा (शाहा०, पट० गया०)। दे०—कनकुत्ती बटाई।
[दम+आव (प्र०) < दाम<द्रम्म-]।

दमार—(सं०) दौनी में बैलों को सिलसिले से बाँधने की रस्सी।



[दम + आर दम < दाम <√ दम्]।

दमाहा—(सं०) दौनी में जोता जानेवाला बैल (मुँ०-१)।
[दम+आहा (प्र०) < दाम <√ दम्]।

दमाही—(सं०) (१) फसल को बैल आदि से दबाकर डंठल से अनाज निकालने की प्रक्रिया (द० भाग०)। दे०—दौनी। (२) सूखी फसल को बैलों से रौंदवाकर अनाज निकालने का तरीका (मुँ०-१)। (३) दौनी के समय बैलों को बाँधने की रस्सी (पट०-१)।
[दम+आही (प्र०) < दम <√ दम्]।

दमोय—(सं०) बैलों का एक प्रकार (पाप)।
[< दम्य- (?)]।

दर—(सं०) भूमि के राजस्व का भाव। किसी भूमि का वस्तु के विनिमय के निर्धारण के लिए निश्चित की गई आनुपातिक प्रणाली। पर्या०—सरे, सरल, दरबंदी, सरबंदी।
[फा०]।

दरखोल—(सं०) (१) गौओं के रहने का मकान (द० प० शाहा०)। दे०—गौसार। (२) मवेशियों के मकान का बाहरी हिस्सा, जिससे होकर मवेशी अंदर जाते हैं।
[दर+खोल- दर < द्वार, खोल<खुल्ल (=कुटीर) (देशी), खोली (मरा०)]।

दरगाछ—(सं०) 'गाछ' मालगुजारी की तरह ही उससे कम की मालगुजारी। 'गाछ' मालगुजारी 'बँगाल टेनेंसी ऐक्ट' की तीसरी धारा के अनुसारी अर्थ में प्रयुक्त है, यह स्थायी बंदोबस्तों में व्यवहृत होता है, न कि निर्धारित दर में (पूर्णि०) (गाइड०)। पर्या०—सेगाछ।

दरघी—(सं०) एक अगहनी धान, जिसका चावल उजला होता है (सा०-१)।
[देशी]।

दरपतनी—(सं०) 'पतनी' की तरह भूमि के छोटे-छोटे उपविभाग, जो निश्चित द्रव्य पर ठीके पर दिये जाते हैं।
[दर+पतनी < दर (फा०)+पतनी (?)]।

दरबंदी—(सं०) भूमि का भाव। दे०—दर।
[दर-(फा०+बंदी (विशा०-, हिं०]।

दरमाहा—(सं०) प्रतिमास मिलनेवाली मजदूरी। पर्या०—महिना=महीने में मिलनेवाला एक निश्चित वेतन। महिनवारी=महीने की सामान्य आय।
[दर-(फा०)+मा+हा (प्र०) माह < मास]।

दरमियानी हकदार—(सं०) एक प्रकार का मध्यम अधिकारी (गाइड०)।

दरमी—(सं०) एक प्रकार का धान, जो फाल्गुन-चैत्र में बोया जाता है और अगहन में काटा जाता है। यह पूर्वी तिरहुत और उत्तर-पश्चिम में मिलता है।
[देशी]।

दरमेयानी बंदोबस्त—(सं०) वह बंदोबस्त, जिसे बंदोबस्तदार अपनी वस्तु किसी दूसरे के साथ बंदोबस्त कर देता है (सा०-१)। दे०—कटकैना।
[दरमेयानी +बंदोबस्त < दरमियानी + बंदोबस्त (फा०)]।

दरल—(क्रि०) (१) खेत में फसल का उपजना (मुँ०-१)। (२) दाल आदि का दलना।
[दर+ल (प्र०) < दर <√ दृ (?)]।

दरशिकमी—(सं०) शिकमी जमीन का मालिक किसान (गाइड०)।

दरस—(सं०) एक अगहनी मोटा सफेद धान (सा०-१)।
[देशी; मिला०-दर्श—(संस्कृ०) (?)]।

दरिया का सोता—(सं०) दे०—नदी।

दरेंठ—(सं०) वह खूँटी, जिसमें चक्की का पत्थर डालकर कोदो दला जाता है (चंपा०-१)।
[देशी, वा दर+एँठ < दर=दल+काष्ठ-(?)]।

दरो—(सं०) सेम आदि की लत्तिओं के पत्ते का रस (चंपा०-१)।
[देशी; मिला०—दौर्ब (दूब से निकला रस आदि), < दूर्वा, यथा—दूर्वादल-(=पत्र)]।

दलकी—(सं०) पंकिल या दलदली जमीन अथवा धारा के साथ बहकर जमा हुई मिट्टी (प०, पट०, गया०, द० मुं०)। दे०—भास।
[देशी। मिला०—दलदल]।

दलदल—(सं०) पंकिल या दलदल जमीन अथवा धारा के साथ बहकर जमा हुई मिट्टी (मै०, शा०, पट०)। दे०—भास।
[देशी], दलदल (अनुवा०) < दल √ दल् (दलति)—(?)]।

दलमा—(सं०) एक प्रकार का मझोला आम (चंपा०-१)।

दलिबर भोग—(सं०) बड़ी-बड़ी फलियोंवाला केला (चंपा०-१)।

दवड़—(सं०) ईंट आदि से बाँधने के पहले खोदा गया कुएँ का बड़ा गोल ढाँचा (प० पट०, मै०)। पर्या०—खोंखर (उ०), गोल (द० प० शाहा०), गोलगाल (प्रे० शाहा०); गोलंबर, खभार (गया)।



[देशी। मिला०—दभ्र (समुद्र)-(मो० वि० वि०); दवार (देशी)=सूत, रस्सी]।

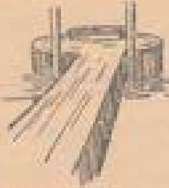
दवन—(सं०) खेत तक जानेवाला जलप्रवाह का मार्ग या नाली (मै०)। दे०—पैन।
[मिला०—धमनी]।

दवन—(सं०) ऊख के खेत में बनी हुई कियारी (चंपा०, उ० प० मै०)। दे०—हातावाला।
[मिला०—धमनी]।

दवन—(सं०) बटावन जाल में लगी पतली रस्सी (शा०-१)।
[मिला०—दवर=(संस्कृ०, देशी)=रस्सी]।

दवनी—(सं०) डोरी की बनी हुई एक प्रकार की मछली पकड़नेवाली बंसी। इसमें करीब हजार बंसियाँ बँधी रहती हैं।
[दवन+ई < दवन (देशी)-(?)]।

दवर—(सं०) मोट खींचनेवाले बैलों के लिए बना हुआ ढाल मार्ग (शाहा०)। दे०—पौदार।



[दवर (देशी) शब्द रस्सी के अर्थ में प्रयुक्त है या दवर < द्वार-(?)]।

दवाँही—(सं०) वह बड़ी रस्सी, जिसमें दौनी के लिए बैल बाँधे जाते हैं (पट०, गया, द० मुं०)। दे०—मेंभा।
[दवाँह + ई (प्र०) दवाँ+ह < दावन < दामन <√ दम]।

दसियानी पैन—(सं०) एक बड़ी पैन, जिससे बहुत बड़े भूखंड की सिंचाई होती है (गाइड०)।

दसेर—(सं०) कुएँ के पास में गाड़ा गया दो नोंकवाला खंभा, जिसपर घिरनी नाचती है (गया०) दे०—घुरटी।
[देशी। दसेर=सूत्र, कनक (पा० स० म०)]।

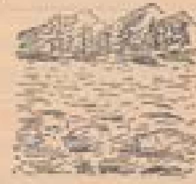
दस्तारक—(सं०) अश्विनी नक्षत्र आरम्भ होने के पहले खेती के तड़क के अनुसार या खेती में सुयोग के रूप में दस नक्षत्र एक-एक दिन क्रमशः आते हैं। जिन्हें दस्तारक कहते हैं। इस दस्तारक में जिस नक्षत्र में पानी की बूँद टपक जाती है, ऐसा किसानों का विश्वास है कि, उस नक्षत्र का पानी मारा जाता है या उस नक्षत्र में अवर्षण हो जाता है (मुं०-१)।
[दस+तारक < दश+तारक-]।

दस्तावेज—(सं०) (१) खरीदी हुई जायदाद की रजिस्ट्री के बाद का सरकारी भूमि-प्रमाणपत्र (शा०-१)। (२) दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच का व्यवहार-पत्र, जिसमें ऋण, खेती आदि की लेन-देन की लिखा-पढ़ी रहती है और दोनों पक्षों के हस्ताक्षर रहते हैं।
[दस्तावेज (फा०)]।

दस्तूर—(सं०) किसी नौकर द्वारा अपने मालिक के लिए कोई सामान लाने पर लिया जानेवाला कमीशन (शा०-१)। दे०—दस्तूरी।
[फा०]।

दस्तूरी—(सं०) किसी नौकर द्वारा अपने मालिक के कोई सामान लाने पर लिया जानेवाला कुछ कमीशन। (२) दस्तूर के मुताबिक मिलनेवाला शुल्क या इनाम (गाइड०)। पर्या०—दस्तूर (शा०-१, अव०)।
[दस्तूर+ई (प्र०) < दस्तूर (फा०)]।

दह—(सं०) बड़ा पोखरा या झील (चंपा०)।



[दह < दह < ह्रद (वर्ण-व्यत्यय के साथ), ह्रद-(संस्कृ०); दह (पा०; प्रा०); दह (हिं०); दह (सि०)]।

दहनार—(वि०) बाढ़ के पानी में डूबा हुआ खेत (मुं०-१)।
[दहना + आर (प्र०) < दहना < दह < ह्रद < ह्रद-]।

दहल—(क्रि०) बाढ़ के कारण किसी फसल का या किसी दूसरी चीज का पानी की धारा में बह जाना (चंपा०-१)।
[दह+ल (धा० प्र०) < दह < दह्र < ह्रद-]।

दहार—(सं०) बाढ़-वर्षा के कारण नदी आदि में हुई जलवृद्धि। पर्या०—बाढ़, बाढ़ि (उ० प० मै०), दाहा (गया), आफत (पट०), बोहा, सार (द० पू०)।
[दहा+आर ; र (प्र०) < दह <दह्र < ह्रद]।

दहार-महार—(सं०) बाढ़ के कारण अन्न की उत्पत्ति में हुई कमी से किसान-जमींदार की आय में होनेवाली क्षति (प०)।
[दहार+महार (अनुवा०)]।

दहिअंक—(सं०) (१) ग्राम के सामूहिक कार्य (पूजा, स्कूल आदि) के लिए संगृहीत चंदा, जो प्रायः मन पर सवा सेर या डेढ़ सेर के हिसाब से लगाया जाता है। (२) जमींदार द्वारा मन में अढ़ाई सेर के हिसाब से लिया जानेवाला अतिरिक्त कर (पट०-१)
[देशी। यह शब्द वस्तुतः 'दहल' क्रि० से निर्मित दीख पड़ता है, जो पहले संभवतः दहार (बाढ़) आदि के कारण विपद्ग्रस्त वर्ग के लिए उगाहे गये चंदे के लिए प्रयुक्त होता होगा। पश्चात् सभी सामूहिक कार्य के लिए प्रयुक्त होने लगा]।

दहिआवल—(क्रि०) किसी भींगी वस्तु में सफेद दाग का लग जाना (चंपा०-१)।
[दहि + आवल, दह + इयावल (ना० धा० प्र०) < दही < दधि]।

दहिना—(सं०) खेत के छोटे टुकड़े, जिनमें हल न लगा हो (उ० प०, द० पू० मै०, चंपा०)। दे०—पैस।
[देशी, मिला०—दक्षिण]।

दहिन धरे आवल—(मुहा०) जोतना (चंपा०, द० पू० मै०)। दे०—जोतल।
[दहिन+धरे+आवल (धी०)]।

दहियक—(सं०) प्रति मन एक सेर की दर से उपज पर लिया जानेवाला अतिरिक्त शुल्क, जो (फसल के बँटवारे के समय रैयत के लिए खलिहान में इस प्रकार की अन्नराशि छोड़ दी जाती है (गाइड०)। दे०—दहिअंक।

दहियकमांगब—(सं०) पटवारी को जमींदार की ओर से मिलनेवाला वेतन (द० मुं०)।
[दहियक+मांगब (धी०)]।

दहिया—(सं०) (१) चीना में लगनेवाला एक रोग (उ०)। (२) नमी या किसी और कारण से होनेवाला पौधों या किसी दूसरी वस्तु का सफेद दाग-जैसा रोग।
[दहि+या, दह+इया (प्र०) < दही < दधि। दही के सादृश्य से श्वेत वर्ण का रोग दहिया कहा जाता है]।

दहियाएल—(सं०) (१) वर्षा के कारण मरा चना (द० मुं०)। दे०—मराइल (२) 'दहिया' रोगवाला पौधा।
[दह+इया+आएल (प्र०) √ दही < दधि-]।

दहिया लागल—(मुहा०) भींगी वस्तुओं पर सफेद दाग का जम जाना (चंपा०-१)। किसी वस्तु को दहिया रोग लगना।
[दहिया+लगना < दह+इया (प्र०) + लाग + ल (प्र०)]।

दहियासार—(सं०) कात्तिक में उपजनेवाला एक प्रकार का धान (मुं०-१)।
[दहिया+सार < दधि+शालि (?)]।

दहिहक्की—(सं०) जमींदार की ओर से पट्टेदार को ऋण-चुकती में दिया गया द्रव्य-परिमाण। पर्या०—छुट्टी (द० पू० मै०), खातिर (पट०, गया०)।
[देशी। मिला०—दक्षिण < दह < दश]।

दांगली—(सं०) लग्गे को गाड़ी से कसनेवाली रस्सी। पर्या०—पौंगड़ी।
[देशी]।

दांतल—(क्रि०) किसी मवेशी के दूध का दाँत टूटकर इसकी जगह काफी पुष्ट और चौड़ा दाँत उगना। (चंपा०-१)। (सं०) वयस्क बैल या दूसरा मवेशी। (वि०) वह मवेशी आदि, जिनके दाँत निकल आये हों।
[दाँत+ल (ना० धा० प्र०) दाँत < दन्त-]।

दहेंड़ी—(सं०) दही जमाने का मिट्टी का बरतन (पट०-१)।

दाँती—(सं०) किसी नदी या पोखर का किनारा।
[देशी। मिला०—दाँत < दन्त-]।

दाँमर—(सं) वह एक बड़ी रस्सी, जिसमें दौनी करने के लिए बैल बाँधे जाते हैं (द० भाग०)। दे०—मंझा।
दाँम+र (वि० प्र०) <दामन्]।

दाँय—(सं०) फसल की दौनी (मुं०-१)।
[दाँव-दाम < √ दन]।

दाउदी, दौदी—(सं०) शूक-रहित उत्तम श्वेत गेहूँ (प० बिहा०) पर्या०—दौदिया (द० प०, गया०), जमालखानी (मै०)।

टि०—कहते हैं कि दिल्ली के बादशाह, शाह आलम के एक दरबारी, जिनका नाम दाऊद खाँ था, इस गेहूँ को मिस्र देश से लाया था (हिं० श० सा०)।

[दाउद+ई (प्र०) < दाऊद (अ०)]।

दाउन—(सं०) दौनी। धान, गेहूँ आदि के दानों को बैलों द्वारा मीड़कर निकालना (दर०-१)।

[दमन, दाम < √ दम्]।

दाऊन—(सं०) फसलों को तैयार करने की प्रक्रिया, दौनी (दर०-१)। पर्या०—दावनि।

[दाऊन < दामन < √ दम्]।

दाखिलखारिज—(सं०) जमींदार के कागज पर से किसी जायदाद के पुराने हकदार का नाम काटकर उसपर उसके वारिस या दूसरे हकदार का नाम लिखना (पट०-१)।

दाखिला—(सं०) किराया या मालगुजारी देने के प्रमाण में लिखा हुआ पत्रक। दे०—रसीद (फा०)।

दाड़िम—(सं०) अनार (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[< दाडिम—(संस्कृ०)]।

दादन—(सं०) अग्रिम मूल्य देकर किसान से नील की फसल लेने की प्रणाली (उ० प०, द० प० मै०, द० भाग०)। दे०—दादनी।

[फा०]।

दादनी—(सं०) (१) अग्रिम मूल्य देकर किसान से नील की फसल लेने की प्रणाली। पर्या०—दादन (उ० प०, द० प० मै०, द० भाग०)। (२) किसानों को दिया गया अफीम का अग्रिम मूल्य।

[फा०]।

दाना-(सं०) (१) प्रस्तुत अफीम का टुकड़ा। (२) अफीम के बीज का दाना। (३) अन्न की एक इकाई, (सा०-१)। (४) पोस्ते का बीज। (५) पशुओं को खाने के लिए दिये जानेवाले अन्नादि (चंपा०-१)। (६) बीज का अन्न। (७) मवेशियों को दिया जानेवाला वह विशेष भोजन, जिसमें अन्न का भी कुछ अंश रहता है।

[धानाः (संस्कृ०) ; दानः (फा०)]।

दानाफाँका—(सं०) खड़ी फसल का मूल्य आँकना (पट०-१)।

दानाबंदी—(सं०) (१) मूल्य-निर्धारण के द्वारा खेत में खड़ी फसल का बँटवारा। दे०—कनकुत्ती बटाई। (२) भावली खेत में खड़ी फसल का मूल्य-निर्धारण, जिसके बाद उसका कर निर्धारित किया जाता था (गाइड०)।

[दाना+बंदी (फा०)]।

दानोपूजा—(सं०) फसल की रक्षा के लिए कृषक द्वारा की जानेवाली कल्पित दानव की पूजा (द० भाग०)।

[दानो+पूजा < दानव-पूजा]।

दाब—(सं०) बैलगाड़ी के अगले हिस्से में ज्यादा बोझ का रहना (पट०-१)। (२) दबाव। (३) नील को कुचलनेवाली लकड़ी की शहतीर (उ० पू० मै०)। दे०—दबौटा।

[दाब < दाबन < दाम < √ दम्]।

दाम—(सं०) (१) एक आने का बीसवाँ भाग (गाइड०)। (२) मूल्य, कीमत।

[दाम<दाम (फा०), द्रम्म-(पर० संस्कृ०)]।

दावनि—(सं०) (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—दाऊन।

[दावन+इ (प्र०) < दावन < दामन <दम्]।

दाबोह—(सं०) नदी की सतह में खोदा गया तालाब-जैसा बड़ा गड्ढा, जिसमें नदी के सूखने पर बगल से थोड़ा-थोड़ा पानी रिसकर आता और जमा होता है, जिससे सिचाई आदि की जाती है (गाइड०)।

दाहा-(सं०) (१) फसल का दह जाना (मुं०-१)। (२) बाढ़। (३) बाढ़ से फसल का नष्ट हो जाना। (पट०-१)।

[दाह+आ (प्र०) < दह < द्रह (वर्ण-विपर्यय) < ह्रद; दह (पा०) = तालाब, कील।]

दाहारबाहार—(सं०) बाढ़ से फसल का बह जाना (पट०-१)।

दाही—(सं०) बाढ़ आदि के कारण फल का दह जाना। (चंपा०-१)।

[दाह + ई (प्र०) < दह < हद-]।

दिअँका-(सं०) चींटी जाति का कीड़ा। उजली दीमक। (प०)। दे०—दीवाँ।

[दिअँका < दीमक (फा०)]।

दिअर—(सं०) दे०—दिअरा।

दिअरा—(सं०) किसी नदी के हट जाने से फिर से निकली हुई जमीन (पट०, चंपा०)। दे०—खारन।

[दिअरा < दिआर (अ०)। मिला०—द्वीप]।

दिअरी—(सं०) मिट्टी का बना दीपक (चंपा०-१)।

[दिअ+रा+ई (प्र०) < दिअ+रा (प्र०) <दीप-, दीअ-]।

दिआँड़ा-(सं०) फसल में लगनेवाली दीमक (पट०-१)।

दिआर—(सं०) दीमक (चंपा०-१)।

[दिआर < दीमक (फा०)]।

दिउँका—(सं०) चींटी जाति का उजला कीड़ा, दीमक (द० प० शाहा०)। दे०—दीवाँ।

[दि+उँका < दीमक (फा०)। बिहार में दीमक शब्द के जो रूप बने हैं, वे ये हैं—दिअँका, दिअका

दिउंका, दिअरा, दिआर, दिवार, दियाँक, दियाँका, दिवका, दियाँड़ा, दियाँ, दीयाँ, दिवार]।

दिगमिग—(सं०) फूलों का पूर्ण रूप से खिलना (चंपा०-१)।

[देशी, या दिग का तुकपरक अनुवा० रूप]।

दिगवार—(सं०) मुगलकाल में चोरों-डाकुओं से यात्रियों को बचाने के निमित्त नियुक्त अधिकारी (गाइड०)।

दिगवारी जागीर—(सं०) दिगवारों को दी जानेवाली जागीर, जो उनकी सेवा के बदले में दी जाती थी (गाइड०)।

दिग्घी—(सं०) बड़ा तालाब, सरोवर (मुं०-१)।

[दिग्घी < दीर्घी, दीर्घिका]।

दिनिहार—(सं०) फसल काटनेवाला (पट०, गया, द० मुं०)। दे०—कटनिहार।

[दिनि+हार। दिनि < दान < दा < √ दो (= काटना); हार < √ हृ वा (प्र०)]।

दिनौरा—(सं०) (१) फसल-कटाई की मजदूरी (पट०, गया०)। पर्या०—दीनी (चंपा०, गया०, द० पू०), गुदारा (गया), गुदार (सा०), बन (जहाँ-कहीं), बनी (द० प० शाहा०)। (२) फसल की कटनी में मजदूरों को मिलनेवाली वह मजदूरी, जो २१ बोझों में से १ बोझे के रूप में मिलती है (पट०-१)।

[दिन+औरा < दिन (=दिवस) वा दिनि < दान < √ दो (= काटना) + औरा (प्र०) वा आउर < चाउर < चावल (?)]।

दियका—(सं०) दीमक (चंपा०-१)।

[दियका < दीमक (फा०)]।

दियर—(सं०) दे०—दियरा।

दियरा—(सं०) किसी नदी की धारा के हट जाने से फिर से निकली हुई जमीन। दे०—छारन।

[दियार (अ०)]।

दियरी—(सं०) छोटा दीपक (गं० उ०, द० प०)। पर्या०—दियारी (मै० उ० पू०)।

[दियर+ई (अल्पा० अप्र०) < दियर < दीप-, दीप-]।

दियाँड़ा—(सं०) चींटी की जाति का उजला कीड़ा, दीमक (पट०, गया, द० पू०)। दे०—दीयाँ।

[दियाँड़ा < दीमक (फा०)]।

दियार—(सं०) चींटी जाति का उजला कीड़ा, दीमक (चंपा०, मै०)। दे०—दीयाँ।

[दियार < दीमक (फा०)]।

दिवार—(सं०) (१) चींटी-जाति का उजला कीड़ा, दीमक (पू० मै०)। दे०—दीयाँ। (२) दीवाल, भीत।

[दिवार < दीमक (फा०)]।

दीघा—(सं०) पोखरी से बड़ा तालाब (सा०-१)।

[दीघा < दीर्घा, दीर्घिका]।

दीनी—(सं०) फसल-कटाई की मजदूरी (चंपा०, गया०, द० पू०)। दे०—दिनौरा।

[दीनी < दान (?) < √ दो (=काटना)]।

दीनी—(सं०) फसल के रूप में ही दी जानेवाली फसल काटने की मजदूरी (मुं०-१)।

[दीनी < दान < √ दो (काटना) (?) वा < देना < दान < √ दो (?)]।

दीयर—(सं०) (१) किसी नदी का छाड़न या नदी के किनारे की जमीन (सा०, मै०)। (२) किसी नदी की धारा के हट जाने के पश्चात् निकली हुई जमीन। दे०—छारन।

[< दियार, दियार (अ०)]।

दीयाँ—(सं०) चींटी जाति का उजला कीड़ा, दीमक (पट०, गया, द० पू०)। पर्या०—दियाँड़ा (पट०, गया, द० पू०), दिउंका (द० प० शाहा०), दिअंका, दिअका (प०), दियार (चंपा०, मै०), दिवार (पू० मै०)।

[< दीमक (फा०)]।

दीया—(सं०) दीपक।

[दीपक- > दीपअ > दीया]।

दीयाबाती—(सं०) (१) दीपक और बत्ती। जलता दीपक (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) संध्या समय घर-भर में जलता दीया दिखलाने की एक रीति।

[दीया+बाती=दीपक+वर्त्ति-]।

दीरा—(सं०) किसी नदी की धारा के हट जाने के पश्चात् निकली हुई जमीन (द० मुं०)। दे०—छारन।

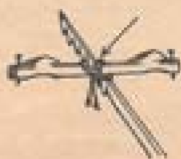
[दीरा > दियरा < दियार (अ०)। मिला०—द्वीप-]।

दुअन्नी—(सं०) (१) गाँव में रहनेवाले शिल्पियों और दुकानदारों आदि से जमींदार को मिलनेवाला भूमिकर या शुल्क (गं० द०)। दे०—मोतरफा।

टि०—पटना-गया में किसानों के खेत में से प्रति बीघा १५ मन अथवा जितने अन्न की उपज होती है, उसमें से दो आना के हिसाब से जमींदार को कर मिलता है। और, यदि नगदी खेत हो, तो प्रति बीघा दो आने से नौ पैसे तक कर मिलता है यह कर दुअन्नी कहलाता है। (२) दो आना। दो आने का हिसाब।

[दु + अन्नी < दु + आना+ई < द्वयाणक- < द्वि + आणक (?)]।

दुआली—(सं०) पालो और हरीस को बांधनेवाली चमड़े की रस्सी। दे०—नारन।
[देशी]।



दुकानी—(सं०) (१) ढेंकुल (लाठा) के खंभे के ऊपर की शाखा, जिसपर ढेंकुल लटकता है (चंपा०, द०, पू०)। दे०—कान। (२) दुकान से संबद्ध।
[दु + कान+ई (प्र०) < द्वि + स्कन्ध-; < दुकान]।



दुगोड़ी—(सं०) वह हेंगा, जिसमें दो ही बैल जोते जाते हैं (मै०)। दे०—हेंगी।



[दु+गोड़ी; < द्वि, गोड़ी < गोरू < (संभ०) गोरूप- < गो+रूप (प्र०) या ('ड़ी' प्र० के साथ) < द्विगु-(?)]।

दुजँता—(सं०) वह बड़ा कुआँ, जिसमें दो लाठे अच्छी तरह चलाये जा सकते हैं। (द० मुं०)। दे०—
[दु+जँता - दु < द्वि-, जँता < जाँता < यन्त्रक-]।

दुजाँत—(सं०) वह बड़ा कुआँ, जिसमें दो लाठे अच्छी तरह चलाये जा सकें। (पट०, द० पू०)। दे०—बोलट्टी।
[दु+जाँत < दो जाँत, दु <द्वि-, जाँत< यन्त्र-]।

दुतौल—(सं०) दो वर्ष का वयस्क बैल। दे०—तौल।
[दु+तौल-; दु < द्वि-; तौल < तौल (हि०) < तुला]।

दुदंत—(सं०) दो दाँतों का बाछा (शाहा०, दर०-१, पूर्णि०-१)। पर्या०—दोहान (मुं० उ०), दोदंता (अन्यत्र), दोन्त बैल (शाहा०, प० मै०)।
[दु+दंत < द्विदन्त-]।

दुदल—(सं०) दो दाँतोंवाला बैल (पट०-१)।
[दु + दत < द्वि + दन्त-]।

दुदसर—(सं०) छींटकर बोया जानेवाला एक प्रकार का धान (द० भाग०)।
[दुद+सर < दुध+सर < दुग्ध- सर (?) या सर < शालि-]।

दुद्धा—(सं०) (१) फसल की अधपकी बाल (प०)। पर्या०—दोधा (शाहा०), लिखा, अजू (मै०), दुधपोट्टू (गया), दुद्धा मकई (सा०, पट०), दुधभोरो (द० भाग०), दँतकमरा (द० मुं०)। (२) मकई का वह अधपका दाना, जिसमें दूध-जैसा रस होता है (सा०-१)।
[दुद्ध+आ (प्र०) दुद्धक < दुग्धक-]।

दुद्धा मकई—(सं०) मकई की अधपकी बाल (सा०, पट०)।

दुद्धी—(सं०) (१) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) एक प्रकार का पौधा (दर०-१; पूर्णि०-१)। दे०—दुधिया। (३) दूध-जैसे रस से युक्त अनाज की बाली या फलियाँ।
[दुद्ध+ई (प्र०) < दुद्ध < दुद्ध < दुग्ध-]।

दुधकाँड़र-(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का उजला धान (द० प० शाहा०)।
[दुध + काँड़र, दुध < दुध < दुग्ध; काँड़र < कंडगर या < कांड-]।

दुधगिलास—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का धान (गया)।
[दुध+गिलास < दुध+विलास (?) < दुग्ध+विलास-। यहाँ 'व' के स्थान पर 'ग' का उच्चारण स्थानीय विशेषता है]।

दुधपोट्टू—(सं०) फसल की अधपकी बाल (गया)। दे०—दुद्धा।
[दुध+पोट्टू- दुध < दुग्ध-, पोट्टू < पुट्टी]।

दुधभोरो—(सं०) फसल की अधपकी बाल। (द० भाग०)। दे०—दुद्धा।
[दुध+भोरो< दुध + भोर + ओ 'अ'का स्थानीय ओष्ठ्य उच्चारण, प्रथम 'ओ' में भी स्थानीय 'अ' का ओष्ठ्य उच्चारण है) < दुग्ध+भर <√ भृ]।

दुधमुंगा—(सं०) एक प्रकार का केला (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[दुध + मुँगा (यौ०, देशी) दुध < दुग्ध, मुंगा < मुद्ग (?)]।

दुधराज—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का छोटा उजला धान (मै०)। (२) एक उजला लंबा धान, जिसका चावल कुछ महीन और दूध की तरह उजला होता है (सा०-१)।
[दुध+राज, दुध < दुग्ध, राज < राजन्-]।

दुधबिलास-(सं०) एक प्रकार का उजला धान, जिसका चावल उजला और अच्छा होता है (भाग०)। दे०—दुधगिलास।
[दुध+विलास < दुग्ध+विलास]।

दुधिआ—(सं०) (१) एक प्रकार का पौधा; जिसमें दूध-जैसा रस निकलता है। (२) अमरूद का एक

भेद (चंपा०-१)। दे०—दुद्धि। (वि०) दूध-जैसे सफेद रंग की वस्तु।

दुधिया—(सं०) (१) श्वेत और गोल सूँगवाला गेहूँ (द० मैं०, पट०, द० मुं०)। दे०—दुधी। (२) एक प्रकार का जनेरा, जो छोटा और उजला होता है। (३) फसल को नष्ट करनेवाली एक छोटी लत्तरदार घास (प० मैं०, गया०)। दे०—उखड़ा। (४) एक विषैली घास। (वि०) दूध-जैसे सफेद रंग की वस्तु।

[दुध+इया (प्र०) < दुग्धिक < दुग्ध-]।

दुधियाएल—(क्रि०) (१) फसल में बाल फूटने लगना (शाहा०)। दे०—गभा भैल। (२) फसल में बाल निकलने लगना। बाल में दूध-जैसे रस का आने लगना।

[दुध+इया+आएल < दुग्धिक, दुग्ध-]।

दुधिया मालदह—(सं०) एक प्रकार का आम, जो सुस्वादु, गुद्देदार और सफेद रंग का होता है। (पट०-१)।

दुधी—(सं०) सफेदी लिये एक अगहनी मोटा धान, जिसका चावल लाल होता है (सा०-१)।

[दुध+ई (प्र०) < दुग्धी < दुग्धिन्, दुग्धिक-]।

दुधैल—(क्रि०) फसल में बाल फूटने लगना (द० पू०)। दे०—गभा भैल। (वि०) वह फसल, जिसमें बाल निकल गई हो।

[दुध+ऐल (प्र०) < दुग्ध-]।

दुनुरा—(सं०) वह फसल, जो एक फसल काटने के बाद तुरत बोई जाय। (चंपा०-१)।

[दुनु+रा < दुनु < दोनों (हिं०), दोन (मरा०) (संभ०) < द्विगुण+रा (प्र० या वर्णागम)]।

दुपतियो—(सं०) (१) कपास के अंकुर में दो पत्तों का उद्गम। (२) दो पत्तियोंवाला अंकुर। (द० भाग०)। दे०—दोपतिया।



[दुपतिय् + ओ ('अ' का स्थानीय उच्चारण) < दुपतिया < द्विपत्रिक या-द्विपत्रिन-]।

दुपहरिया, दोपहरिया—(सं०) (१) दोपहर तक काम करने के लिए नियुक्त मजदूर। पर्या०—दोपहरिया, पहरवार (उ० पू० मैं०)। (२) एक प्रसिद्ध लाल फूल। (३) दोपहर का समय, मध्याह्न। (वि०) दोपहर में होनेवाला काम।

[दुपहर+इया (प्र०) < दुपहर < दोपहर < द्वि + प्रहर-]।

दुबगली—(सं०) दुष्ट या भगोड़े जानवरों के गले में दोनों ओर से दो रस्सी बाँधकर दो आदमियों द्वारा पकड़ने की प्रक्रिया (सा०)। दे०—दोबग्गी।

[दु+ बगली; दु < दो < द्वि- (द्वौ), बगली < बगल + ई (प्र०) < बगल (फा०)]।

दुब्भी—(सं०) एक प्रकार की घास, जो खाली जमीन में फैल जाती है, दूर्वा। दे०—दूब। पर्या०—दुभ, दुभरी (डी)।

[दुब्भ + इ ('भ' और ई का (प्र०), वर्णागम) < दूब < दूर्वा]।

दुभदांदर—(सं०) तृण, घास। खेत में अनाज के अलावा स्वयं उगनेवाले पौधे (उ० प०)। दे०—घास।

[दुभ+दांदर, दुभ+दूर्वा, दांदर (देशी) (?)]।

दुभाड़—(सं०) वह खेत, जिसमें दूब बहुत उग आई हो। (चंपा०-१)।

[दुभ + आड़ (प्र०) < दुभ < दुब्भ < दूर्वा]।

दुरंगवांछा—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिसमें कीड़े के आक्रमण से पैर खराब हो जाता है और उसमें पीड़ा होती है। (पट०-१)।

दुलट्ठी कुआँ—(सं०) वह कुआँ, जिसका पानी दो लाठों के चलाते रहने के लिए पर्याप्त होता है। (पट०-१)।
[दुलट्ठी + कुआँ (दी०)]।

दुलहरा—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का धान, जिसका रंग लाल-पीला होता है और बाल नीचे की ओर झुकी रहती है। (शाहा०)।

[देशी या < दु + लहरी < दो + लहर-?]

दुलहरीधान—(सं०) (पट०-१)। दे०—दुलहरा।

दुसाध—(सं०) (१) जमींदार का कारोबार देखने तथा असामी को बुलाकर लानेवाला सिपाही (पट०-१)। (२) एक निम्न श्रेणी की जाति।

दुसेरी—(सं०) (१) बँटवारे में किसान द्वारा प्राप्त अन्न-राशि से प्रतिमन दो सेर अन्न निकालने की प्रक्रिया। (२) प्रतिमन दो सेर लिया जानेवाला एक प्रकार का अतिरिक्त उपज-कर (गाइड०)।

[दु + सेर + ई (प्र०) < दुसेर < दो सेर < द्वि + सेटक]।

दुहाब—(सं०) किसान की गाय से जमींदार को मिलनेवाला दूध का उपहार (द० प० शाहा०)।

[दुह + आब (प्र०) < दुह < दुहन < दोहन < √ दुह्]।

दूअखिया—(सं०) दो उपरले मुँह से युक्त चूल्हा (पट०-१)।

[दू + अखिया < द्वि + अक्षिप्-]।

दूई—(सं०) (१) दो (दर० १, पूर्णि०-१)।
[< द्वि-]।

दू दाना में से एक दाना—(सं०) भावली या जिरात जमीन की उपज की किसान और जमींदार के बीच होनेवाली आधे-आध की बँटाई (द० प० शाहा०)। दे०—अधिया।

उदा०—'दूदाना में से एक दाना जमींदार लेहला, आउर एक दाना असामी के देहला।'

[दू + दाना में से (विभ०) एक + दाना]।

दूध—(सं०) (१) पोस्ते से निकाला गया दूध-जैसा रस। (२) गाय, भैंस आदि के स्तन से दुहा गया श्वेत वर्ण का एक प्रकार का खाद्य रस। (३) फसल की बालों में पहले-पहल होनेवाला दूध-जैसा रस। (४) पौधों से निकलनेवाला दूध-जैसा श्वेत रस।

[< दुग्ध <]।

दूधमोहन—(सं) उजले रंग का एक अच्छी श्रेणी का ऊख (पट०-१)।

दूधी—(सं०) (१) हाथ में लगने पर चिकनी लगनेवाली मिट्टी। पर्या०—चिक्कन मिट्टी, चिकनी मिट्टी।

[दूध + ई (प्र०) < दुग्धिक-]।

दूधी—(सं०) (२) श्वेत और गोल मूँगवाला गेहूँ। (द० मै०, पट०, द० मुं०)। पर्या०—पचगत्ती (द० भाग०)।

[दूध + ई (प्र०) < दुग्धिक-]

दूब—(सं०) एक प्रकार की घास, जो खाली जमीन में फैल जाती है, दूर्वा (उ० पू०)। पर्या०—दूभ, दुब्भी (द०)।

[दूर्वा (संस्कृ०); दुब्बा; दुव्वा (प्रा०); दूब (हि०); दुबो (ने०); दुबो (कुमा०); दूब (ओ०); दूब (पं०)]।

दूभ—(सं०) दूर्वा, एक प्रकार की घास, जो खाली भूमि में उगती है और फैल जाती है (उ० पू०)। दे०—दूब।

[दूभ < दुब्भ < दुब्ब < दूर्वा]।

दूमुहानी—(सं०) दो पैनों के मिलने का स्थान (पट०-१)।

दूमुहाकोठी—(सं०) अन्न रखने की दो मुखोंवाली कोठी (पट०)।

दूर्वा—(सं०) दूभ, दूब, एक प्रकार की प्रसिद्ध घास। यह पूजा आदि के काम में व्यवहृत होती है। (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[< दूर्वा]।

दूलरा—(सं०) (१) दो लपेट (गुन) वाली सुतली। इससे प्रायः खाट बीनी जाती है। (सा०-१)। (२) दो गुनवाली रस्सी।

[दू + लरा < दू + लड़ी < द्वियष्टि- (?)]।

देना—(सं०) (१) चरागाह के मालिक को दिया जानेवाला शुल्क (मै०, पट०, पू०)। दे०—खरचरी। (२) दान।

[देना < दान (?) < √ दा]।

देवउठान—(सं०) (१) ऊख की फसल तैयार होने पर वर्ष में पहली बार उसके खाने और पेरने के लिए किया जानेवाला उत्सव। यह कार्तिक शुक्ल-एकादशी के दिन मनाया जाता है। इस दिन किसान ऊख काटकर और उसे पेरकर रस से और डाँड़ से देवता की पूजा करता है, उसके बाद ही खाने और पेरने का काम शुरू होता है (द० मुं०, द० भाग०)। (२) कार्तिक शुक्ल-एकादशी को होनेवाला पर्व, जिसमें नये ऊख, सुथनी, शकरकंद आदि से पूजा की जाती है। इसी दिन से ऊख खाने-पीने आदि का कार्यारंभ होता है। यह चातुर्मास्य बीतने पर भगवान् विष्णु के शयन से उठने का दिन है, इसीलिए इसे 'देवोत्थान' या 'देवउठान' कहते हैं।

[देव + उठान < देवोत्थान < देव + उत्थान < उद् + स्थान (< √ स्था)।]

देमान—(सं०) दीवान, पटवारी (पट०-१)।

देवकन—(सं०) मिट्टी आदि का बना वह ढक्कन, जिससे अन्नागार के अन्न निकलनेवाले छोटे छेद को बंद किया जाता है। पर्या०—मुंदन (द० पू०), पेहान (सा०, गया), ठेपी (द० भाग०)।



[देव + कन < देव + कण (?)]।

देवठान—(सं०) वर्ष में पहले-पहल ऊख काटने पर किया जानेवाला उत्सव। (सं० द०)। दे०—देवउठान।

[देव + ठान = देव + उठान < देवोत्थान-]।

देवसार—(सं०) एक प्रकार का धान (चंपा-१)।

[देव + सार < देवशालि-]।

देवान—(सं०) दीवान, पटवारी। दे०—देमान।

देवान दस्तूरी—(सं०) जमींदारों के दीवानों के द्वारा लगाया गया अतिरिक्त कर (गाइड०)।

देवोतर—(सं०) देवता के लिए किसी मंदिर आदि की संपत्ति में दान की हुई जमीन या अन्य संपत्ति।

[देव + उत्तर < देव + उत्तर = वह संपत्ति, जिसके अधिकारी देवता हों]।

देसरिया—(सं०) एक प्रकार का धान, जो फागुन-चैत में बोया जाता है, और अगहन में काटा जाता है।

यह तिरहुत-कमिश्नरी में पाया जाता है। पर्या०—जसरिया (सा०)।

[देसर + इया (प्र०) < देसर < देश (र के आगम के साथ)]।

देसरिया—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।

देसिला—(सं०) (१) मूली का एक भेद, जो छोटा होता है (शाहा०)। दे०—मूली।

[देस + इला (प्र०) < देस < देश- मिला०—देसिल, 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' (विद्यापति)]।

देसिला, देसी—(सं०) (१) छोटे दानोंवाला लाल गेहूँ। (उ० प०)। दे०—ललका। (२) एक प्रकार का उजला ऊख। (द० भाग०)। (३) देशी; स्थानीय।

देसी—(सं०) (१) एक प्रकार का लाल शकरकंद। शकरकंद के तीन भेद होते हैं। (क) देशी या ललका (द० मैं०)। (ख) बिलायती, करमिया, उजरका (प० मैं०)। (ग) तेकुना = एक सेर से २० सेर तक का उजला शकरकंद। (२) देश-संबंधी; स्थानीय, ग्रामीण।

[देसी < देशीय-]।

देसी, देसिला—(सं०) (१) छोटे दानोंवाला लाल गेहूँ (उ० प०)। दे०—ललका। (२) एक प्रकार का उजला ऊख। (३) देश-संबंधी, स्थानीय, ग्रामीण।

[देसी < देशीय-]।

देहात—(सं०) (१) किसी कारखाने का स्थानीय इलाका। (२) केन्द्रीय नगर के आसपास का ग्रामीण इलाका। (३) गाँव।

देही—(सं०) गाँव में स्थायी रहनेवाला रैयत (पट०, पट०-१, गया)। दे०—छपरबंद।

[देह + ई (प्र०) < देह-(?)]।

देही अमला—(सं०) जमींदार का एक कर्मचारी (पट०-१)।

देही खरचा—(सं०) जमींदारी के विषय में होनेवाला गाँव का दूसरा खर्च (गया०, पू० मैं०)। दे०—गाईं खरच।

[देही + खरचा (फ़ा०)]।

देही फेही—(सं) गाँवों में होनेवाले जमींदारी-संबंधी व्यय के लिए लिया जानेवाला कर या दस्तूरी (गाइड०)। दे०—देही खरचा।

दैना—(सं०) चरागाह के मालिक को दिया जानेवाला शुल्क (द० पू०)। दे०—खरचरी।

[दैना < देना < देन < दान-, दानीय]।

दैहाएल—(क्रि०) बीज का मर जाना या नहीं उगना (द० भाग०)। दे०—बिजमार।

[दैह + आएल (प्र०) < दैह < √ दह् (जलना)]।

दोज—(सं०) ऊख की जड़ से निकलनेवाली शाखा, जिससे पौधों को हानि पहुँचती है (सा०, द० प० मैं०)। पर्या०—पछुवी (चंपा०), फुटना (उ० प० मैं०), गोभी (पू० मं०), कनखी (द० प० शाहा०), गँवखा (शाहा० के० शे० भाग), जोका (पट०, गया), पगुड़ी (द० पू०), पहुँत, पोरगोवा (द० भाग०)।



[दो + ज < द्वि + ज (= द्विज) (?) मिला०—दोजिया (मे०) (= गर्भिणी) < दो + जिया < द्विजीव —]।

दोजी—(सं०) (१) ऊख के पौधे में कीड़े लगने पर नीचे से निकला हुआ दूसरा नया अंकुर (मैं०)। दे०—टेंगी।

दोजी—(सं०) (२) तम्बाकू या किसी पौधे के ऊपर से काट लेने के बाद उसमें से निकला हुआ दूसरा अंकुर या नई पत्ती। पर्या०—पचखी (सा०, चंपा०), नगोअर (उ० प० मैं०), कनैल; कोंखी (द० मैं०), कनई (पू०)। (३) तंबाकू की पहली फसल काट लेने के बाद खूँटी में से पुनः प्ररूढ़ दूसरी फसल। पर्या०—खुँटिया (द० भाग०)। (४) नील आदि की दूसरी फसल, जो पहली फसल के काट लेने पर उसी के शेष में से उगती है (द० पू०)। दे०—खूँटी। (५) किसी फसल के डंठल के बीच से नई कोंपल का निकलना (चंपा०-१)।

[दो + जी < द्वि + ज (= द्विज-)]।

दोआतपुजाई—(सं०) दावात-पूजा (यमद्वितीया, कार्तिक शु० द्वि०) के अवसर पर किसानों की ओर से पटवारी आदि को मिलनेवाला पुरस्कार।

[दोआत + पुजा + ई (प्र०) < दावात (फ़ा०)+ पूजा (संस्कृ०)]।

दोआमी—(सं०) स्थायी बंदोबस्ती आदि (गाइड०)।

दोआही—(सं०) बाँस की कमाचियों का बना मछली मारने का एक प्रकार का जाल, जिसमें कमानियाँ दूरी पर रहती हैं। (चंपा०-१)

[देशी (?)]।

दोकड़ा—(सं०) (१) एक जोड़ा बैल द्वारा खींची जाने-वाली गाड़ी। दे०—दोबरदा।

[दो + कड़ा < द्वि- + कटाह- (= पाड़ा, भैंस का बच्चा, भैंसा) (?); संभ० < दोकड़ा < दो + कड़ा < दो + कौड़ी (दोकड़ा= एक अल्पतम सिक्का या दोक + ड़ा (वर्णागम) < दोक < द्विक < द्वि+क (प०)]।

दोकड़ा—(सं०) (२) छह दाम या ¼ पैसे के बराबर का एक सिक्का। पर्या०—दोकरा, छदाम।

[दो + कड़ा < दो + कौड़ी = दो < द्वि-; कौड़ी < कवड्ड < कपर्द-]।

दोकना—(सं०) किसी मवेशी के दूध के दाँत टूटने पर उसकी जगह प्रथम दो दाँतों का निकलना (चंपा०-१)।

[दो + कना < दो + कण (?)]।

दोकरा—(सं०) छह दाम या ¼ पैसे के बराबर का एक सिक्का। दे०—दोकड़ा।

[दो + कर < दो + कौड़ी; दो < द्वि-, कौड़ी < कवड्डि < कपर्दिका- < कपर्द-]।

दोकानी—(सं०) कुएँ के पास गाड़ा गया दो नोंक-वाला खंभा, जिसपर घिरनी नाचती है। (द० पू०) दे०—धुरही।

[दो + कानी दो < द्वि, कानी < कर्ण, कोन-या कान्ह < स्कन्ध-]।

दोकानी, दुकानी—(सं०) (१) ढेंकुल (लाठा) के खंभे के ऊपर की शाखा, जिसपर ढेंकुल लटकता है (चंपा०, द० पू०)। दे०—कान।

[दो + कानी < द्वि + स्कन्ध (?)]।

दोखान—(सं०) दो कानीवाली बंसी की हुक (मुं०-१)।

[दो + खान < दो + कान < द्विकर्ण (?)]।

दोखड़ा—(सं०) बलुई मिट्टी (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[दो + खड़ा < (?)]।

दोख बैल—(सं०) दो दाँतों का बाछा। दे०—दुदंत।

[दोख + बैल]।

दोखाड़—(सं०) (१) दूसरी जोत, दूसरी चास। (२) दूसरी बार जोती हुई जमीन। दे०—दोखार।

[दो + खाड़, दो < द्वि-, खाड़ < काड़ < < कृष्टि -]।

दोखार—(सं०) (१) दूसरी जोत, दूसरी चास। (२) दूसरी बार जोती हुई जमीन। पर्या०—दोखाड़। पुरबे (गया०, चंपा०), सोमरा (उ० प०), समार (उ० पू० मै०), दोहार (चंपा० उ०), दोहरावन (द० प० शाहा०)। दक्षिण-पूर्व में पहली जोत को चास कहते हैं, तीसरी को दोखार कहते हैं।

[दो + खार, दो < द्वि, खार < काड़ < काढ < काढि < कृष्टि < √ कृष् + ति (प०)]।

दोखार—(सं०) (३) खेत की एक बार आड़ी और दूसरी बार पड़ी जुताई (पट०-१)।

दोखार—(सं०) (४) जमीन की तीसरी जोत, तीसरी चास। (५) वह जमीन, जिसमें तीसरी चास की जाय (द० पू०)। दे०—तेखार।

दोगला—(सं०) (१) जमालखानी और हाड़ा-मिश्रित गेहूँ का भेद (मं० उ०)। (२) जारज संतान।

[< दोगला (फा०)]।

दोगसी—(सं०) (१) दो चीजों के बीच की तंग जगह। (२) पेड़ की दो पतली डाली के मिलने से बनी हुई तंग जगह (मुं०-१)।

[दो + ग < सी (वर्णागम) (?) < दोग < दुग्ग < दुर्ग, (?)]।

दोगहबा—(सं०) दो जगह लाठा लगाकर सींचने का का कार्य करना (पट०-१)।

दोगहा—(सं०) वह बड़ी रस्सी, जिसमें दौनी करने के बैल बाँधे जाते हैं। (प० मै०)। दे०—मेंभा।

[दो + गहा + दुर्गह (?) या द्वि-ग्रह -]।

दोग्हा—(सं०) दुष्ट या भगोड़े जानवरों के गले में दो ओर से दो रस्सी बाँधकर दो आदमियों द्वारा पकड़ने की प्रक्रिया (द० पू० मै०)। दे०—दोबग्गी।

[दो + गहा < द्वि + ग्रह-]।

दोगान—(सं०) दो बार का सींचना (पट०-१)।

दोगाह—(सं०) (१) गौओं के रहने का मकान (पट०, गया)। दे०—गौसार।

दोगाह—(सं०) (२) पशुओं के रहने की पलानी (पट०)।

[दो + गाह < दुर्गह (?) या (दुर्गाह)]।

दोघाँव—(सं०) करीन आदि से सींचने में पानी की सतह से दूसरा उठान या वह जलाशय, जहाँ से दूसरे करीन आदि के द्वारा पानी और ऊपर चढ़ाया जाता है। दे०—एघाँव। पर्या०—दोघाँव (पट०)।

[दो + घाँव, दो < द्वि, (द्वी), घाँव < घात-(संस्कृ०); घाओ (प्रा०); घाव (पा०) (?)]।

दोघावा—(सं०) करीन आदि से सींचने में पानी की सतह से दूसरा उठान या वह जलाशय, जहाँ से दूसरे करीन आदि के द्वारा पानी और ऊपर चढ़ाया जाता है (प०)। दे०—एघाँव, दोघाँव।

[दो + घाव < द्वि + घात- (?)]।

दोजिआ—(सं०) एक प्रकार का ऊख, जिसका अंगेर टूटकर गिर पड़ता है (सा०-१)। दे०—पचँगी।

[दो + जिया < द्विन-, द्विजीव-(?)]।

दोठेउका—(सं०) करीन आदि से सींचने में पानी को सतह से ऊपर तक चढ़ाने में दूसरा चढ़ाव। दे०—ठेउका।

[दो + ठेउका, दो < द्वि, ठेउका < स्थापक-(?) वा स्थापुक-]।

दोतरा चौमास—(सं०) वह जमीन, जो एक बरसात से दूसरी बरसात तक लगातार जोती जाती है और उसमें धान का बीज गिराया जाता है। (द० प० मै०)। पर्या०—गँजाड़ (द० पू० मै०), बिड़ार (द० पू० बिहा०), फुलहर (द० प०)।

[दोतरा + चौमास, दो + तरा < द्वितर-, द्वितल- + मास < चतुर्मास-(?)]।

दोतुरा—(सं०) (१) वह खेत, जिसमें ज्वार-बाजरे आदि की खेती होती हो (सं० उ०)।

[दो + तुरा; दो < द्वि-; तुरा (देशी) (?) अथवा द्वितर]।

दोतुरा—(सं०) (२) ऊख के रोपने के पहले खेत में माघी फसल के बोने की प्रक्रिया (उ० प० मै०) दे०—जरी। पर्या०—दोतुरा के ऊख=माघी फसल काटने के बाद रोपा गया ऊख (द० प० मै०)।

दोतुरा के ऊख—(सं०) माघी फसल के काटने के बाद रोपा गया ऊख (उ० प० मै०)।

[दोतुरा+के (विभ०) + ऊख]।

दोदंत—(सं०) दो दाँत का बाछा। दे०—दुदंत।

[दो + दंत < द्वि + दन्त –]।

दोदंता—(सं०) दो दाँत का बाछा। दे०—दुदंत।

[दो + दंत + आ (प्र०) < द्विदन्त –]।

दोधरिया—(सं०) धारी लगाकर बोने का वह प्रकार, जिसमें पहली धारी के साथ-साथ ही बोने के लिए एक दूसरी धारी भी जोती जाती है। इस प्रकार का उपयोग अधिकतर भदई फसल में हुआ करता है। दे०—भठाएल।

[दो + धर + इया (प्र०) < दो + धारी < (द्वि + धार –]।

दोधा—(सं०) फसल की अधपकी बाल (शाहा०)। दे०—दुधा।

[दोध + आ (वि० प्र०) < दुध < दुग्धक –]।

दोन—(सं०) लकड़ी, टिन या लोहे का बनाया हुआ बीच में खाली लंबा फलक, जिससे सिचाई का काम होता है, करीन (प०)। यह इस प्रकार संतुलित रखा जाता है कि दोन का मुँह नीचे से पानी उठा सके। इसका मुँह पैर से पानी में डुबाया जाता है और वह अपने संतुलन पर ऊपर उठ जाता है और अपने दूसरे किनारे से, जो जल की सतह से एक ऊँची जगह रखा रहता है, पानी गिरा देता है। पर्या०— करीन, करींग। (पू०)।

दोनवाह—(सं०) दोन चलानेवाला।

[दोन < द्रोण, द्रोणी; 'द्रोणी काष्ठाम्बुवाहिनी'—अमर०-]।

दोनवाह—(सं०) दोन चलानेवाला मनुष्य (प०)। पर्या०—करिनवाह, करिनवाह (पू०)।

[दोन + वाह < द्रोण + वाह-]।

दोपतिया—(सं०) (१) कपास के अंकुर में दो पत्तों का उद्गम (उ० प०, गं० इ०)। (२) दो पत्तियोंवाला अंकुर। (वि०) दो पत्तियोंवाला। पर्या०—कपारी फोरल (मै०), पतिया (गया), दोपत्ती (द० मुं०), दुपतियो (द० भाग०)।

[दो + पत + इया (प्र०) < दुपत्तिअ < द्विपत्तिक, वा < द्विपत्रिक –]।

दोपत्ती—(सं०) कपास के अंकुर में दो पत्तों का उद्गम (द० मुं०)। दे०—दोपतिया। (२) दो पत्तियोंवाला अंकुर। (वि०) दो पत्तियोंवाला।

[दो + पत्ती < द्विपत्री (< द्विपत्रिन्)]।

दोपहरिया—(सं०) (१) दोपहर तक जोत ली जानेवाली जमीन। (२) दोपहर, मध्याह्न। (वि०) दो पहर तक होनेवाला काम।

[दो + पहरिया < द्विप्रहरिक –]।

दोपहरिया, दुपहरिया—(सं०) (१) दो पहर तक काम करने के लिए नियुक्त मजदूर। दे०—दुपहरिया। (२) एक प्रसिद्ध लाल फूल। (वि०) दोपहर तक होनेवाला कार्य। दोपहर में किया जानेवाला कार्य, भोजन आदि।

[दो + पहर + (प्र०) < द्वि + प्रहरिक –]।

दोफसिला—(सं०) (१) वह जमीन, जिसमें दो फसल होती है।

[दो + फसिल + आ < दो + फसल (फा०)]।



दोफसिला—(सं०) (२) वह जमीन, जिसमें साल में दो बार अन्न पैदा होता है। पर्या०—दोफसिली, दोसलिया (चंपा०), दोसाला (द० भाग०)।

दोफसिली—(सं०) वह जमीन, जिसमें साल में दो बार फसल पैदा होती है। दे०—दोफसिला।
[दो + फसिल + ई < दो (विहा०) + फसल (फा०)]।

दोबगली—(सं०) दुष्ट या भगोड़े जानवरों के गले में दोनों ओर से दो रस्सी बाँधकर दो आदमियों द्वारा पकड़ने की प्रक्रिया (उ० पू० मैं०)। दे०—दोबग्गी।



[दो + बगल + ई (प्र०) < दो + बगल (फा०)]।

दोबग्गी—(सं०) दुष्ट या भगोड़े जानवरों के गले में दोनों ओर से दो रस्सी बाँधकर दो आदमियों द्वारा पकड़ने की प्रक्रिया (गं० उ०)। पर्या०—(द० पू० मैं०), दोबगली (उ० पू० मैं०), दोबागी (उ० भाग०), दुबगली (सा०)।
[दो + बग्गी < दो + बगल (?) वा < द्वि-वर्ग्य - (?); वा < दो + बाग (= रस्सी)]।

दोबरा—(सं०) (१) उधार लिये हुए बीज या अन्न के बदले में दुगुना देने की प्रणाली। (२) कर्ज का दुगुना सूद (भाग०-१)। मिला०—आधी, अगवन, सवैया, डेढ़िया।

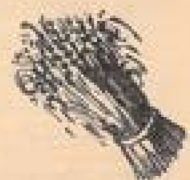
दोबल—(क्रि०) (१) मवेशी की चरवाही करना। (चंपा०-१)। (२) मवेशियों की चरवाही में उन्हें किसी दूसरी ओर हठात् प्रेरित करना। दे०—धोपल।
[दोब + ल (प्र०) < दब < √ दम् (?)]।

दोबरधा—(सं०) (१) वह हेंगा, जिसमें दो ही बैल जोते जाते हैं। दे०—हेंगी। (२) एक जोड़ा बैल द्वारा खींची जानेवाली गाड़ी। पर्या०—दोकड़ा।
[दो + बरदा; दो < द्वि -, बरद + आ < बर्द < बलीवर्द -]।

दोबाँह—(सं०) दूसरी चास। दे०—चास, बाँह। मिला०—एकबाह—पहली चास।
[दो + बाँह < द्वि + बाँह < √ वह् वा < वाह-]।

दोबाग्गी—(सं०) दुष्ट या भगोड़े जानवरों के गले में दोनों ओर से दो रस्सी बाँधकर दो आदमियों द्वारा पकड़ने की प्रक्रिया (उ० भाग०)। दे०—दोबग्गी।
[दो + बाग + ई < दो < द्वि-, बाग < वर्ग्य (?) वा < बाग (= रस्सी)]।

दोमड़ा—(सं०) मूठा से बड़ी फसल की राशि, अँटिया (द० प०, शाहा०)।



[देशी, वा दो + मड़ा, दो < द्वि-; मड़ा < मुष्टि- (?)]।

दोमा—(सं०) गुड़ के लिए उबाला और पहली बार साफ किया गया रस (प०)।
[देशी (?)]।

दोरस—(सं०) (१) वह चिकनी मिट्टी, जिसमें दूसरे वर्ग की मिट्टी का भी अंश हो। पर्या०—दोरसाही (पट०, गया), परसोती (द० भाग०), पंचकरैल (मैं०)। (२) वह पीनी तंबाकू, जिसमें सादा और मसालेदार तंबाकू मिला हुआ हो। (३) खट्टा-मीठा आदि अनेक रस के पदार्थ के खाने पर अंदर से खट्टा-तीता डकार आना या अजीर्ण होना। (४) वह मिट्टी, जिसमें बालू और मिट्टी का अनुपात आधा-आधा हो (गाइड०)। (वि०) दो रसों से युक्त वस्तु।
[दो + रस < द्वि + रस-]।

दोरसाही—(सं०) (१) वह चिकनी मिट्टी, जिसमें दूसरी प्रकार की मिट्टी का भी अंश हो। (२) दो रसों से युक्त। (पट०, गया)। दे०—दोरस।
[दो + रस + आही (प्र०) < दो + रस < द्वि + रस-]।

दोलंग—(सं०) एक प्रकार का धान (चंपा०-१)।
[देशी, मिला०—दोरंग < द्वि + रङ्ग-]।

दोलंगी—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का धान, जिसका चावल सफेद और सुपच होता है। (शाहा०, पट०)।
[दो + लंग (प्र०) < द्विरङ्ग (?)]।

दोलंगी—(सं०) एक प्रकार का धान। (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[दो + लंग + ई (प्र०) < दोलंग, दोरंग < द्विरङ्ग- (?)]।

दोल—(सं०) (१) कुएँ की कच्ची दीवार को गिरने से बचाने के लिए कभी-कभी प्रयुक्त बाँस की फट्ठियों या वृक्ष की टहनियों से बनाया गया ढाँचा (द० पू०)। दे०—कोठी। (२) कुएँ से पानी निकालने का चौड़े मुँह का बरतन (द० भाग०)। दे०—डोल।
[< दोल-]।

दोलगी—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का धान (द० मुँ०)।
[दो + लग + ई < दोलंग < द्वि + रङ्ग-]।

दोलढ़ी—(वि०) वह बड़ा कुआँ, जिसमें दो लाठें अच्छी तरह चलाये जा सकें। पर्या०—दुजति (पट०, द० पू०), दुजत्ता (द० मुं०)।

[दो + लढ़ + ई (प्र०) दो < द्वि; लढ़ < लढ़ा < लट्ठी (देशी) < यष्टि (संस्कृ०)]।

दोलन—(सं०) काले छिलकोंवाला एक अगहनी धान, जिसका चावल लंबा और उजला-लाल होता है। (सा०-१)

[देशी (?)]।

दोलल, दोलायदेल—(क्रि०) डालियों को डुलाकर वृक्षों से फलों को गिराना (सामा०, प०)। दे०—भरभराएल।

[दोल + ल (प्र०) < दोल < √ दोल्]।

दोलायदेल, दोलल—(क्रि०) डालियों को डुलाकर वृक्षों से फलों को गिराना (सामा०, प०)। दे०—भरभराएल।

[दोल + आय + देल, दोल + आय (प्र०) < दोल < √ दोल्, दो + ल (प्र०) < देयोल < दान < √ दा]।

दोलेबाक माटि—(सं०) पोतनी मिट्टी, जिससे घर आदि लीपे-पोते जाते हैं (दर०-१)।

[दोलेबा + क (विभ०) + माटि]।

दोल्ह—(सं०) वृक्ष की डालियों का एक तरफ का झुकाव (चंपा०-१)।

[दोल्ह < दोल < √ दोल्]।

दोल्हल—(क्रि०) किसी पेड़ की डाली को पकड़कर जमीन पर उतर आना। (चंपा०-१)।

[दोल्ह +ल (प्र०) < दोल्ह < √ दोल्]।

दोल्हा—(सं०) जाल-बने नाले के दाहिनी ओर का हिस्सा, जिधर होकर मछलियाँ चलती हैं।

[दोल् + हा (वर्णागम) < दोल- (?)]।

दोसर पटावन—(सं०) ऊख की दूसरी सिंचाई। दे०—कोड़ा।

[दोसर + पटावन, दोसर, दूसरा (हि०) < दो + सर (प्र०), पटावन (देशी)-(?)]।

दोसरा माँटी के बीया—(सं०) तीसरे वर्ष के बीज के लिए रखा गया आलू।

[दोसरा + माँटी के + बीया (बी०)]।

दोसरो पटावन—(सं०) ऊख की दूसरी सिंचाई।

[दोसर + ओ ('अ' का स्थानीय उच्चारण) + पटावन]।

दोसलिया—(सं०) वह जमीन, जिसमें साल में दो बार फसल पैदा होती है (चंपा०)। दे०—दोफसिला।

[दो + सल + इया (प्र०) < दो + साल < दो (बिहा०) < द्वि + साल (फा०)]।

दोसाला—(सं०) (१) वह जमीन, जिसमें साल में दो बार फसल पैदा होती है। दे०—दोफसिला। (२) एक प्रसिद्ध ऊनी चादर, जो प्रायः कश्मीर में बनती है।

[दो + साल (फा०)]।

दोहर—(सं०) दो गाँवों में अस्थायी तौर पर जोतनेवाला रैयत। पर्या०—दोहरा।

टि०—पाही किसान एक ही जगह खेत जोतता है, किंतु दोहर दो भिन्न स्थानों में।

(२) कपड़े के दो पल्लों को जोड़कर बनाई गई चादर।

[देशी]।

दोहरा—(सं०) (१) दो गाँवों में अस्थायी तौर पर जोतनेवाला काश्तकार। दे०—दोहर।

[देशी, या दो + हरा < दोघरा < द्विगृह।

दोहरा—(सं०) (२) खेती की सुविधा के लिए किसान के द्वारा खेत में बनाया जानेवाला अस्थायी डेरा (मुं०-१)।

[देशी]।

दोहरा—(सं०) (३) वह हेंगा, जिसे चार बैल मिलकर खींचते हैं (द० भाग०)।

[दो + हरा (प्र०) (?) या दो < द्वि ; हरा < धर या < द्विहल; द्विहल्य या < दो धरा < द्विधुर्य या दोहरा (बिहा०; हि०) = दुगुना]।

दोहरा—(वि०) दो परत या तहवाला (चंपा०-१)।

[दो + हरा (प्र०) या < द्वि + धर]।

दोहरावल—(सं०) (१) हल से खेत को दुबारे पड़ा जोतना। दे०—दोहारल। (२) किसी क्रिया को दोहराना, आवृत्ति देना।

[दोहर + आवल (प्र०) < दोहर < दोहरा < द्वि + धर-(?)]।

दोहान—(सं०) (१) काफी स्वस्थ और जवान पशु। (चंपा०-१)।

[देशी या दोहान < दुहना < दोहन < √ दुह् = दुहना (?)]।

(२) दो दाँत का बाछा (गं० उ०, शाहा०)। दे०—दुदँत।

[दो + दान < द्विदन् < द्विदन्त-(?)]।

दोहार—(सं०) धारी लगाकर बोने का वह प्रकार, जिसमें पहली धारी के साथ-साथ ही बोने के लिए एक दूसरी धारी भी जोती हुई हो। इस

प्रकार का उपयोग अधिकतर भदई फसल में हुआ करता है। दे०—भठाएल।
[दो + हार < दो + धार < द्विधार-(?)]।

दोहारल—(क्रि०) हल से खेत को दुबारे पड़ा जोतना। (चंपा०-१)। पर्या०—दोहरावल, दोवारल।
[दोहार + ल (प्र०) < दोहार < द्विहल्य < द्वि + हल-]।

दौग—(सं०) ऊपर के खेतों में पानी बढ़ाने के लिए दोनों तरफ मेंड़ बनाकर खोदी गई नाली (गाइड०)।

दौंग—(सं०) नाली (मुं०-१)।
[< द्रोणक-, द्रोणी (?)]।

दौंगकियारी—(सं०) सींचने की सुविधा के लिए बनाया गया खेत का छोटा-छोटा टुकड़ा (पट०-१)।

दौंगड़ी—(सं०) लप्पा को गाड़ी से मिलानेवाली रस्सी (पू० मैं०)। दे०—दांगली।
[देशी]।

दौंगर—(सं०) (१) सींचने के निमित्त बनी हुई नाली का गहरा आन्तरिक भाग (द० मैं०, पट०, गया)। दे०—आरा।
[दौंग + र (वर्णागम या प्र०) < दौंग < द्रोणी, द्रोणक- (?)]।

दौंगर—(सं०) (२) लताओं या पंक्तियों के बीच का अवकाश (पट०, गया)। दे०—अंतरा।
[< दुर्ग, दुर्गम या < दौंग < द्रोणक-(?)]।

दौंरड़—(सं०) वह बड़ी रस्सी, जिसमें दौनी करने के लिए बैल बांधे जाते हैं (प० मैं०)। दे०—मंभा। पर्या०-दौंवर (द० भाग०)।
[दौंरड़ < दोरक-]।

दौंरी—(सं०) फसल को बैल आदि से दबाकर डंठल से अनाज निकालने की प्रक्रिया (प०, पट०)। दे०—दौनी।
[दौंरी < दोरक (?)। संभ० < दौनी < दमन-]।

दौंरी—(सं०) वह बड़ी रस्सी, जिसमें दौनी करने के लिए बैल बांधे जाते हैं (प०)। दे०—मंभा।
[दौंरी < दोरक-]।

दौंग—(सं०) (१) लताओं या पंक्तियों के बीच का अवकाश (द० पू०)। दे०—अंतरा।
[दौग + दुर्ग (?) या द्रोणक-]।

दौग—(सं०) (२) नाली के किनारे को घेरनेवाली उठी हुई जमीन (द० मुं०)। दे०—मेंड़।
[< द्रोणक, द्रोणी]।

दौग—(सं०) (३) सींचने के निमित्त बनी हुई नाली का गहरा आन्तरिक भाग (पट०, द० पू०)। दे०—आरा। (४) उपाय, रास्ता।

दौदिया—(सं०) शूक-रहित उत्तम उजला गेहूँ (द० प० गया०)। दे०—दाउदी।
[दौदिय + आ (प्र०) < दौदिय < दाउद (फा०)। दे०—दाउदी]।

दौदी, दाउदी—(सं०) शूक-रहित उत्तम उजला गेहूँ (प० बिहा०)। दे०—दाउदी।
[दौद + ई (प्र०) < दौद < दाउद (दे०—दाउदी)]।

दौना—(सं०) सुगंधयुक्त प्रसिद्ध फूल।
[दौना < दमनक < √ दम्]।

दौना फूल—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का सुगन्धित उत्तम धान (द० भाग०)।
[दौना + फूल, दौना < दमनक; फूल < फुल्ल-]।

दौनी—(सं०) फसल को बैल आदि से दबाकर डंठल से अनाज निकालने की प्रक्रिया (सं० उ०)। पर्या०—दौंरी (प०, पट०), दौरी (द० पू० शाहा०), दवाँही (चंपा०, पट०, गया, द० मुं०), सहरी (द० भाग०), दमाही (द० भाग०), मेंजनी, मिजनी = आदमियों द्वारा मींजकर फसल के डंठल से अनाज निकालने की प्रक्रिया (प० पट०)।
[दौन + ई (प्र०) < दौन < दवन < दमन-]।

दौरा—(सं०) (१) बांस की कमाचियों का बना हुआ बड़ा टोकरा (प० बिहा०, सं० द०, शाहा०)। दे०—छैटा। (२) दो ओर से बड़ी-बड़ी रस्सियों से बांधा हुआ लटकता बरतन, जिसे दो मनुष्य पकड़कर गड्ढे आदि से पानी निकालकर खेत सींचते हैं (द० प० शाहा०)। दे०—सैर। (३) अफसरों या अधिकारियों की यात्रा।



[दोरक-(?)]।

दौरा सलामी—(सं०) अपनी जमींदारी के इलाके में घूमने या निरीक्षण करने के व्यय के निमित्त लिया जानेवाला कर (गाइड०)।

दौरी—(सं०) (१) बांस की कमाची की बनी हुई छोटी टोकरी। कहीं-कहीं सींकी (दलदल या जल में उगनेवाला एक पौधा) और मूंज से भी यह बनाई जाती है। (प० बिहा०, सं० द०, पट०, शाहा०)।

दे०—ढेंटी। (२) फसल को बैल आदि से दबाकर डंठल से अनाज निकालने की प्रक्रिया (द० पू० शाहा०, भाग०)। दे०—दौनी।

दौलतखानी—(सं०) एक उत्तम श्रेणी का धान, जो महीन और सुगंधित होता है (पट०-१)। दे०—दउलतखानी धान।

ध

धँगाएल—(सं०) पशुओं के द्वारा पददलित फसल (सा०)। दे०—धँगाठ। (वि०) पददलित कोई वस्तु। धँगाएल (क्रि०) फसल को पशुओं के द्वारा पददलित करना।

[धँगा + आएल (प्र०) < धंगा < द्राप < √द्राप् (द्रापते = घूमता है)]।

धँगाठ, धँकाठ—(सं०) पशुओं के द्वारा पददलित फसल (सं० उ०)। पर्या०—दुँगाठ (द० पू० मै०), धँगाएल (सा०), धँगेड़ (प० मै०, चंपा०), सहनाएल (द० प० शाहा०), खुरखुन (गया, द० मुं०), खोंची (द० भाग०), निपेस (पू० मै०)।

[धँगा + आठ (वि० प्र०) < धँगा < द्राप (?) < √ द्राप् (= द्रापते = घूमता है)]।

धँगेड़—(सं०) पशुओं के द्वारा पददलित फसल (प० मै०, चंपा०)। दे०—धँगाठ।

[धँगा + एड़ (वि० प्र०) < धँगा < द्राप- < √ द्राप् (द्रापते = घूमता है)]।

धँकाठ, धंगाठ—(सं०) पशुओं के द्वारा पददलित फसल (सं० उ०)। दे०—धँगाठ।

[धँका + आठ < धँका < धंगा < द्राप < √ द्राप् (द्रापते = घूमता है)]।

धँसल—(क्रि०) कुएँ की बगल की या नदी के तट की मिट्टी का गिरना। दे०—धसल।

धकरा—(सं०) एक पशुखाद्य घास (मै०, चंपा०)।

[देशी]।

धथूर—(सं०) एक प्रकार का फूल। पर्या०- धतूरा (दर०-१, पूर्णि०)। एक प्रकार का पौधा, जिसके फूल बैंगनी और उजले रंग के भी होते हैं और फल कँटिदार। इसका फूल शिवजी पर चढ़ाया जाता है। पर्या०—धतूर।

[< धत्तूर-]।

धनकियारा—(सं०) वह खेत, जिसमें धान पैदा होता है (गया)। दे०—धनहर।

[धन + कियार + आ (प्र०) < धान्य + केदार + क (अल्पा० प्र०)]।

धनकियारी—(सं०) वह खेत, जिसमें धान की फसल होती है। (गया)। दे०—धनहर।

[धन + कियार + ई- (प्र०) < धान्य + केदार + इका (अल्पा० प्र०))]।

धनकुट्टी—(सं०) लकड़ी या पत्थर का गहरा बरतन, जिसमें मूसल से धान आदि कूटे जाते हैं। (सा०-१)। दे०—ओखरी।



[धन + कुट्ट + ई (प्र०) धान्य + कुट्ट (क)]।

धनखर—(सं०) वह खेत, जिसमें धान की फसल होती है। (द० प० शाहा०)। दे०—धनहर।

[धन + खर < धान्य + क्षेत्र या धान्य+कर्ष-]।

धनखार—(सं०) वह खेत, जिसमें धान पैदा होता है (शाहा०)। दे०—धनहर।

[धन + खार < धान्यकर्ष-, धान्यक्षेत्र- (?)]।

धनखेत—(सं०) वह खेत, जिसमें धान पैदा होता है। दे०—धनहर।

[धन + खेत < धान्यक्षेत्र-]।

धनखेती—(सं०) वह खेत, जिसमें धान पैदा होता है। दे०—धनहर।

[धन + खेत + ई (प्र०) < धान्यक्षेत्र-]।

धनचूही—(सं०) हल के पालो का वह अंश, जो उसकी कंधी के बाद रहता है (पट०-१)।

धनपनिया—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[धान + पनिया, धन < धान्य-; पनिया < पानी < पानीय (?)]।

धनपावर—(सं०) एक प्रकार की घास (चंपा०-१)।

[धन + पावर < धान + पातर; धान्य + पत्र- (?)]।

धनबाल—(सं०) (१) पेंचदार नरभुट्टा। पर्या०—धनहरा। (२) मकई का फूल (चंपा०-१, पट०-१)।

[धन + बाल < धान्य + बाल (?)]।

धनहर—(सं०) वह खेत, जिसमें धान की फसल होती है। पर्या०—धनकियारी (गया), धनखर (द० प० शाहा०), धनखेत, धनखेती, धनखार (शाहा०), धनकियारा (गया), धनहा (पट०)। धनहर (पट०-१, सा०-१)।

[धन + हर < धान्य + हर (प्र०) या हर < खर < कढ्ढ < कर्ष- (< √ कृष्]।

धनहर—(सं०) वह खेत, जिसमें धान पैदा होता है। (सा०-१, पट०-१)।

धान की फसल

धान्य + केदार +

…का गहरा बरतन,



धान की फसल
—धनहर।
…बा धान्य+कर्ष-]।
…ान पैदा होता है

…ान्यक्षेत्र-(?)]।
…न पैदा होता है।

।
…ान पैदा होता है।

…: धान्यक्षेत्र-]।
…ह अंश, जो उसकी
।
धान (दर०-१,

…ान्य-; धनिया <

…त (चंपा०-१)।
…तर; धान्य + पत्र-

…ुट्टा । पर्या०—
…ंपा०-१, पट०-१)।
…ल (?)]।
धान की फसल
…गया), धनखर (द०
धनखार (शाहा०),
…(पट०)। धनहर

…र (प्र०) बा हर
… √ कृष्]।
…ान पैदा होता है।

धनहरा—(सं०) पेंचदार नरमुट्ठा। दे०—धनवाल।
[धन + हर + आ (प्र०) < (?)]।

धनहरा—(सं०) मकई के डंठल के ऊपर धान की बाल की तरह उगी हुई बाल (सा०-१)।
[धन + हर + आ (प्र०) < धान्य-]।

धनहा—(सं०) वह खेत, जिसमें धान पैदा होता है (पट०)। दे०—धनहर।
[धन + हा (प्र०) < धान्य- बा हा < हर < खर < कड्ढ < कर्ष-]।

धनहा—(सं०) धान की खेती करनेवाला मनुष्य (प०)।
[धन + हा (प्र०) बा हा < हर < खर < कड्ढ < कर्ष-]।

धनियाँ—(सं०) एक प्रकार का गोल दानोंवाला प्रसिद्ध मसाला। पर्या०—धनी (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[धनियाँ < धनया < धनया-अ < धान्यक-, धानाः (संस्कृ०); धन्न, धराण, धारण (प्रा०); धनिया (हि० नै०, पं०, बँ०, असं०); धनियाँ (ओ०, कुमा०); धानो (सिंह०); धान्वाँ (सिं०= भूना,); धाणा (बहु० पु० — गु०); धाणी (= भूना; —गु०); धानी पाड़ (नै०)]।

धनियामा धान—(सं०) एक प्रकार का धान, जिससे धनिया की-सी गंध आती है (पट०-१)।
[धनियामा + धान (यौ०); धनियामा < धान्यक-, धान < धान्य-]।

धनिष्ठा—(सं०) तेईसवाँ नक्षत्र, धनिष्ठा, यह माघ-कृष्णपक्ष में पड़ता है।
[धनिष्ठा < धन + इष्ठ < इष्ठन् -; धनिट्ठा (प्रा०)]।

धनी—(सं०) (१) धनियाँ (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) स्त्री, पत्नी।
[धन + ई < धनिया < धान्याक-। दे०-धनियाँ]।

धनीवा—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का धान। (गया)।
[धन + ईवा (?) < धान्य < धान बा < धान्याक-]।

धनेश्री—(सं०) एक प्रकार का फूल (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[मिला० धनाश्री (= एक रागिणी) धनाश्रि, धनश्रि (नै०) = एक प्रकार के सुन्दर दाने, जिसकी माला या सुमरनी बनती है]।

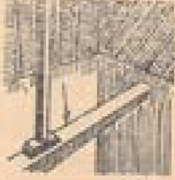
धनेसरी—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[< धनेश्वरी, < धनश्री, < धान्यश्री-]।

धमधम—(सं०) एक प्रकार की आवाज, जो धान कूटने के समय ज्यादातर सुनने में आती है (सा०-१)।
[अनु०]।

धमस—(सं०) झुका देनेवाला भार (मुँ०-१)। (२) धम-धम की तरह की आवाज। (मुँ०-१)।
[अनु०]।



धमाकुल—(सं०) एक प्रकार का तंबाकू, जो बड़े पत्तोंवाला होता है। (पू० बिहा०)।
[तमाकुल (बिहा०)—(?)]।



धरन—(सं०) (१) नील को कुचलनेवाली लकड़ी की शहतीर (उ० पू० मैं०)। दे०—दबौटा। (२) मकान में दी गई वह शहतीर, जिसपर छप्पर आश्रित रहता है।
[धरन- (संस्कृ०, प्रा०); धर्नि (असं०); धरण, धरन (हि०, मरा०, गु०)]।



धरना—(सं०) (१) कुएँ के आर-पार रखा जानेवाला लकड़ी का तख्ता, जिसपर खड़ा होकर पानी निकाला जाता है। (चंपा०, द० मुँ०)। दे०—परिखाठी। (२) धरना देना, किसी काम के लिए किसी के सामने अड़कर पड़ जाना।
[धरन + आ (प्र०) < धारण]।



धरिया—(सं०) धारी में बोने की प्रक्रिया; हल से जोती हुई पंक्तियों में बोने की प्रक्रिया। दे०—धारी।
टि०—धारी या चुटकी लगाने की प्रक्रिया में आगे-आगे हल चलता है और पीछे-पीछे बीज बोनेवाला डाली में बीज लेकर चलता है। हल से जोती गई पंक्ति (धारी) में, जबतक वह पंक्ति (धारी) मिट्टी से ढक नहीं जाती, बोनेवाला बीज गिराता जाता है। इस प्रकार से बोये गये बीज के पौधे अधिक दृढ़ होते हैं, जो जोर की हवा के झोंकों से भी टूटते या गिरते नहीं।
[धर + इया (प्र०) < धर < धारा (= पंक्ति-)]।

धरियाएल—(क्रि०) बोने के लिए धारी (पंक्ति) बनाकर जोतना। दे०—धारी लगाएल।
[धर + इया (प्र०) + आएल (ना० धा० प्र०) < धर < धारा (पंक्ति)]।

धरिआवल—(क्रि०) खेत जोतने के समय हल के पीछे उसके सिराउर में बीज गिराना। (चंपा०-१)।
[धर + इया + आवल (ना० धा० प्र०) < धर < धारा]।

धवई—(सं०) एक प्रकार की मछली (सा०-१)।
[देशी] मिला०—धावली, एक प्रकार का पेड़]।

धवर—(वि०) धूसर (काला-उजला) वर्ण का पशु। पर्या०—धावर, धवर।
[< धवर < धवल-]।

धवही—(सं०) एक प्रकार की मछली। (चंपा०-१)।
[देशी, मिला०—ह्रावनी]।

धसना—(सं०) (१) जमीन का वह खंड, जो भीतर-ही-भीतर खोखला होकर आपसे-आप धँस जाय या नीचे चला जाय (मुं०-१)। (२) वह जमीन, जो पानी में गिर जाती है। पर्या०—गौंजी (गया), जलकी (द० शाहा०), गौंछी (द० मुं०)।
[धस + ना (प्र०) < धसन (बिहा०) < ध्वंसन < √ ध्वंस् वा धर्षण < √ धृष् (धृष्णोति, धर्षति); धसना (हि०); धस्नु (ने०); धसा (बँ०), धसणा (पं०); धसवुं (गु०); धस्णे (मरा०); धाँसळणे; धासळणे (मरा०); 'ल' वर्णवृद्धि के साथ < ध्वंसति (संस्कृ०); धंसइ, धंसति (प्रा०)— ल्वाॅक]।

धसल—(क्रि०) किसी कुएँ या नदी के तट की मिट्टी का गिरना (कच्चे कुएँ के भीतर बगल की कच्ची मिट्टी गिर जाती है)। (चंपा०-१)। पर्या०—धंसल।
[धँस + ल (प्र०) < धस < √ ध्वंस् (संस्कृ०—ध्वंसति, ध्वंसते), धंस् (धंसइ, धंसति — प्रा०); धँसना, धसना (हि०); धस्नु (ने०); धसा (बँ०); धसणा (पं०); धसवुं (गु०); धस्णे (मरा०); धाँसळणे, धासळणे (मरा०) ('ल' वर्णागम के साथ) < √ ध्वंस् (ध्वंसति, संस्कृ०); धंसइ, धंसति (प्रा०)- ल्वाॅक]।

धाँई—(सं०) एक प्रकार का साग।
[देशी]।

धाँगड़—(सं०) गाँवों में रहनेवाली एक जाति, जो उराँव भाषा बोलती है। (चंपा०, पूर्णि०)।

धाँगल—(क्रि०) (१) फसल आदि का कुचलना या रौंदना। (२) रौंदना, खूँदना। (३) झटके देकर चलना। (४) पैदल पहुँचना (मुं०-१)।
[धाँग + ल (प्र०) < √ द्राघ् (द्राघते = घूमता है)]।

धाँसन—(सं०) जानवरों का श्वास-रोगविशेष, जिसमें जोर-जोर से साँस चलती है और खाँसी आती है (पट०-१)।
[धाँसन > ध्वंसन < √ ध्वंस्-(?)]।

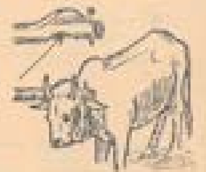
धाकड़—(सं०) वह साँड़, जो दागा नहीं गया हो। (चंपा०-१)।
[धाक + ड़ (प्र०) < धाक (= बैल) अथवा < धायक-। अथवा < ('र' वर्णव्यत्ययात्) < धारक < √ धारि (धारयति गर्भम्)]।

धाकर—(सं०) वह साँड़, जो दागा नहीं जाता है। (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[दे०—धाकड़]।

धाकर छोह—(सं०) वह साँड़, जो अंशतः बधिया किया जाता है। दे०—चौभर।
[धाकर + छोह (देशी)]।

धान—(सं०) एक प्रसिद्ध अगहनी अनाज, जिसके चावल का भात खाया जाता है।
[धान < धन्न ; < धण्ण (प्रा०) ; धण्ण < धान्य- (संस्कृ०); धान (हि०, बँ०, गु०, असा० कुमा०, मरा०); धान् (ने०); धान (पं०); धाँन (लं०); धान्नु (सिं०)]।

धाप—(सं०) (१) हल के जुए का वह भाग, जो बैल की गरदन पर रहता है। (२) एक डग के बराबर की नाप (द० पू० मै०, पट०)। (३) कछार।



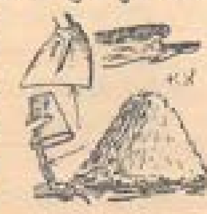
[देशी; धाप (ने०) = कछार। दलदल भूमि। 'खोपे' नामक खेल में वह स्थान, जहाँ गोटी या पैसा फेंका जाता है]।

धामा—(सं०) (१) झउआ नामक लकड़ी की खुली हुई टोकरी। (२) दोहरी बुनाई का टोकरा (दर०-१, पूर्णि०-१)।



[देशी। मिला० - धामन (हि०) = एक प्रकार का बाँस; धामा (ने०) = कार्य, उद्योग]।

धार—(सं०) (१) फावड़े की धार का झुका हुआ अंश। दे०—फरी। (२) नदी-नाला आदि की धारा। (३) किसी हथियार आदि की धार। (४) तरल पदार्थ के गिराने के समय निकलनेवाली धारा।



(५) दूध दुहते समय चलनेवाली दूध की अविच्छिन्न धारा। धार फूटल (क्रि०)—धार का निकलना या चलने लगना।

[धारा (संस्कृ०); धारा (पा०, प्रा०); धारा (कुमा०); धार (असं०, बँ०, ओ०, सिं०, गु०, हिं०, पं०)]।

धार—(सं०) (६) दौनी करने के बाद भूसा मिले हुए अनाज की राशि, जो ओसाने के लिए रखी रहती है। (द० भाग०)। दे०—सिल्ली।

[धार < धारा < ध्वर्य- (?) (= नीचे गिराने योग्य) <√ध्वृ]।

धार असराएल—(क्रि०) फाल की नोंक तेज करवाना (पट०)। दे०—धार पिटावल।

[धार + असर + आएल (ना० धा० प्र०) < धारा + असर; असर < असर (अ०) (?) वा, आशर (= अग्नि) < आ + √शृ + अच्]।

धार पजावल—(क्रि०) फाल की नोंक तेज करवाना (द० मुं०)। दे०—धार पिटावल।

[धार + पजावल; धार < धारा; पजावल < पजाएल < पजारना < प्रज्वलन-(?)]।

धार पिजावल—(क्रि०) फाल की नोंक तेज करवाना। दे०—धार पिटावल।

[धार + पिजावल; धार < धारा; पिजाव + ल (प्र०) < पिजाव < पजाव < पजारना < प्रज्वलन-]।

धार पिटावल—(क्रि०) (१) फाल की नोंक तेज करवाना। (२) फाल या किसी दूसरे हथियार को आग में तपाकर हथौड़े से पीटकर उसे चौड़ा करके तेज करना (शाहा०, गं० उ०)। पर्या०—धार फरगावल (द० प० शाहा०), धार असराएल (पट०), असार (गया), असार पजावल या धार पजावल (द० मुं०, दर०, भाग०), धार पिटावल (गं० उ०), धार पिजावल (उ० प० मै०, सा०), धार बनाएल (उ० पू० मै०), धार कराएल (द० पू० मै०)।

[धार + पिटावल, धार < धारा; पिटाव + ल (प्र०) < पिटना < पीटना < पीड़न (?)]।

धार फरगावल—(क्रि०) फाल की नोंक तेज करवाना (द० प० शाहा०)। दे०—धार पिटावल।

[धार + फरग + आवल (ना० धा० प्र०) < धार < धारा; फरग + आवल, फरग < फरक (< मा) < स्फुरक; < √स्फुर्]।

धार फूटल—(क्रि०) दूध दुहते समय या किसी तरल पदार्थ को नीचे की ओर गिराते समय अविच्छिन्न धारा का चलना।

[धार + फूट + ल (प्र०), धार < धारा, स्फुट <√स्फुट्]।

धार बनाएल—(क्रि०) फाल की नोंक तेज करवाना (उ० पू० मै०)। दे०—धार पिटावल।

धार + बना + आएल (ना० धा० प्र०); धार < धारा, बना < बनल < वण्ण < वर्णन < √वर्ण्]।

धारा—(सं०) (१) दो पसेरी या दस सेर की तौल। (२) नदी-नाला आदि की धारा। (३) किसी तरल पदार्थ के गिराते समय निकलनेवाली धारा।

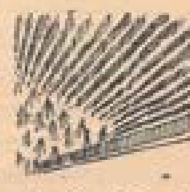
[मिला०-धारक = किसी वस्तु के रखने या जल रखने का पात्र। छह क्षणों का एक काल-परिमाण। धारक > धार क > धारा वा धार]।

धारी—(सं०) (१) धारी में बोने की प्रक्रिया। हल से जोतने पर बनी हुई पंक्ति में बोने की प्रक्रिया। पर्या०—धरिया, चुटकी (गं० द०)।

टि०—धारी या चुटकी लगाने में आगे-आगे हल चलता है और पीछे-पीछे बीज बोनेवाला डाली में बीज लेकर चलता है। जोती गई धारी में, जबतक वह धारी मिट्टी से ढक नहीं जाती, बोनेवाला बीज गिराता जाता है। इस प्रकार, बीज अधिक गहरा चला जाता है और फसल होने पर उसके डंठल अधिक दृढ़ होते हैं, जो हवा के झोंकों से टूटते या गिरते नहीं।

[धारा + ई < धार < धारा]।

(२) हल के द्वारा जोतने से बनी हुई वह गहरी लकीर, पंक्ति या सीता, जिसमें दूसरे अनाज बोये जाते हैं, विशेषतः खेत के किनारे एक कोने से दूसरे कोने तक की पंक्ति (सा०, गया)। दे०—सेवात।



(३) पंक्ति, रेखा।

[धार + ई (प्र०) < धार < धारा]।

(४) खेत के एक छोर से दूसरे छोर तक पौधों की सीधी पंक्ति। पाँती। (५) दो खेतों के मध्य में दी गई एक पतली सीमांत-रेखा (सा०-१)। पर्या०—डेर, गोरपरिया, पगडंडी। (६) कबड्डी के खेल की लकीर। (७) पाँत, रेखा।

[धार + ई (प्र०) < धार < धारा]।

धारी लगाएल—(क्रि०) बोने के लिए धारी (पंक्ति) बनाकर जोतना। दे०—धरियाएल।

[धार + ई (प्र०) + लगा + आएल (ना० धा० प्र०), धारी < धार < धारा, लगा + आएल; < लगा < √ लग्]।

धावर—(सं०) धूसर (काला-उजला) वर्ण का पशु। दे०—धवर।

[धावर ('आ' वर्णागम के साथ) < धवर < धवल-]।

धिमोई—(सं०) एक पशुखाद्य घास (गया, प० द० मुं०)।

[देशी]।

धीरा बादर—(सं०) वह बैल, जिसका चमड़ा मोटा और पूँछ लंबी होती है (पट०-१)।

धुअइंधवा—(सं०) वह आम, जिसका स्वाद धुएँ से पके अनाज-जैसा हो (पट०-१)।

[धुआ + इंधवा < धूमगन्ध-]।

धुमना, धूमना—(सं०) धूप की लकड़ी या गोंद। (मुं०-१)।

[धुमन (धूमन + 'आ' वर्णागम के साथ) < धूमन, धूनी (हिं०) < धूमन (?) धूप, (?)]।

धुमनामा—(सं०) एक प्रकार का खट्टा आम (द० भाग०)। दे०—धूमनाहा।

[धुमन, + आमा < धुमन + आम, धुमन (?) वा < धूम- (?)]।

धुम्मा—(सं०) मोटा, तनिक सूँड़दार और सफेद एक अगहनी धान, जिसका चावल लाल होता है। (सा०-१)। (वि०) मोटा।

[देशी, मिला०—धूम्र-]।

धुरई—(सं०) (१) दो ऊँचा लंबा स्तंभ, जिसपर लाठा लटकता रहता है (प०)। दे०—खंभा। (२) कुएँ के पास गाड़ा गया दो नोंकवाला खम्भा, जिसपर मोट या पानी खींचने की चिरनी नाचती है (गं० द०)। दे०—धुरही।

[धुर + ई (प्र०) < धुर < धुर् या धुरी। धुरई (हिं०)]।

धुरकट—(सं०) (१) काठ का वह टुकड़ा, जो धुरी को जकड़कर रखता है। दे०—धुरकाठ। (२) गाड़ी का एक हिस्सा (दर०-१, पूर्णि०-१)। पर्या०—धुरकट।



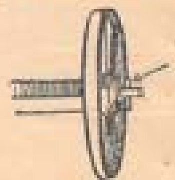
[धुर + काठ < धुर् + काष्ठ]।

धुरकिल्ला—(सं०) गाड़ी का एक हिस्सा, जो धुरी, तथा वैतलिया का संयोजक होता है। (दर०-१, पूर्णि०-१)।



[धुर + किल्ला < धुर् + कील-]।

धुरकिल्ली—(सं०) धुरे के अंत में पहिया के बाद लगी हुई कील, जो पहिये को गिरने से बचाती है। पर्या०—रनकिल्ली (गया, पू० मुं०), कील (शाहा०), पचाड़ (पू० मुं०, गया, दर०)।

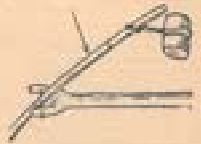


[धुर + किल्ली < धुर् + कील-]।

धुरघुस्सा—(सं०) सूखी जमीन में समय के पहले धान की बोआई (द० मुं०)। दे०—खरहर बावग।

[धुर + घुस्सा, धुर < धूर < धूलि (सूखे अर्थ में प्रयुक्त) + घुस्सा < धुस्स < ध्वंस (?)]।

धुरही—(सं०) (१) ढेंकुल (लाठा) में लगी लकड़ी या बाँस की लग्गी (द० प० मुं०)। दे०—बाँस।



[धुर + ही (प्र०) < धुर < धुर्]।

धुरही—(सं०) (२) कुएँ के पास गाड़ा गया दो नोंक-वाला खंभा, जिसपर चिरनी नाचती है। पर्या०—खम्हा (उ० प०, द० मुं०), धुरई (गं० द०), धोरैया (शाहा०), असेर, दसेर (गया), खंभा, खम्हा (पट० चंपा०, द० पू०), धुन्ही (पट०, शाहा०), दोकानी (द० पू०)।

धुरा—(सं०) बैलगाड़ी के पहिये में लगा लकड़ी या लोहे का वह आधार, जिसके सहारे पहिया घूमता है और गाड़ी चलती है (पट०-१)।

, जो धुरी को

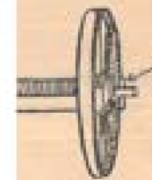


।

सा, जो धुरी,



ा के बाद लगी

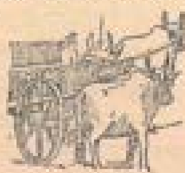


य के पहले धान
रहर बावग।
लि (सूखे बर्ष में
(१)]।
गी लकड़ी या



गया दो नोंक-
है। पर्या०—
ई (सं० द०),
(गया), खंभा,
शुन्ही (पट०,
गा लकड़ी या
सहारे पहिया
ट०-१)।

धुरिया—(सं०) (१) तीन बैलों द्वारा खींची जानेवाली गाड़ी में पहिये के नजदीक चलनेवाले दो बैल। दे०—धुरी। (२) अन्न तौलनेवाले पुरुष का शुल्क, जो प्रायः प्रतिमन पाव-भर होता है (पट०, चंपा०)। दे०—हटवाई।



[धुर + इया (वि० प्र०) < धुर < धुर्-। मिला०—धुर्य-]।

धुरिया बावग—(सं०) सूखी जमीन में समय के पहले धान की बुआई (सं० उ०)। दे०—खरहर बावग।

[धुरिया + बावग, धुरिया < धूर < धूलि-; बावग < वाप-, < वापक- < √ वप्]।

धुरी—(सं०) (१) गाड़ी आदि का धुरा। (२) मरवदाचक में लगी लोहे की कील, जिसपर मूल चक्र नाचता है (पट०-१)।

धुरुष—(सं०) एक कड़ी मोटी घास, जो बिना जोती हुई जमीन पर, जहाँ हर वर्ष बाढ़ आया करती है, फैल जाती है। इसकी सफाई खोदने से ही होती है (द० भाग०)। दे०—चपड़ा।

धुरीं—(सं०) (१) मोट खींचने के लिए खड़ी घिरनी की धुरी, जिसपर घिरनी घूमती है और मोट की रस्सी कुएँ से बाहर आती है और भीतर जाती है। (गाइड०)। (२) धुरी।

धुसरा—(सं०) (१) मटमैला, हल्का लाल, एक प्रकार का सिन्दूरी धान (मुं०-१)। पर्या०—धूसर। (२) एक प्रकार का धान, जो छींट (बावग) कर बोया जाता है (गया)।

धुसरि—(सं०) दे०—धुसरी।

धुसरी—(सं०) एक प्रकार का धान, जो जेठ में बोया जाता है; कभी इसका बावग होता है, कभी वह रोपा जाता है। समूचे तिरहुत में प्राप्य है। पर्या०—धुसरि।

[धुसर + ई (प्र०) < धुसर < धूसरक-]।

धुसुरा—(सं०) एक मोटा धान (चंपा०-१)।

[धुसर + आ < धूसरक-]।

धूंकल—(क्रि०) फल आदि को पकाने के लिए जमीन में गाड़कर ऊपर से किसी दूसरी जगह पर, जिसका संबंध एक छेद के द्वारा गड्ढे से होता है, आग रखकर फूंकना।

[धूंक + ल (ना० धा० प्र०) < धूमकन (धुआँ करना) अथवा < धूक- (=वायु)। मिला०—धमति< ध्मा (= धमति)।

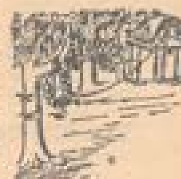
धूंध—(सं०) दिन का कुहरा। दे०—धून।

[धूं + ध < धूमान्ध-वा < धूम्रान्ध-]।

धू—(सं०) अनाज के अलावा खेत में स्वयं उत्पन्न होनेवाले पौधे, तृण, घास आदि (मै०)। दे०—घास।

[देशी]।

धूआ—(सं०) चिड़ियाँ आदि के उड़ाने के लिए खेत में लगे हुए टिन आदि, जो पेड़ से लटकाये रहते हैं और जिसे रस्सी से खींचते हैं। उनके बजने से पक्षी, शृगाल आदि खेत से भाग जाते हैं। दे०—डबडबवा।



[देशी। मिला०—धूत-, धुव- < √धू (= धुनना, कँपाना]।

धून—(सं०) दिन का कुहरा, धूंध।

[धून < धूंध < धूमान्ध-, धूम्रान्ध-]।

धूनी—(सं०) तंबाकू का बीजकोष (सा०)। पर्या०—फर (चंपा०), बिश्नी (मै०)।

[देशी]।

धूमनाहा—(सं०) गुण के अनुसार खट्टे आम का एक भेद (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी (?), धूमनाहा < धूमन + आहा < धूमन <धूम]।

धूमा खेड़हा—(सं०) एक प्रकार का धान (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी]।

धूर—(सं०) (१) एक लग्गी लंबी और एक लग्गी चौड़ी जमीन। यह लग्गी प्रायः पाँच हाथ की लंबी होती है, किंतु कहीं-कहीं चार या छह या सात या दस हाथ तक की भी होती है। (२) जलाशय या अहरे का बाँध (उ० मै०)।
दे०—अहरा।

[धूर < धुर् (संस्कृ०); धुर (हिं०, पं०); धुरी (सिं०), धुरा (मरा०) = सीमा; धुरो (ने०) = जुए के बीच का स्तंभ]।

(३) बधिया किया हुआ बैल (गया)। दे०—बरध। (४) परिवार के उपयोगी पालतू पशुओं में मुख्य (पट०, गया)। दे०—मवेशी।

[< धुर्य-]।

धूरडाँगर—(सं०) भैंस को छोड़कर सींगवाले शेष पालतू पशु (पट०, गया)। दे०—गोरू।

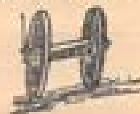
[धूर + डाँगर; धूर < धुर्य; डाँगर (देशी) डाँगर (हिं०); डाँगर (पं०); डाँगो (ने०) = कुत्ता]।

धूरदाह—(सं०) जिस खेत में पानी नहीं हो, उसकी बिदहनी (द०, चंपा०)।
[धूर + दाह ; धूर = धूरी < धूलि ; दाह < √दह्]।

धूरदाहल—(क्रि०) सूखे खेत को जोतकर हेंगा देना।
[धूर + दाहल ; धूर < धूलि ; दाहल (देशी ?) < √ दह्]।

धूरया—(सं०) एक कड़ी मोटी घास, जो बिना जोती जमीन पर, जहाँ हर वर्ष बाढ़ आया करती है, फैल जाती है। इसकी सफाई खोदने से होती है। (पट०, गया, द० मुं०)। दे०—चपड़ा।
[देशी]।

धूरा—(सं०) दोनों पहियों से संबद्ध वह साधन-विशेष, जो गाड़ी में लगा रहता है और पहियों को झुकने या गिरने से बचाता है। यह लकड़ी या लोहे का बना होता है।



[धूर + आ (वर्णागम) < धुर्- ; धुरी, धुरा (हिं०); धुरो (ने०); धुर (बं०)]।

धूरी—(सं०) तीन बैलों द्वारा खींची जानेवाली गाड़ी के पहिये के नजदीक रहनेवाले बैल। पर्या०—धुरिया (प०), जोड़ी (पू०)।
[< धुर्य-]।

धूरी—(सं०) दोनों पहियों से संबद्ध वह साधन-विशेष, जो गाड़ी में लगा रहता है और पहियों को झुकने या गिरने से बचाता है। यह लकड़ी और लोहा दोनों का बना होता है। पर्या०—धुरी, धूरि।
[धूर + ई (प्र०) < धुर्-]।

धूस—(सं०) मिट्टी और बालू मिली हुई धूसर जमीन (चंपा०, द० पू० मैं०)। पर्या०—धूसी।
[धूस < धूसर-]।

धूसर—(सं०) (१) दे०—धुसरा (मुं०-१)। (२) रेतीली जमीन (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—धूसर। (३) वह भैंस, जिसकी गुदा के ऊपर गिल्टी हो (पट०-१)। (वि०) मटमैले वर्ण का।
[धूसर-]।

धूसरा—(सं०) (१) एक प्रकार का धान (चंपा०-१)। (२) वह बैल, जिसके गुदा-द्वार के पास गिल्टी या अतिरिक्त मांसपिंड हो (पट०-१)।
[धूसर + आ (प्र०) < धूसर-]।

धूसी—(सं०) मिट्टी और बालू मिली हुई धूसर जमीन। दे०—धूस।
[धूस + ई + धसर-]।

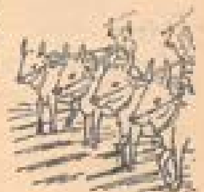
धूसी—(सं०) दोमट (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[धूस + ई < धूसर- (?) या < ढूंस < ध्वंस]।

धूह—(सं०) चिड़ियाँ आदि को डराने के लिए खेत में लगा हुआ टिन या ताड़ का पत्ता आदि। पर्या०—धूहा, पुतला (पट०), डहीं (गया)।
[देशी]।

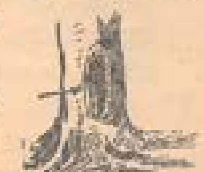
धूहा—(सं०) चिड़ियाँ आदि को डराने के लिए खेत में लगा हुआ पुतला। दे०—धूह।
[देशी]।

धेबली—(सं०) उजले रंग का बड़े दानोंवाला मटर (द० पू० मैं०)। दे०—कबिली।
[धेबल + ई + धवल-]।

धैली—(सं०) जिस हेंगा में चार बैल जोते जाते हैं, उसमें सबसे बाईं तरफ बहनेवाला बैल (चंपा०-१)।
[देशी]।



धोधड़—(सं०) किसी पेड़ का कोटर। (चंपा०-१)।
[देशी; मिला०—धोंध + ड़ < धुंध < धूमान्ध-]।



धोअन—(सं०) बरतन के धोने से निकली हुई असार अफीम (गं० उ०)। पर्या०—धोई (गं० द०), धोए (द० पू०)। (वि०) चावल आदि धोने के बाद निकला पानी, धोवन।
[धोअन < धोवन < धावन < √ धाव्]।

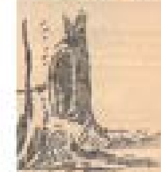
धोआँच—(सं०) पानी में फुलाकर धोई हुई दाल (द० शाहा०)। दे०—धोई।
[धो + आँच < धोअ + आँच < धोअ (प्रा०) < धौत-; आँच < अच्छ (?)]।

धोआ—(सं०) धान या पटुआ के डंठल से निकाले हुए रेशे की एक राशि (बंडल) (द० मैं०)। दे०—लरछा।
[धोअ + आ (वर्णागम) < धोअ (प्रा०) < धौत-]।

धोई—(सं०) बरतन के धोने से निकली हुई असार अफीम (गं० द०)। दे०—धोअन।
[धोई + धोव < धोअ (प्रा०) < धौत-]।

धोए—(सं०) बरतन के धोने से निकली हुई असार अफीम (द० पू०)। दे०—धोअन।
[धोए < धोअ (प्रा०) धौत-]।





धोधर—(सं०) कुएँ के अंदर बगल की दीवार के किसी भाग के गिरने से गड्ढे के रूप में बना हुआ स्थान। (चंपा०, द० प० मै०)। दे०—खोखर।
[धोध + र < धुंध < धूमान्ध-, < धमान्ध-]। मिला०—धर्ति-(वैदिक)= नाश, पतन]।

धोबियाधान—(सं०) एक प्रकार का धान (पट०-१)।

धोबिनियाँ सीम—(सं०) उजले रंग की छोटी सीम (पट०-१)।

धौंग—(सं०) लकड़ी की बनी नाली, जो प्रायः ताड़ के पेड़ की बनी होती है (गाइड०)।

धोका—(सं०) शाक-विशेष (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[मिला०—धूमक-]।

धौर—(सं०) धूसर (काला-उजला) रंग का मवेशी। दे०—धवर।
[धौर < धउर < धवर < धवल-]।

धौरा—(सं०) किसी धारा के साथ-साथ बहनेवाली एक दूसरी सीधी धारा, जो नीची जमीन की ओर बहती है। (गाइड०)।

धौरेया—(सं०) कुएँ के पास गाड़ा हुआ दो नोंकवाला खंभा, जिसपर घिरनी नाचती है (शाहा०)। दे०—धुरही।
[< धौरेय, धुरीय < धुर्-]।

धौरेया—(सं०) दोकानी ऊँचा लंबा स्तंभ, जिसपर लाठा लटकता रहता है (पट०, शाहा०)। दे०—खंभा।
[< धौरेय, धुरीय < धुर्-]।

न

नँगड़ी—(सं०) पूँछ, दुम। (मुँ०-१)।
[नँगड़ + ई (प्र०) < नँगड़ < नंगूल, लंगूल, नंगोल (प्रा०) < लाङ्गूल- (संस्कृ०); नांगोड, नंगोड़ा (मरा०); लंगुर, लंगुल (गु०); नगल, नङ्गुट (सिं०)]।



नँदिया—(सं०) वह बैल, जिसकी देह पर जटा की तरह अतिरिक्त मांसपिंड निकला हुआ हो, बसहा बैल (पट०-१)।
[नँदिया < नन्दी < नन्दिन्]।

नकछिकनी—(सं०) गोखुर की तरह, खाली जमीन पर फैलनेवाली काँटेदार एक घास, जिसके पत्तों और डंठलों में काँटे होते हैं और फूल बैंगनी तथा फल पीले रंग के होते हैं। दे०—रेंगनी।
[नक+छिकनी, नक < नाक<नक्क (प्रा०) < नक्र-(?) अथवा नासिका < नस-, नासा (संस्कृ०); नाक (हिं०, असः०, मरा०, गु०); नाकु (सिं०); नक्क (पं०, स०); नकुर (सिंह०); छिकनी < छींकल (बिहा०); छिकना (हिं०) < छींक < छिक्का (अनु०-संस्कृ०)]।

नकटी—(सं०) (१) एक प्रकार की चोइंटा-रहित मछली। (सा०-१)। (वि०) नाककटी कोई स्त्री।
[देशी, वा नक + टी < नाक + कटी]।

नकदी—(सं०) (१) नकद चुकता होनेवाला राजस्व (गाइड०)। दे०—नकदी। पर्या०—नकदी लगान। (२) वह वस्तु, जसका मूल्य नकद दिया जाय।
[नकदी < नक़्द (अ०)]।

नकदी लगान—(सं०)। दे०—नकदी।

नकपाँचो—(सं०) (१) पाँचवाँ नक्षत्र, रोहिणी से पंचम पुष्य नक्षत्र। (२) पाँचवें नक्षत्र पर मनाया जानेवाला उत्सव।

टि०—धान की फसल के लिए जेठ में रोहिणी नक्षत्र में उसे बो दिया जाता है और उससे पाँचवें नक्षत्र पुष्य में, सावन पाँच दिन बीतने पर, पटना जिले में 'नकपाँचो' उत्सव मनाकर धान का बीज (मोरी) उखाड़कर रोपा जाता है। धान की कटनी प्रायः अगहन में होती है। सामान्य कटनी के पहले 'बिसुनपिरित', 'बिसुनरिया' (सा०) या नेवान (नवान्न-भक्षण) (मैं०, द० भाग०) के लिए थोड़ा-सा धान काटकर, उसे तैयार कर, चूड़ा आदि बनाकर हवन और ब्राह्मण-भोजन कराया जाता है। अनन्तर समूची कटनी में हाथ लगाया जाता है।
[नक + पाँचो < नक्षत्र + पञ्चम-]।

नकलोल—(सं०) ऊँट की नाक की रस्सी (शा०)। दे०—नकेल।
[नक + लोल, नाक +लोल (?) मिला०—नकेल < नक + एल < नाक + कील]।



नकसा—(सं०) वह कागज, जिसपर पूरे गाँव की जमीन का मानचित्र रहता है (पट०-१)। (२) मानचित्र।

नकसोथ—(सं०) थोड़ा खानेवाला पशु (पट०, गया)। दे०—निखोराह।
[नक + सोथ < नाक + सोथ; सोथ < सुगन्ध-]।

नकेल—(सं०) (१) ऊँट की नाक में बँधी रस्सी। (२) नाक में लगाई जानेवाली रस्सी। (३) बंधन की रस्सी। (४) वह रस्सी, जिसे घोड़े की नाक पर बाँधकर एक लकड़ी के सहारे ऐंठते हैं, ताकि घोड़ा शांत रहे। (चंपा०-१)।

[नक + एल < नाक + कील]।

नकैल—(सं०) (१) ऊँट की नाक की रस्सी। (२) नाक में लगाई जानेवाली रस्सी। पर्या०—नकेल, नकसोल (सा०)।

[नक + ऐल < नाक + कील-]।

नक्की मालभोग—(सं०) एक अगहनी धान जो लंबा, महीन सूँड़दार और सुगंधयुक्त होता है, जिसका चावल छोटा एवं दूध की तरह उजला होता है (सा०-१)। पर्या०—वासमती।

[नक्की + माल + भोग, नक्की < नक्र (?) माल (फा०); भोग < भोग- < √ भुज्]।

नखत—(सं०) नक्षत्र, अश्विनी आदि २७ नामों से प्रसिद्ध तारों का एक विशिष्ट समूह। पर्या०—नछतर, निछतर।

टि०—अश्विनी आदि २७ (अभिजित् लगाकर २८) नक्षत्र माने जाते हैं। २७ नक्षत्र वर्ष में एक बार घूम जाते हैं। प्रायः एक मास में २¼ नक्षत्र का निवास होता है। कृषि-कार्य इन्हीं नक्षत्रों के आधार पर होता है। पंचांगों के अनुसार नक्षत्रों की दो धाराएँ हैं। एक है दैनिक, जो प्रतिदिन करीब ६० दंड या २४ घंटे में अपनी एक यात्रा पूरी करते हैं। अर्थात्, चंद्रमा की यह नक्षत्रविषयक दैनिक स्थिति हुई और २¼ नक्षत्र बराबर एक राशि के हुआ। इस प्रकार महीने में सब नक्षत्र क्रम से एक बार आते हैं। इनकी दूसरी धारा मासिक है—कम-से-कम एक नक्षत्र की स्थिति १३ दिन और अधिक-से-अधिक १६ दिन है। इसमें हथिया १६ दिन रहता है। किसी भी नक्षत्र के रहने का या 'अब हथिया है', ऐसे प्रयोग का अर्थ है कि सूर्य की गति के माप के लिए ये नक्षत्र या राशि एक निर्धारित चिह्न हैं। इन नक्षत्रों की गणना के अनुसार ही यहाँ की खेती आदि का आरंभ होता है और उसी गणना के अनुसार मानसून आदि का ज्ञान यहाँ के किसान करते हैं।

[< नक्षत्र-]।

नखी—(सं०) एक प्रकार का धान (चंपा०-१)। दे०—नक्की मालभोग।

[< नख (?)]।

नगद—(सं०) (१) वह धन, जो सिक्कों के रूप में हो। (२) जिसका मूल्य रुपये-पैसे आदि में दिया या चुकाया जाय। पर्या०—नगदानगदी, रोक।

[नक़्द (अ०)]।

नगदी—(सं०) (१) वह जमीन, जिसकी मालगुजारी नगद रुपये के रूप में दी जाती है। (२) वह माल, जो नगद रुपये देकर खरीदा जाता है।

[नगद + ई (प्र०) < नगद < नक़्द (अ०)]।

नगदी—(सं०) (१) वह भूमि, जिसका भूमिकर नगद रुपये में चुकाया जाता हो। दे०—मनखप। पर्या०—खाप (पू० मै०)।

टि०—गया में भूमिकर के लिए एक अनोखी प्रणाली थी। वहाँ ⅔ भावली भूमि थी। नगदी का भी भूमिकर असाधारण रीति से निश्चित किया जाता था। वहाँ नगदी भूमि दो प्रकार की होती थी। एक सिकमी या शिकमी और दूसरी चिकट या चकठ।

सिकमी—जबतक भूमि रैयत के अधीन रहती थी, तबतक जमींदार उसका कर बढ़ा नहीं सकते थे। हाँ, उसका कर क्षेत्र की उर्वरा शक्ति एवं अधिकारी व्यक्ति को देखकर निश्चित किया जाता था, न कि भूमि के अनुपात से। यदि अधिकारी ऊँची जाति का हो और भूमि उर्वर या उपजाऊ भी हो, तो भी उसी भूमि के अधिकारी एक छोटी जाति की अपेक्षा ऊँची जातिवाले को भूमि का कर कम देना पड़ता था। यह उर्वर भूमि 'डिहासि' कहलाती है। जो गाँव की आबादी के पास में होती और जिसकी उपज दूसरी भूमि की अपेक्षा अधिक होती थी। इसका कर भी अपेक्षाकृत अधिक होता था। यथा—एक ब्राह्मण यदि इस ढंग की डिहासि भूमि में प्रथम वर्ष अफीम की खेती करता था और दूसरे वर्ष उसी में रब्बी की, तो वह पहले वर्ष अधिक और दूसरे वर्ष कम भूमिकर चुकाता था। किन्तु, उसी में यदि कोई छोटी जाति का रैयत खेती करता था, तो उसे दोनों वर्षों में ब्राह्मण की अपेक्षा अधिक कर देना पड़ता था। प्रत्येक रैयत के पास कुछ-न-कुछ सिकमी भूमि होती थी। भले ही, उसका कर थोड़ा अधिक हो।

यदि कोई रैयत भावली भूमि में अफीम की खेती करता, तो उसे हर बार भावली भूमि की दर से कर चुकाना पड़ता था। किन्तु, वह उस गाँव की अपनी श्रेणी के अनुसार यथानिर्दिष्ट नगदी कर भी दे सकता था। किसी-किसी अधिकारी के अनुसार सिकमी भूमि का कर बदलता नहीं था, बल्कि निश्चित रहता था। अफीम, ऊख आदि की विशिष्ट उपज में कर परिवर्तित होता था। यह मत श्रीग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'बिहार पीजेंट लाइफ' में व्यक्त किया है। (२) नगद लिया जानेवाला भूमि-राजस्व (पट०-१)।

नगदी बिगहा—(सं०) अधिकार में रहनेवाली जमीन का निश्चित लगान (मुं०-१)।
[नगद + ई (प्र०) + बिगहा < नक़्दी (अ०) + बिगहा < विग्रह- (?)]।

नकड़ि—(सं०) पशुओं की दुम (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[नकड़ + इ < नंगड़ < नंगूल (प्रा०); < लांगूल- (संस्कृ०)]।

नचेड़िया—(सं०) नौगाछी, नया पेड़ (मुं०-१)।
[देशी]।

नछतर—(सं०) (१) नक्षत्र, अश्विनी आदि २७ नामों से प्रसिद्ध तारों का एक विशिष्ट समूह। दे०—नखत। (२) भाग्य।
[नछतर < नक्षत्र < न + क्षत्र-]।

नजरबाग—(सं०) किसी मकान आदि से संबद्ध बागीचा, जिसमें फल-फूल के पेड़ लगाये जाते हैं। दे०—खानै बाग।
[नजर + बाग (फा०)]।

नजराना—(सं०) ग्राम-निरीक्षण में आने पर किसानों द्वारा जमींदारों को दिया गया उपायन। (पट०-१)। पर्या०—सलामी।
[नजर + आना (प्र०) < नज़र (अ०)]।

नजर गुजर—(सं०) (१) बुरी नजरों से फसल को बचाने के लिए कृषकों द्वारा खेत में कालिख लगी हाँड़ी रखने की प्रक्रिया (द० मुं०)। (२) खेत में रखी गई काली हाँड़ी। दे०— टोटका।
[नजर + गुजर (फा०) का देशी नामकरण]।

नजर गोजर—(सं०) (१) बुरी नजर से फसल को बचाने के लिए कृषक द्वारा खेत में कालिख लगी हुई हाँड़ी रखने की प्रक्रिया (शाहा०)। (२) खेत में रखी गई काली हाँड़ी। दे०—टोटका।
[नजर + गोजर < नजर + गुजर (फा०) का देशी नामकरण]।

नटवा—(सं०) (१) छोटा (बौना) बैल। दे०—नाटा। (सा०-१)। (वि०)—नाटा।
[नट + वा (अल्पा० प्र०) < नट; वा < नाटा < नत < √ नम् (?)]।

नढ़िया—(सं०) (१) गीदड़, सियार। (२) ताड़ का फूल, बलरी। (वि०) नंगा, नाढ़ा (मुं०-१)।
[देशी]।

नथिया—(सं०) (१) मोट और कड़ी दोनों को जोड़नेवाली रस्सी (द० प० मै०)। दे०—नथियारी। (२) नाक में पहनने का एक गोल आभूषण।
[नथ + इया (प्र०) < नथ < नाथ (?) या नस्त < नस् (= नासा)]।



नथियारी—(सं०) मोट और कड़ी दोनों को जोड़नेवाली रस्सी। पर्या०—सोरही, नथिया (द० प० मै०)।
[नथ + इयारी (प्र०) < नथ < नस्त < नस् (= नासा)]।

नदकोला—(सं०) मिट्टी का बना छोटा नाद (पट०-१)।

नदहा—(सं०) मवेशियों को घास-भूसा आदि खिलाने के लिए मिट्टी का कुछ गहरा और गोल बरतन सा०-१)। दे०—नाद।
[नद + हा (प्र०) < नद < नन्दक (हि० श० सा०)]।

नदी—(सं०) नदी, दूरतक बहनेवाला प्राकृतिक जल-स्रोत (गाइड०)। पर्या०—दरिया का सोता।

नद्दी—(सं०) पहाड़ों या बड़ी झीलों से निकले जल-प्रवाह का प्राकृतिक भाग, नदी। पर्या०—नद्दी (द० भाग०)।
[नद् (द का आगम)+ ई (प्र०) < नदी < नद् + ई < नदट् < √ नद् (अव्यक्त शब्द करना), नदि; नई (प्रा०), नदी (हि०); नदि (ने०)]।

नधना—(सं०) ऊख के कोल्हू की मथानी को उसके सीधे खड़े खंभे (हरसा) से बाँधनेवाला रस्सा (चंपा०)। दे०—नाधन।
[नाधना < नध < नद् + अ (प्र०) < √ नह्]।

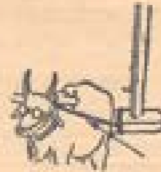
नधान—(सं०) (१) ऊख के कोल्हू की मथानी को उसके सीधे खड़े खंभे से बाँधनेवाला रस्सा (मै०)। यह उस समय की बात है, जबकि कोल्हू

पत्थर या लकड़ी का होता था, जैसाकि आज भी तेल का कोल्हू होता है। दे०—नाधन।

[नधान < नाधन < नहन < √ नह् (=नह-बन्धने)]।

नधान—(सं०) (२) सिंचाई करनेवाले लाठे को बाल्टी से मिलानेवाली छोटी रस्सी, जिसमें सरकनेवाली गाँठ (फंदा) रहती है (सा०)। दे०—पनछोर।

नधावरता—(सं०) ऊख के कोल्हू की कतरी और जुए को मिलानेवाला चमड़े का तस्मा। (गया)। दे०—नाधा।



[नधा + बरता; नधा < नध- < √ नह् + ध (प्र०); बरता < बरत्रा (रस्सी, तस्मा)]।

ननकटनी—(सं०) फसल के डंठल को छोड़कर केवल बाल की कटाई (पू० मैं०)। दे०—बलकट।

[नन + कटन + ई (प्र०); नन < नन्ह (नन्हा-हिं०); लहु (प्रा०) < लघु- (संस्कृ०); (नन्हा < न्यंच, न्यून—हिं० श० सा०); कटनी < कर्त्तन < √ कृत्। मिला०—नानि (ने०) = छोटा बच्चा; नानि <तलघ्न (संस्कृ०); लन्ह (प्रा०); नाने (कुमा०); नन्हा (हिं०, पं०); लहान (मरा०)—(नेपा०)। मिला०—नाना = आदरसूचक संबोधन, नानी = (मरा०), नना (संस्कृ०-वैदिक) = माता; नेनोस (ग्रीक) = चाचा, नोनस (लै०); नना (स्पू०); नन (अं०)— (व्यु० को०)]।

ननकिरवा—(सं०) (१) छोटा (बौना) बैल। दे०—नाटा। (२) छोटे बच्चे के लिए प्यार का प्रयोग (द० पू० मैं०)।

[नन + किरवा, नन < नन्हा < लघु (दे०—ननकटनी); किरवा < किर + वा (स्वना० प्र०) < किरि-, कीट-]।

ननकर—(सं०) नोनिया नामक जाति के लोगों से लिया जानेवाला नमक-कर (पट०-१)।

नन्हकटनी—(सं०) फसल के डंठल को छोड़कर केवल बाल की कटाई, (द० मुं०)। दे०—बलकट।

[नन्ह + कटन + ई (प्र०); नन्ह < लघु। दे०—ननकटनी। कटनी < कर्त्तन < √ कृत्]।

नन्हिया—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का धान (मैं०)।

[देशी। मिला०—नन्हा (छोटा), नन्हा + इया (प्र०) नन्ह < नन्हा < लघु। दे०—ननकटनी—ननोई (हिं०)=एक प्रकार की जंगली घास, जो बरसा में स्वयमेव उगती है, सेनी की जाति का धान (हिं० श० सा०)]।

नन्हिया जनेर—(सं०) एक प्रकार का भदई अनाज, जो उजला या लाल एवं गोल और वृंत पर चिपटा होता है; इसका आटा या भुंजा खाया जाता है; इसका पौधा लंबा और पौधे के ऊपर अधखिले कमल-जैसा अन्न का गुच्छा होता है। मकई से अलग करने के लिए 'नन्हिया' शब्द दिया गया है। (पू० मुं०)। दे०—जनेर।

[नन्हिया + जनेर, नन्हिया < नन्हा + इया (प्र०) < लघु-, जनेर < ज + नेर < यवनाल-]।

नपना—(सं०) निश्चित माप का बरतन (मुं०-१)। पर्या०—नपाही।

[नप + ना (प्र०) < नप < नाप < माप (?)। मिला०—नाप्नु (ने०) = नापना; नाप < ज्ञाप < णाप (पा०); णाप (प्रा०); ज्ञाप्यते (संस्कृ०); ञापेति (पा०); णप्पइ (प्रा०); नाप्नो (कुमा०); नापना (हिं०, बं०) – (नेपा०)]।

नपही—(सं०) ताड़ी नापनेवाला मिट्टी का छोटा बरतन (सा०)। दे०—नापा।

[नप + ही (प्र०) < नप् < नाप। दे०—नपना]।

नपाली—(सं०) एक प्रकार का उजला आलू (गं० उ०)। दे०—मलदहिया।

[नपाल + ई (प्र०) < नेपाल-]।

नपाही—(सं०) दे०—नपना (मुं०-१)।

[नप + आही (वि० प्र०) < नप < नाप। दे०—नपना]।

नफर—(सं०) वह परम्परागत नौकर या दास, जो अपने जमींदार स्वामी की इच्छा के बिना न तो उस परिवार को छोड़ सकता है, या विवाह कर सकता है, और न कोई दूसरा काम ही कर सकता है (गया, पट०, द० मुं०) पर्या०—कमियाँ (गया, पट०, द० मुं०)।

[नफ़र (अ०)]।

नबाद खेत—(सं०) धान बोने के लिए जोती गई नई गैर-आबाद जमीन (गं० उ०)। दे०—खिलमार।

[न + बाद + खेत, न + बाद < नया + आबाद (फा०) + खेत < क्षेत्र-]।

नबघर—(सं०) नया हल (चंपा०)। दे०—नवठा।
[नब + घर < नव + हर < नव + हल-]।

नबका—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिससे उनकी गरदन झुक जाती है (पट०-१)।

नम्हल—(क्रि०) खेत में चरने के लिए पशुओं का स्वयमेव घुसना। पर्या०—नाम्हल।
[नम्ह + ल (प्र०) < नम्ह < लम्ह < लह्
< √ लङ्घ्]।

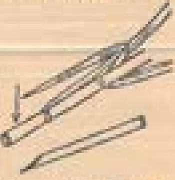
नम्हावल—(क्रि०) पशु आदि को चराने की गरज से खेत या किसी फसलवाली जगह में घुसाना (मुं०-१)।
[नम्ह + आवल (प्रे० क्रि० प्र०) < नम्ह
< लम्ह < √ लङ्घ्]।

नम्हेर—(सं०) कटनी के समय जमीन पर गिरा हुआ अनाज का वह दाना, जो समय आने पर उग जाया करता है (द० मुं०)। दे०—लमेरा।
[देशी - (?)]।

नम्हेरो—(सं०) कटनी के समय जमीन पर गिरा हुआ अनाज का वह दाना, जो समय पर उग जाया करता है (द० भाग०)। दे०—लमेरा।
[देशी - (?)]।

नयनसुरखा—(सं०) जानवरों का एक नेत्ररोग, जिसमें उनकी आँखें जुकाम के कारण लाल हो जाती हैं (पट०-१)।
[नयन (संस्कृ०) + सुरखा < सुर्ख़ (फा०)]।

नरकट—(सं०) (१) एक प्रकार की घास। (२) सरपत की जाति का एक तृणगुल्म, जिसके डंठल की कलम बनती है।

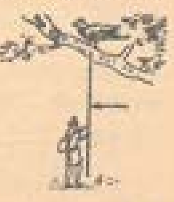


[नर + कट (?) < नड+
कट (संस्कृ०) = तृण का कट
(संस्कृ० प्र० समूह-अर्थ में); यथा—अवीनां समूहः
अविकटम्—भेड़ों का झुंड-]।

नरकटिया, लरकढ़िया—(सं०) एक प्रकार का जनेर या ज्वार, जो छोटा और उजला होता है। (द० मैं०)। दे०—बजड़ा।
[नरकट + इया (स्वा० प्र०) < नर + कट
< नड० + कट-]।

नरकाना—(सं०) वह जमीन, जहाँ नरकट पैदा होती है (चंपा०-)।
[नरक + थाना; नरक < नरकट < नड+कट, थाना (प्र०) या < स्थान (?)। मिला०—नड्वान् (संस्कृ०) = नरकटवाली जगह, नरकट उगने का स्थान]।

नरखोचा—(सं०) बाँस की वह लग्गी, जिसके अगले भाग में पतली करची का कंपा लगा रहता है और ऊपर लस्सा लगा रहता है, जिससे बहेलिये पक्षी फँसाते हैं। (सा०-१)।



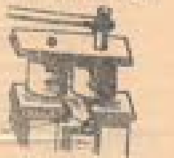
[नर + खोंच + आ (प्र०)
< नड- (संस्कृ०) + खोंच < कुञ्च <
√कुञ्च् (?)]।

नरगोरी—(सं०) एक प्रकार का ऊख, जो पतला, लाल छिलकेवाला और मीठे रस से पूर्ण होता है (सं० उ०)। दे०—बरौखी।
[देशी। संभ०—नर + गोरी < नड + गौर-]।

नरचा—(सं०) एक पशुखाद्य घास (गया)।
[देशी, मिला०-नाराच]।

नरजोंक—(सं०) एक पशुखाद्य घास (द० मुं०)। पर्या०—लरही (पट०), लरजोंक (द० भाग०)।
[देशी, संभ०—नर + जोंक, नर < नड-; जोंक
< युका (?)]।

नरदोह—(सं०) (१) ऊख के कोल्हू की पेंदी में रस के निकलने के लिए काटी गई नाली (उ०)। पर्या०—नरोह (मै०), नरोही (उ० पू० मै०), रसेढ़ (द० पू० मै०), पुञ्जगवा (द० प० शाहा०), रसहा, जोहा (शाहा० के द० प० भाग को छोड़कर), रसधारा निरोह (पट०), छोमी (गया), चोना (द० मुं० द० भाग०)। (२) नाला (चंपा०-१)।



[नर + दोह < नड + दोह, दोह < दुहला
< √ दुह् (?)]।

नरम—(सं०) मुलायम मिट्टी। (वि०) मुलायम। पर्या०—लरम (पू०)।
[नरम (हिं०), नर्म (फा०)। मिला०—नम्र
(संस्कृ०)]।

नरमा—(सं०) एक प्रकार की छोटी कपास, जो बारी में उपजती है (शाहा०)।
[नरम + आ (प्र०) < नरम]।

नरहनी—(सं०) (१) पोस्ते के बीजकोष को चीरने का नुकीला तेज शस्त्र (पट०, गया)। दे०—नरहनी। (२) नख काटने का हजामों का एक छोटा औजार।
[नर + हन + ई (प्र०) < नख + हन् या
नख + हरणी]।

नरई—(सं०) वह उड़द, जो अगहन में फलती है (मै०)। दे०—नरही।
[देशी]।

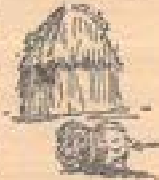
नरही नरहो—(सं०) वह उड़द, जो अगहन में फलती है (मै०)। दे०—नरही।
[देशी]।

नरियर—(सं०) नारियल (चंपा०-१, पट०-१)।
[नरियर < नारियल < नारिकेर-, नारिकेल-]।

नरिया—(सं०) (१) किसी औजार के फलक का पतला, नुकीला और सीधा भाग, जो बेंट में ठोंका जाता है (गया)। दे०—नरिया। (२) नाली-जैसा गहरा लंबा खपड़ा।
[नर + इया (प्र०) < नड (?)]।

नरी—(सं०) सरपत का डंठल (पट०-१)।
[नरी < नली, नल-]।

नरुआ—(सं०) (१) धान का पुआल, नारा (मुं०-१)। (२) छप्पर छाने में प्रयुक्त खपड़ों का एक भेद, जो नाली के समान लंब-गोल होता है। इसके विपरीत दूसरा खपड़ा 'थपुआ' होता है, जो चौड़ा और किनारे पर थोड़ा खड़ा होता है।



[नर + उआ (प्र०) < नर < नल-, नाल-]।

नरुआ, नरुआ—(सं०) (१) मड़ुआ का डंठल (द० पू०)। दे०—नेरुआ। (२) धान का पुआल। (३) खपड़े का एक भेद, जो नाली की तरह लंब-गोल होता है।
[नर + उआ (प्र०) < नड-, नाल-; नरुवा (हिं०)]।

नरैली—(सं०) पालो को हरीस से बाँधनेवाली रस्सी। (शाहा०)। दे०—नारन।
[देशी, मिला०-नधी]।

नरोह—(सं०) (१) फलों का नया बगीचा। (पट०, द० मुं०)। दे०—गछुली।
[देशी। मिला०—न + रोह < नव + रोह, रोह < √ रुह्, या रोह < रूक्ख < वृक्ष-]।

नरोह—(सं०) (२) ऊख के कोल्हू की पेंदी में रस निकलने के लिए काटी हुई नाली (मै०)। दे०—नरदोह।
[देशी, मिला०—नड-, नल]।

नल—(सं०) (१) नदी या आहर से खेत को मिलानेवाली ताड़ की नाली, जिससे होकर पानी खेत में जाता है (पट०-१)। (२) पकाई हुई मिट्टी, सीमेंट या पेड़ के तने से बनाई गई नाली (गाइड०)।

नव गछुली—(सं०) फलों का बगीचा (मै०)। दे०—गछुली।
[नव + गछुली, नव < नव-; गछुली < गछुल + ई (प्र०) < गछ + उल + ई < गच्छ-]।

नवठा—(सं०) नया हल (पट०)। पर्या०—नौठा (पट०), नवघर (चंपा०), नवठा (उ० पू० मै, द० भाग०)।
[नव + ठा < नव + काष्ठ- (?)]।

नवठा के जोत—(सं०) नये और पूर्ण आकारवाले हल से की जानेवाली जुताई (सा०, चंपा०)। पर्या०—नवठा के जोत (मै०, चंपा०), नवहरा के जोत (शाहा०)।
[नवठा के + जोत]।

नवदत्ता—(सं०) नौ दाँतोंवाला बैल (पट०-१)।

नवघर-(सं०) (१) नया कुदाल। (२) नया हल (चंपा०)। दे०—नवठा।
[नव + घर < नव (संस्कृ०) घर < √ घृ]।

नवपेड़ा—(सं०) फलों का नया बगीचा। दे०—गछुली।
[नव + पेड़ा, नव < नव-, पेड़ा < पेड़ < < पिंड (?)]।

नवला—(सं०) (१) एक प्रकार की मछली (सा०-१)। दे०—रेहू। (२) नेवला, नकुल।
[मिला०-नवल]।

नवहरा के जोत—(सं०) नये और पूर्ण आकारवाले हल से की जानेवाली जुताई (शाहा०)। दे०—नवठी के जोत।
[नव + हरा के + जोत।

नवही—(सं०) एक प्रकार की मछली (सा०-१)।
[देशी, मिला०—नवल]।

नविस्त खानी—(सं०) नील की खेती की एक प्रणाली, जिसमें निलहे खेती करने के लिए किसानों को अग्रिम मूल्य देते थे और उचित मूल्य पर नील का बीज भी देते थे, जिसका मूल्य बाद में हिसाब के अनुसार चुकता होता था (उ० प० मै)। दे०—खुशखरीद।
[नविश्त + खानी < नविश्त, नविश्ता < नविश्तः (फा०) = दस्तावेज-]।

नसुरवाई—(सं०) जानवरों का विषाक्त व्रण (कैंसर) (पट०-१)।

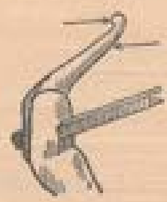
नहर—(सं०) किसी बड़ी नदी से संबद्ध कृत्रिम जल-प्रणाली।
[नह्र (फा०, अ०), नहर (हिं०, मरा०, पं०)]।

नहरनी—(सं०) (१) पोस्ते के बीज को चीरने का नुकीला तेज शस्त्र। (२) नख काटने का पतला नुकीला औजार। पर्या०—नहरनी (मैं०), नरहनी (पट०, गया)।
[नहर + नी वा न + हरनी < नख + हरणी। नहर् (नें०)। मिला०—नखम्- (संस्कृ०), नखर: (संस्कृ०) = मुड़ी छुरी; नहरी (प्रा०)=छुरी; नहुर्णी (ओ०)= नहरनी; नहरना (पं०) = नहरनी; संभ० < नख+कर; मिला०—नखानि करोति (संस्कृ०)= नख काटती है (नेपा०)]।

नहसुवा—(सं०) वह बैल, जिसकी पसलियाँ दुर्बल और छोटी होती हैं (पट०-१)।



नहीं—(सं०) कुदाल की धार और पासा के संयुक्त होने की जगह (शाहा०)। दे०—नहीं।
[नहीं < नभी < √ नह्-(?)]।



नाँगनो—(सं०) हल के पीछे का हाथ से पकड़नेवाला डंडा (द० भाग०)। दे०—परिहथ।
[नाँगनो < लाङ्गल (?)]।

नाँद—(सं०) (१) पशुओं को खिलाने के लिए मिट्टी का बना गोल चौड़े मुँह का बरतन। दे०—नारा। (२) रस रखने का कुंड (सं० उ०, गया)। दे०—हौद। (३) ऊख का रस छानने का मिट्टी का बरतन, जिसमें छिद्र रहता है। दे०—नाद।
[नाँद < नन्दन- (हिं० श० सा०)]।

नाऊ—(सं०) हजाम।

नागफेनी—(सं०) चतरा नाम का काँटा (मुं०-१)।
[नाग + फेनी < नाग + फणा (सा० प०)- नागफनी (हिं०), नागफणि, नागफनि (नें०)]।

नागा—(सं०) काम का न होना, कार्यबंदी, फुरसत, अनुपस्थिति (मुं०-१)।
[नाग: (अ०), नागा (उ०)]।

नागिना—(सं०) मवेशियों का एक ऐब। जिस पशु को यह ऐब होता है, वह बराबर जीभ ऐंठा करता है (सा०-१)।
[नाग + इना (ओ०) < नाग (सा० प०)]।

नाङड़ि—(सं०) दुम (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[नाङड़ि < नंगड़ि < नांगूल (प्रा०) < लांगूल-]।

नाढा—(सं०) (१) तीन बैलों से चलनेवाली गाड़ी का अगला बैल (पू०)। दे०—बौड़। (२) कोल्हू में चलनेवाला बैल, जिसकी आँखें बँधी रहती हैं। दे०—कोल्हुआ बैल। (३) छोटा (बौना) बैल। पर्या०—नटवा, ननकिरवा, गैना।
[देशी वा < नत-। मिला०—नट, नाटा (हिं०); नाठो (नें०) = अविवाहित, क्वाँर (अनादरार्थक) < नष्ट: (संस्कृ०); नट्ठो (पा०); नट्ठ (प्रा०); नष्टो (रोमा०)= भाग गया। नाशतार (सो० रो०) = मफ्रो; नाठु (शिना०); नाठु (कश्म०); नाठा (प० पहा०); नाठो (कुमा०); नाठ (असं०); नाठुया (बं०); नाठ, नाटा (हिं०); नष्णा (पं० क्रि०) = भागना; नठा (गु०) = भागा; नाठुं (गु०); नाट (मरा०), नाठा (मरा०); नट (सिंह०) = नष्ट]।



नाढ़ा—(सं०) टूटी पूँछवाला बैल (पू० मैं०, द० पू०) दे०—बाँड़।
[दे०—नाटा]।



नाथ—(सं०) (१) बैल की नाक में पहनाई जानेवाली रस्सी (गया, अन्य०)। (२) भैंस या बैल की नाक में छेदकर उसमें डाली गई रस्सी (चंपा०)। (३) सुतली की बनी मवेशियों की नाक में लगाई जानेवाली रस्सी (सा०-१)। (४) मवेशियों की नाक से सिर तक बाँधी हुई रस्सी।
[नाथ (देशी); नस्त (संस्कृ०); नाथ (हिं०), नाथ् (नें०) < नस्तक: (संस्कृ०); नत्थु (पा०); णत्था (प्रा०); नस्त (दरदी); नास्त (दरदी-पशा०); नतकेल (दम्लो); नाथुर (शिना०); नाहत (प० पहा०); नथ्थुरणो (कुमा०)=नाथना, अधीन करना; नाथहारी (बँ०) = नाथा हुआ; नाथ् (बँ०) = नाथ; नाथ (ओ०); नत्थ (पं०, गु०); नाथ (सिं०); नाथ (गु०); नाथ (मरा०)]।

नाथल—(क्रि०) (१) किसी मवेशी की नाक में छेद कर उसमें रस्सी डालना (चंपा०-१)। (२) किसी को बाँधना, अधीन या विवश करना।
[नाथ+ल (प०) < नाथ, दे०—नाथ]।

नाद—(सं०) (१) कुआँ के बनाने या बगल के बाँधने में प्रयुक्त भट्ठी में पका मिट्टी का गोल पट्टा (उ० प०)। दे०—खपड़ी। (२) वह बरतन, जिसमें कोल्हू से ऊख का रस चूता है (शाहा०)। दे०—खोरा। (३) मवेशियों को घास-भूसा खिलाने के लिए मिट्टी का बना कुछ गहरा बरतन। (४) चीनी के रस को ठंढा करने के काम में आनेवाली लकड़ी का कड़ाह। दे०—कठौता। (५) ऊख के रस को छाननेवाला मिट्टी का बरतन, जिसमें छिद्र बना रहता है। पर्या०—नाँद, डॅठियाल, नाद (द० प० शाहा०)। (६) रस रखने का कुंड (गं० उ०, गया)। दे०—हौद। (७) ऊख के रस को उबालने के पहले उसके संग्रह करने का बरतन। पर्या०—नादी, नट्ठी (गया), गगरी, घैला (उ० पू० मैं०)। (८) चारा खिलाने के लिए मिट्टी का बना हुआ थोड़ा गहरा बरतन। पर्या०—नाँद, नाद या लाएड्र (पू०)।

[< नन्दन—(हिं० श० सा०)]।

नादी—(सं०) ऊख के रस को उबालने के पहले उसे एकत्र करके रखने का बरतन। दे०—नाद।

[नाद+ई (प्र०) < नन्दन=(हिं० श० सा०)]।

नाथ—(सं०) ऊख के कोल्हू की मथानी को उसके सीधे खड़े खंभे (हरसा) से बाँधनेवाला रस्सा (द० मुं०)। दे०—नाधन।

[< नभ, नभी]।

नाधन—(सं०) ऊख के कोल्हू की मथानी को सीधे खड़े खंभे (हरसा) से बाँधनेवाला रस्सा (गं० उ०, पट०)। पर्या०—नधना (चंपा०), नधान (मैं०), नाद (पू० मैं०), टॅड़ना (शाहा०), नाथबरत (गया)। नाथ (द० मुं०), बरह (द० मुं०), सारंगी (द० भाग०), लेधा (द० भाग०)।

[नाधन < नभ या नाहन < √ नह्]।

नाधन—(सं०) कोल्हू के मरवाह की खूँटी में लटकाई जानेवाली रस्सी। पर्या०—साथ (पू० मैं०), लेधा (द० भाग०)।

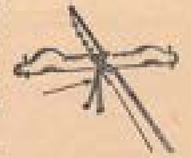
[नाधना < नभ-]।

नाधल—(क्रि०) नाधना, जोतना। दे०—जोतल। पर्या०—हर नाधल = हल नाधना, हल जोतना। वस्तुतः, इसका प्रयोग हल आदि में बैलों को बाँधने में होता है। (२) हल आदि में बैलों को जोतना (चंपा०-१)। (३) नाधना किसी काम को प्रारंभ करना (मुं०-१)।

[नाध + ल (क्रि० प्र०) < नभ। नाध + ल (वि० प्र०) < नभ]।

नाधबरता—(सं०) ऊख के कोल्हू की मथानी को उसके सीधे खड़े खंभे (हरसा) से बाँधनेवाला रस्सा (गया)। दे०—नाधन।

[नाध+बरता < नभ+वरत्रा]।



नाधा—(सं०) (१) पालो को हरीस से बाँधनेवाली रस्सी (शाहा०)। दे०—नारन। (२) पालो-जुए को हरीस से बाँधनेवाली रस्सी (गया, पट०-१)। दे०—नारन। (३) ऊख के कोल्हू की कतरी और जुए को मिलानेवाला चमड़े का तस्मा। पर्या०—कन्हेली (सा०), नधाबरता (गया), माँझा (पट०)। (४) सिंचाई करनेवाले लाठे को बाल्टी से मिलानेवाली छोटी रस्सी, जिसमें सरकनेवाली गाँठ (फंदा) रहती है। दे०—पनछोरा। (५) बरहे को कूँड़ से बाँधने के लिए गाँठ दी हुई छोटी रस्सी (गया)। दे०—पनछोर।

[नाध+आ < नभ < नह+त्र (प्र०) < √नह्]।

नाप—(१) (सं०) खेत की उपज का मोटामोटी आनुमानिक परिमाण करना (गं० द०)। दे०—लठाबंदी। (२) नापना, परिमाण।

[नाप < नापल (बिहा०, क्रि०) < नापना (?)। नाप < ज्ञाप (ज्ञापयति) (?)]।

नापल—(क्रि०) (१) नापना, परिमाण करना। (२) लाठे या लग्गी से खेत या दूसरी जमीन को नापना। (३) रास्ता तय करना।

नापा—(सं०) ताड़ी नापनेवाला मिट्टी का छोटा बरतन। पर्या०—नपही (सा०)।

[नाप+आ (वि० प्र०) < नाप < ज्ञाप- (?)। दे०—नपना]।

नापी—(सं०) (१) खेती की उपज का मोटामोटी आनुमानिक परिमाण करने की प्रक्रिया (गं० उ०)। दे०—लठाबंदी। (२) नाप, जमीन की नाप।

[नाप + ई (प्र०) < नाप < ज्ञाप (?)। दे०—नपना। नापि (ने०)]।

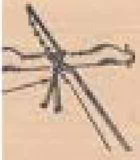
नाब—(सं०) किसी हथियार के फलक का पतला, नुकीला एवं सीधा भाग, जो बेंट में ठोका रहता है। दे०—नार।

[देशी, नावल (ने०)]।

नाव—(सं०) मवेशियों को चारा खिलाने का लकड़ी का नाद।

[नाव < नाव < नौ < नाव्य (?) (प्राक० प्र०)]।

नाबुद—(सं०) (१) मूल्य-निर्धारण के द्वारा अन्न के बँटवारे की दशा में कम उपज के पूरक (भत्ता) के



रूप में अन्न के अलग निकालने की प्रक्रिया (पट०)। दे०—छूट। (२) न्यून उपज अथवा उपज के अभाव के कारण हुई भूमि की करमुक्ति (गं० द०)। दे०—माफ।

[ना+बुद (फा०)=बरबाद]।

नाम्हल—(क्रि०) (१) उतरना। (२) पशुओं का चरने के लिए खेत में घुसना। (३) गोसांय भरना, किसी पर देव, भूत-प्रेत आदि का आवाहन होना (मुं०-१)।

[नाम्ह + ल (प्र०) < लांघल (बिहा०); लाँघना (हि०) < लङ्घन < √ लङ्]।

नारंगी—(सं०) (१) नींबू की जाति का एक पेड़, जिसके फल मीठे, सुगंधित और रसीले होते हैं (चंपा०-१)। (२) नारंगी का फल।

[नारंग+ई, नारंगी (फा०); नारंगी (हि०); नारंगि (ने०)। मिला०—नागरङ्ग]।

नारंजी—(सं०) (१) नारंगी। (२) नारंगी-सा पीला रंग। दे०—कुसुम।

[नारंगी (फा०)]।

नार—(सं०) खुरपे की धार का वह नुकीला अंश, जो बेंट में ठोका जाता है (गं० उ०)। पर्या०—नार (गं० द०), डंटी, डाँडी (द० प० शाहा०), नार (गं० उ०, पू० मैं०), नारन (द० भाग०)। (२) खुरपे की धार का वह नुकीला अंश, जो बेंट में ठोका जाता है (गं० द०)। दे०—नार। (३) फलक का पतला, नुकीला तथा सीधा भाग, जो बेंट में ठोका जाता है। पर्या०—नार (पू०), डाँड़ी (द० प० शाहा०), नरिया (गया), नाब (पट०)। (४) गँड़ासी के फलक का वह नुकीला भाग, जो बेंट के अंदर रहता है (पू० मैं०, पट०, शाहा०, द० मुं०)। दे०—खुरा।

[नार < नाड, नाल < नड-]।

नार—(सं०) (१) खेत में बाली काट लेने के बाद पड़ा हुआ पुआल, जो दाँवा नहीं जाता है। पर्या०—नार (पू०)। (२) पुआल (दर०-१, पूर्णि०-१)। (३) मेंड़ुए का डंठल (पट०)। दे०—नेरुआ।

[< नाड, < नाल]।

नारन—(सं०) पालो (जुए) को हरीस से बाँधनेवाली रस्सी (पू०, पट०, चंपा०)। पर्या०—नरनी (उ० पू० मैं०, द० पू० मैं०), नारन (द० पू० बिहा०), नाधा; नरैली (शाहा०), नदहा (द० पू०), नेधा, नाधा (उ० पू० मैं०), हरलथी, हरनाधा (द० मैं०, सा०), नाधा (गया), डोरा, नेधा (द० भाग०), हरलदहा, हरलधा (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[नार+न (वर्णागम) < नार < नाडी (संस्कृ०, प्रा०); नारा (हि०, पं०) = पायजामा की डोरी; नारो (ने०) = हल और जुए को बाँधने की रस्सी या तस्मा। नारो (सि०); नारी (ज०); नाड़ (गु०); नाडा (मरा०)]।

नारा—(सं०) मेंड़ुए का डंठल (गया)। दे०—नेरुआ।

[< नाड-, नाल-]।

नारी—(सं०) (१) नील के बहने का मार्ग। दे०—नाली। (२) कोल्हू का परनाला, जिससे होकर ऊख का रस बहता है। दे०—नाली। (३) गँड़ासी के फलक का वह नुकीला भाग, जो बेंट के अंदर रहता है। दे०—खुरा। (४) नदी, नहर, आहर, तालाब आदि से खेत तक जानेवाला जल-प्रवाह का मार्ग या नाली (प०)। दे०—पैन। (५) सींचने के निमित्त बनी हुई नाली का गहरा आंतरिक भाग (प० पट०, गया)। दे०—आरा। (६) ऊख रोपने के पहले खेत में माघी फसल के बोने की प्रक्रिया (सा०)। दे०—नरी।

[< नाडी, < नाली]।

नारी के ऊख—(सं०) माघी फसल के बाद रोपा गया ऊख (सा०)। दे०—नारी।

[नारी के (विभ०)+ऊख (सं०)]।

नारौ—(सं०) रब्बी का भूसा (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[नार+औ (उच्चारण-भेद) < नाड, नाल]।

नाल—(सं०) वह सोता, जिससे पानी बहता है (प०)। पर्या०—टाँड़ (द० पू०), टेढ़कौआ (पट०)।

[< नाल- < नाड-]।

नाला—(सं०) (१) पानी पटाने के लिए खोदा गया काफी लंबा और चौड़ा गड्ढा (पट०-१)। (२) एक प्रकार का प्राकृतिक जलस्रोत (गाइड०)।

नाली—(सं०) नील के बहने का मार्ग। पर्या०—नारी, मोरी (सा०)। (२) कोल्हू का परनाला, जिससे होकर ऊख का रस बहता है। (३) पानी बहने का मार्ग। (४) छोटा जलस्रोत (गाइड०)। पर्या०—नारी, करहा (द० भाग०), खाता (सा०)।

[< नाडी, < नाली]।

नास—(सं०) हल का वह नोंकदार भाग, जिसमें फाल लगाया जाता है। दे०—टोर।



[देशी, मिला०—नास (ने०)= आकृति]।

नासा—(सं०) हल का नोकदार अगला भाग, जिसमें फाल लगाया जाता है (पू० बिहा०)। दे०—टोर।
[देशी, मिला०—नास (ने०) = आकृति। संभ०—< नासना < नास (साद्० प्र०)]।

नासी—(सं०) खेती की नीची जमीन (चंपा०-१)।
[देशी]।

नासू—(सं०) वह बैल, जिसकी आधी पसली दूसरी पसलियों से कम हो। ऐसा बैल मनहूस माना जाता है (घाघ)।

निगार—(सं०) खेत से पानी निकलने की जगह (पट०-१)।

निबु—(सं०) नींबू।
[निम्बु-, निम्बुक (संस्कृ०); निम्बु, निम्बुक (प्रा०); नीबू (हिं०); निबु (ने०); निबुवा (कुमा०); नेमु (असo); नेबु (बँ०); नेंबु (ओ०); निंबू (पं०); लींबू (गु०); नींबू (मरा०)]।

निकासल—(क्रि०) झुंड में से निकालकर पशुओं को गाँव की ओर ले जाना (शाहा०)। पर्या०—उधराएल (पट०), हहराएल (गया), गोहराएल (द० भाग०)।
[निकास+ल (ना० धा० प्र०; वि० प्र०) <निकाश < निस् + √काश्]।

निकौनी—(सं०) (१) कोड़नी, कोड़ने की प्रक्रिया (पट०, गया, द० मुं०)। दे०—कोड़ब, कोड़नी। (२) निकौनी के लिए दी जानेवाली मजदूरी। दे०—सोहाई। निकावन = खुरपी आदि से ऊपर-ऊपर की जानेवाली (छिछली) सोहनी (घास आदि निकालने की प्रक्रिया)। दे०—टिपनी। (३) खेत से घास आदि निकालने का काम। निकौनी करल = घास निराना या केराना (मुं०-१)।
[निकौनी < निकावन < निकारण < नि+कार < नि+ √कृ; निराना (हिं०), निरावुँ (गु०) = निराना, अलग करना]।

निखुराह—(सं०) थोड़ा खानेवाला पशु। दे०—निखोराह।
[निखुर+आह (वि० प्र०) < निखुर < निखोरल (क्रि०) = नि+खुण्ट् < नि + √खुण्ट् (?); मिला०—णिक्खुरिअं (देशी)=अदृढ़]।

निखोरल—(क्रि०) निखोरना, नख से अथवा किसी दूसरे हलके औजार से किसी वस्तु को ऊपर से काटना। (वि०)—निखोरी गई वस्तु।
[निखोर + ल (ना० धा० प्र०, वि० प्र०)<निखोर < नि+खुण्ट]।

निखोराह—(सं०) थोड़ा खानेवाला पशु। पर्या०—निखुराह, चिकनिया, अलपनिया (द० पू० मै०), गवतचोर (द० प० मै०), नकसोंध (पट०, गया), चिकनकौर (द० मुं०), चिकनजिभो (द० भाग०)।
[निखोर+आह (वि० प्र०) < निखोर <निखोरल (क्रि०) < नि+खुण्ट्]।

निगरइन—(सं०) (१) छिछले जलस्रोत की शाखा (शाहा०)। दे०—छेर। (२) खेतों या नदी-नालों से बहनेवाले जलस्रोत की अंतिम धारा।
[निगरइन < निगरणीय < नि+गरणीय < नि √गृ+अनीय (प्र०)-१]।

निघास—(सं०) (१) पशुओं के खाने के बाद बचा हुआ व्यर्थ का (अखाद्य) घास-भूसा आदि (उ० पू०)। दे०—लथेर। (२) अनाज निकाल लेने के बाद फसल का बचा हुआ डंठल (चंपा०, उ० पू० मै०)। दे०—गोथार।
[< नि+घास (?) < निघास-(?)]।

निघास, निघेस—(सं०) मकई आदि का टूटा हुआ डंठल (पू० मै०)। दे०—लथार।
[<नि+घास (?)]।

निघेस—(सं०) (१) अनाज निकाल लेने के बाद फसल का बचा हुआ डंठल (द० पू० मै०)। दे०—गोथार। (२) पशुओं द्वारा पददलित फसल (पू० मै०)। दे०—थंगाठ।
[< नि+घास (?)]।

निघेस, निघास—(सं०) मकई आदि का टूटा हुआ डंठल (पू० मै०)। दे०—लथार।
[नि+घास (?)]।

निछच्छ—(क्रि० वि०) बिलकुल, निखालिस, सिर्फ (मुं०-१)।
[निछ्ठ, विछ्ठ (ने०); संभ०—<निश्छद-वा < निःछत-]।

निछड़न—(सं०) (१) अवशिष्ट। बचा हुआ या पृथक् किया हुआ पदार्थ। (२) सूप के सहारे अनाज से पृथक् कर दिया गया विजातीय द्रव्य (मुं०-१)।
[नि + छड़ + न (प्र०) < निःक्षरण < निर् + √क्षर्]।

निछड़ल—(क्रि०) (१) अनाज आदि में मिले हुए विजातीय द्रव्य को सूप के सहारे अलग करना, सूप से पैंचकर मिश्रित अनाजों को पृथक्-पृथक् करना (मुं०-१)। (२) मिले हुए अन्न को डगरे से फटककर एक दूसरे से अलग करना (चंपा०-१)।
[नि+छड़+ल (प्र०) < नि+छाड़ + ल < निःक्षरण < निर्+क्षरण< निर्+ √क्षर् (संचलने)]।

निछतर—(सं०) नक्षत्र, अश्विनी आदि २७ नामों से प्रसिद्ध तारों का एक विशिष्ट समूह। दे०—नखत (२) भाग्य।
[निछतर < नक्षत्र < न+क्षत्र, नक्ष+त्र < √नक्ष् (जाना, घूमना) + त्र; नक (= नक्त = रात्रि) + छद् (< √ छद्)+र]।

निपनियाँ—(सं०), बिना सिंचाई की हुई फसल (पट०)।
[नि (नञर्थक) + पनियाँ (=बिना पानी का); पनियाँ < पन+इयाँ < पानी < पानीय < √पा +अनीय (प्र०)]।

निफुट—(सं०) पौधे में दानों के निकल आने की प्रक्रिया (सा०-१)।

निफुटल—(क्रि०) दानों का निकलना।
[नि+फुट < नि+ √ स्फुट्]।

निमकिन—(सं०) (१) नमकीन स्वाद का ऊख। प्रायः यह स्वाद दोजिया ऊख में पाया जाता है (सा०-१)। (२) एक प्रकार का नमकीन पकवान्न। (वि०) नमक मिला हुआ, नमकीन।
[निमकिन < नमकीन (फा०) < नमक; मिला०—लवणक-]।

निमु—(सं०) मूक पशु (चंपा०-१)।
[नि+मु < नि (नञर्थक)+ मु < मुँह < मुख-?]।

निमौरी—(सं०) नीम का फल (पट०-१)।
[निम+औरी < निम्ब+वटी]।

निरखनामा—(सं०) पदार्थों के मूल्य की सूची।
[निरख+नामा < निर्ख+नामा (फा०)]।

निरघट—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिससे गले की घंटी में सूजन होकर घाव हो जाता है (पट०-१)।

निरबीज—(सं०) न जम सकनेवाला अनाज। दे०—अब्बी।
[निर+बीज < निर्बीज-]।

निरारी—(सं०) पक्का बना हुआ कुएँ का मुँह (पट०)। दे०—जगत।
[देशी]।

निरायल—(क्रि०) खेत की घास आदि को निकालकर बाहर करना, केराना, निकालना (मुँ०-१)।
[निर्+आयल < निर+आ+ √ह (विशेषे)]।

निरोह—(सं०) ऊख के कोल्हू की पेंदी में रस के लिए काटी हुई नाली। दे०—नरदोह।
[निर्+ओह < निर् +वह < निर् (उ० प०)+ वह (= निकलने का मार्ग) < निर्+ √वह्]।

निर्णयी रैयत—(सं०) वह रैयत, जो बारह बरस से भी अधिक समय से रैयत हो और उसको काश्त का हक भी प्राप्त हो (सा०-१)।
[निर्णयी+रैयत; निर्णय+ई (प्र०) यह आधुनिक अनूदित शब्द प्रतीत होता है।]।

निर्बिज्ज—(सं०) (१) बीज का मर जाना या नहीं उगना। (२) न उग सकनेवाला बीज (गं० उ०)। दे०—बिजमार।
[निर्+बिज्ज < निर्+वीर्य- निर्+बीज]।

निर्बीज—(सं०) (१) बीज का मर जाना या नहीं उगना। (२) न उग सकनेवाला बीज (गं० उ०)। दे०—बिजमार।
[निर्बीज < निर्वीर्य- ; निर्+बीज-]।

निलिया—(सं०) वह बैल, जिसके केश उजले हों और शरीर नीला हो (पट०-१)।

निसठ—(सं०) (१) सूखी हुई जमीन। (वि०) रसरहित, सूखा हुआ (सा०-१)। उदा०—निसठ भइला से खेत सूखी = निसठ हो जाने से खेत सूख जायेंगे। (२) कंजूस।
[नि+सठ < निसंठ < निः षण्ढ (?) < निः (अत्यंत) + षण्ढ=नपुंसक, अनुर्वर]।

निसुआ—(सं०) (१) वह कुंदा, जिसपर रखकर ऊख काटा जाता है (द० भाग०)। दे०—निसुहा। (२) वह कुंदा, जिसपर रखकर गँड़ासी से चारा काटा जाता है (द० प० शाहा०)। दे०—ठेहा। (३) वह कुंदा, जिसपर रखकर ऊख काटा जाता है (गं० उ०, शाहा०)। पर्या०—निसुआ (द० भाग०), ठेहा (उ० प० मै० चंपा०), परियेठा (गया), कुकाठ (पट०), परकठ (द० भाग०), टोनकट्टा, टोनकट (द० पू० मै०, मुँ०)।



[मिला०—निहस (प्रा०) < निकष, निघर्ष]।

नीक—(वि०) अच्छा (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[< नेक। मिला०—निक्त < √ निज् (पवित्र करना, धोना); नेक (फा०)]।

नीच—(सं०) छोटी जाति के काश्तकार। दे०—राढ़ जाति। (वि०) निम्न, निम्नश्रेणी का।
[नीच- < न्यञ्च < नि+ √अञ्च् (=झुकना, नीचे जाना; 'नीचैर्निचितं भवति-' निरु०) = (नीचे इकट्ठा किया हुआ); नीच < नि+ √चि+त (प्र०)]।

नीमा—(सं०), धान, ज्वार, बाजरा और ऊख के पौधों में लगनेवाला एक रोग, जो घातक दक्षिणी

हवा के कारण पैदा होता है। इससे पत्तों पर उजला धब्बा लगता है और फसल नष्ट हो जाती है। ऊख के ऊपर का भाग नष्ट हो जाता है (उ० मै०)। दे०—दखिनाहा।

[देशी, संभ०—< नीम, निम्ब-]।

नीमो—(सं०) नींबू (चंपा०-१)।

[नीमो, नेमो < निम्बु। दे०—निबु]।

नील—(सं०) (१) नील। (२) नील रंग एवं दूसरे रंगों को बनाने के लिए व्यवहृत एक प्रकार की मूल वस्तु। (३) नील की फसल। (४) नील रंग की एक विशेष वस्तु, जिससे कपड़े की सफेदी बढ़ाई जाती है। (५) नीलवर्ण। (वि०) नीलवर्ण का।

टि०—पहले नीले रंग के लिए नील नामक विशेष पौधों की खेती होती थी। इसकी अधिकतर खेती उत्तरी एवं पूर्वी बिहार में होती थी। किंतु, बाद में रासायनिक प्रक्रिया से निर्मित नील के आविर्भाव से इसकी खेती मारी गई और अब कहीं भी इसकी खेती नहीं होती है।

[< नील-]।

नीलगाय—(सं०) गाय जैसा एक जंगली जानवर। (चंपा०-१)।

[नील+गाय < नील (=काला)+गो]।

नीलाम खरीदार—(सं०) मालगुजारी या कर्ज आदि की डिग्री होने पर मुद्दालह द्वारा उक्त रकम नहीं देने पर सरकार द्वारा मुद्दालह की जमीन का नीलाम खरीदनेवाला (सा०-१)।

[नीलाम+खरीद+दार (प०) (फा०)]।

नेग—(सं०) (१) पटवारी को किसान की ओर से मालगुजारी का हिसाब-किताब बेबाक करने पर प्रतिमन साढ़े तीन सेर मिलनेवाला पुरस्कार (द० भाग०)। यह वैधानिक न होते हुए रस्मी था और अनिवार्यतः मिलता था। (२) किसान द्वारा प्राप्त अन्नराशि में से प्रतिमन सवा सेर अलग निकालने की प्रक्रिया। विशेषतः अधिक लाभ के कारण (द० भाग०)।

[< नेग (फा०)]।

नेढ़ा—(सं०) (१) जौ या गेहूँ में लगनेवाला एक प्रकार का रोग, जिससे बाल काली हो जाती है (मै०)। दे०—लेंढ़ा। (२) मकई के भुट्टे में से दाने निकालने के बाद बचा हुआ डंठल (पू० मै०)। दे०—लेंढ़ा।

[देशी]।

नेनुआँ—(सं०) (१) तरोई की जाति की एक लंबी फली, जिसकी तरकारी बनती है। दे०—तरोई। (२) घिउरा नामक एक हरी तरकारी (मुं०-१, पट०-१)।

[देशी, मिला०—नेनू (मक्खन) + आ = (अल्पा०) नेनुआ ; नेनू ; लेनू < नवनीत < नव + नीत < नव+ √नी+त (< क्त प्र०)]।

नेपाली कबरा—(सं०) छोटी फलियोंवाला केला, जिसका वृक्ष छोटा और घौद बड़ा होता है (पट०-१)।

नेबान—(सं०) (१) फसल की कटनी के आरंभ में पहले-पहल काटकर लाया गया थोड़ा-सा अनाज (चंपा०, मै०)। दे०—समहुत। पर्या०—नेवान (सा०)। (२) धान की फसल की कटनी के आरंभ में नये अन्न से किया जानेवाला हवन-यज्ञ और भोज।

[नेव+आन < नवान्न < नव+अन्न]।

नेमान—(सं०) (१) एक निश्चित शुभ तिथि को किया जानेवाला नये अन्न का यज्ञ और भोज (द० पू०)। दे०—नेवान। (२) धान की अगहनी फसल की कटनी के आरंभ में नये धान को पहले-पहल खाने के काम में लाने का त्योहार। (३) नया अन्न पहले-पहल खाने का त्योहार। (४) नई चीज खाने का काम। नेवान करल—(मुहा०) किसी भोज्य पदार्थ को पहले-पहल चखना (मुं०-१)।

[नेमान < नेवान < नवान्न < नव+अन्न]।

नेमो—(सं०) दे०—निबु।

[नेमो < निम्बु]।

नेरुआ, लेरुआ—(सं०) (१) मंड़ुए का डंठल (प०)। (२) धान आदि अगहनी फसल का डंठल ; पुआल। पर्या०—नार (उ० पू०), ठठ्ठा (उ० प०), नार (पट०), नारा (गया), लरुआ, नरुआ (द० पू०), डाँट, डाँठ, डाँठी (गया), पुआर, पोआर, पुअरा।

[नेर+उआ (अल्पा० वर्णागम), नेर < नाड़, नाल, लेर+उआ < नेर, लेर < नाड, नाल]।

नेवान—(सं०) (१) एक निश्चित शुभ तिथि को नये अन्न का हवन-यज्ञ और भोज। पर्या०—नेवानी, नेमान (द० पू०)। (२) फसल की कटनी के आरंभ में पहले-पहल काटकर लाया गया थोड़ा-सा अनाज (सा०)। पर्या०—नेबान (चंपा०, मै०)।

[नेव+आन < नवान्न < नव+अन्न]।

नेवानी—(सं०) (१) एक निश्चित शुभ तिथि को नये अन्न का भोज। दे०—नेवान। (२) नये अन्न का पहले-पहल खाना। उस दिन, नये अन्न से हवन आदि करके ब्राह्मणों को खिलाया जाता है, पश्चात् सहभोज किया जाता है (चंपा०-१)।

[नेव + आन + ई (प्र०) < नवान्न < नव+ अन्न-]।

नेवार—(सं०) मूली का एक लंबा भेद (शाहा०)। दे०—मूली। (२) चारपाई या पलंग बुनने के लिए सूत की बनी हुई लगभग दो इंच की पट्टी। (३) नेपाल या नेपाल की तराई में बसनेवाली एक जाति।

[नेवार < नेपाल (?)]।

नेवारि—(सं०) एक प्रकार का फूल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[नेपाल (संस्कृ०); नेवारी (हिं०); नेपाली (बँ०); नेवाली (ओ०); नेवाली (मरा०); बटमोगरा (गु०); गुलनिवारी (फा०)]।

नेवारी—(सं०) (१) दे०—पेटाढ़ी (सा०-१)। (२) एक प्रकार का फूल। दे०—नेवारि। (३) नेपाल में बसनेवाली नेवार जाति की भाषा।

[नेवारी-१<(देशी), नेवारी<नेवारी<नेपाल-]। (४) धान का पूरा डंठल (पुआल), जो दाँवा नहीं जाता है, बल्कि झाड़कर उससे अनाज निकाल लेते हैं और नेवारी आँटी के रूप में बँधी रहती है। (५) धान के डंठल की आँटी (पट०-१)। पर्या०—गभीरी (द० भाग०)।

[देशी, मिला०—नालक]।

नेवारी के धान—(सं०) आँटी को झाड़कर निकाला गया धान। यह बीज के लिए रखा जाता है (पट०-१)।

नेबो—(सं०) नींबू (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[< नेबो < नींबू < निंबु-]।

नैनी—(सं०) (१) एक प्रकार की मछली (सा०, चंपा०-१)। (२) नयन या नैन का विशेषण; यथा—मृगनैनी। (३) इलाहाबाद के पास का एक स्थान।

[देशी]।

नैवारिहा—(सं०) वह बैल, जिसके खुर से बराबर खून निकलता हो (पट०-१)।

नोंचा—(सं०) (१) पटवारी को भावली जमीन में प्रतिमन दो छटाँक के हिसाब से मिलनेवाला वेतन (पट०, पट०-१, गया)। (२) प्रतिमन ढाई सेर के हिसाब से मिलनेवाला वेतन (द० मुं०)। (३) चौकीदार को मिलनेवाला पारिश्रमिक। दे०—चौकीदार। पर्या०—नोंचिया, असेरी, सेरी, सेरही (शाहा०), बलकर (सा०)।

[नोंचा < नोंचन < लुचन < √लुञ्च्]।

नोंचल—(क्रि०) (१) नोंचना, फसल की बाल, डाल की टहनी या फूल आदि को असावधानी से तोड़ लेना। (२) खाज को धीरे-धीरे सहलाना या नख से खरोचना।

[नोंच+ल (प्र०) < √लुञ्च्]।

नोकर—(सं०) (१) रुपये लेकर काम करनेवाला जन (उ० प०)। (२) मासिक वेतन पर काम करनेवाला। (३) श्रमिक।

[< नौकर (फा०)]।

नोकता—(सं०) मवेशियों की आँख का ढक्कन (शाहा०)। दे०—अनपट।

[नुक्ता (फा०)- (?)]।

नोंचिया—(सं०) पटवारी को भावली जमीन में प्रतिमन दो छटाँक के हिसाब से मिलनेवाला वेतन (शाहा०)। दे०—नोंचा।

[नोंच+इया (प्र०) < नोंच < नोंचन < लुञ्चन < √ लुञ्च्]।

नोन—(सं०) नमक (दर०-१, पूर्णि०-१, अन्य०)।

[< लवण-]।

नोनखर—(सं०) क्षारयुक्त मिट्टी, नोनी मिट्टी (दर०-१, पूर्णि०-१)। पर्या०—नोनछुर (चंपा०)।

नोनछुर—(सं०) नोनी मिट्टी (चंपा०)।

नोनछुराह—(सं०) वह जमीन, जिसमें नमक का अंश ज्यादा हो। दे०—नोनी। (वि०) नमकीन स्वाद की वस्तु।

[नोन+छराह < लवण+क्षार]।

नोनियारी—(सं०) वह जमीन, जिसमें नमक का अंश ज्यादा हो। दे०—नोनी।

नोनियाह—(सं०) वह जमीन, जिसमें नमक ज्यादा हो। दे०—नोनी।

[नोन+इयारी < लवण+क्षार]।

नोनी—(सं०) चने की पत्तियों पर पड़ा हुआ क्षारांश। पर्या०—खटाई। (२) वह जमीन, जिसमें नमक ज्यादा हो (गं० द०)। पर्या०—नोनियाह, नोनियारी, नोनछुराह। (३) एक प्रकार का साग, जिसकी पत्तियों में क्षारांश अधिक रहता है। (दर०-१, पूर्णि०-१)। (४) एक प्रकार का नमकीन साग। यह कुछ-कुछ खट्टा भी होता है। (५) किसी दीवार की मिट्टी या ईंट में नमक [illegible], जिसके कारण मिट्टी या ईंट झड़ने लगती है (चंपा०-१)।

[नोनी < लोणिका < लवणिका]।

नोनीहारी—(सं०) अरहर या झाऊ के डंठल की बनी छोटी टोकरी। दे०—खाँची।

[देशी, नोनी+हारी (प्र०) < नोनिया (= मिट्टी काटनेवाले श्रमिकों का वर्ग-विशेष)]।

नौकेड़ा बागीचा–(सं०) फल का नया बागीचा। दे०–गछुली।
[नौकेड़ा+बागीचा (देशी)]।

नौखील—(सं०) धान बोने के लिए जोती गई नई गैर-आबाद जमीन (गया)। दे०—खिलमार।
[नौ+खील < नव+खिल]।

नौगाछी—(सं०) फल का नया बागीचा (द० पू०)। दे०—गछुली।
[नौ+गाछ+ई < नव+गाछ < नव+गच्छ-]।

नौजाबं—(सं०) दे०—बट्टा (गाइड०)।

नौठा—(सं०) नया हल (प०)। दे०—नवठा।
[नौ+ठा < नव+काष्ठ (?)]।

नौधारा—(सं०) रोपा जानेवाला एक प्रकार का धान (गया)।

नौरस—(सं०) पूरा रसीला आम (पट०-१)।

नौराही—(सं०) फल का नया बागीचा (चंपा०)। दे०—गछुली।
[नौ+राही < नवरोह (?)]।

नौसत–(सं०) भावली या जिरात जमीन की उपज में से नौ आना (९/१६) किसान में और सात आना (७/१६) जमींदार में बाँटने की प्रणाली। पर्या०—नौसत्ता।
टि०—इस प्रणाली का व्यवहार केवल पटना, गया, दक्षिण मुंगेर, चंपारन और पश्चिम में होता है। दक्षिण-पूरब में आम और कटहल की बँटाई में व्यवहार होता है।
[नौ+सत < नव+सप्त-]।

नौसत्ता—(सं०) (१) भावली या जिरात जमीन की उपज में से नौ आना (९/१६) किसान में और सात आना (७/१६) जमींदार में बाँटने की प्रणाली। दे०—नौसत। (प० पट०, गया, द० मुं०)। पर्या०—सेरी (प० मै०)।
[नौ+सत्ता < नव+सप्तक]।

नौसात–(सं०) खेती की उपज के बँटवारे का एक प्रकार, जिसमें जमींदार को उपज का (७/१६) और किसान को (९/१६) भाग मिलता है (गाइड०)। दे०—नौसत्ता।

प

पँइचल—(क्रि०) मिले हुए अन्न को डगरे से फटक-कर अलग-अलग करना (चंपा०-१)।
[पँइच+ल (प्र०) < पँइच < पंच < √ पचि (व्यक्तीकरणे-)]।

पँउका—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिसमें उनकी देह टेढ़ी हो जाती है, कंठ से घर्घर ध्वनि होती है और गोबर से बदबू निकलती है (पट०-१)।

पँकहा—(सं०) पँकिल, दलदली जमीन या पानी की की धारा के साथ बहकर जमा हुई मिट्टी (पट०, शाहा०)। दे०—भास।
[पँक+हा (प्र०) < पंक < पङ्क-]।

पँगरवाह—(सं०) ऊख की खड़ी फसल को काटनेवाला (मै०)। दे०—अँगेड़ीहा।
[पँगर+वाह < पाग्र (?) वा < पांगल (बिहा०, क्रि०) = पौधे को ऊपर से काटना, छोलना। पांगल < पंग (?) < √भञ्; वाह (प्र०) वा < √वह्]।

पँगरा—(सं०) (१) सौरी मछली। (२) भेड़ का मँझोले कद का बच्चा (चंपा०-१)।
[देशी]।

पँगार—(सं०) ऊख के बोझ को बाँधनेवाली रस्सी, जो ऊख के पत्ते की ही रहती है (उ० पू०)। पर्या०—पगड़ा।
[< प्राग्र-(?), प्रगण्ड-, प्रकाण्ड-]।

पँगौरा—(सं०) मिट्टी का वह बरतन, जिसमें ऊख का पका हुआ रस कड़ाह से निकालकर रखा जाता है (शाहा०)। दे०—सैंक।
[पँग+औरा-, पंग < पाग < पाक (?), औरा < अवर (?) वा अमत्र वा पात्र- (?)]।

पँचउख–(सं०) कृषक द्वारा ऊख रोपना शुरू करने के पहले खेत के बीच में पाँच ऊखों के बीज रोपने की प्रक्रिया (सं० द०)। पर्या०—पंचौख (सं० उ०), पचखाँड़ (सं० द०), पचपोहड़ा (पट०-१)।
[पँच+उख, पँच < पञ्च- उख < ऊख < इक्षु-]।

पँचकटैल—(सं०) कई प्रकार की मिट्टी से युक्त चिकनी मिट्टी (मै०)। दे०—दोरस।
[पँच+कटैल, पंच < पञ्च, कटैल (देशी) (?)]।

पँचगछिया—(सं०) वह स्थान, जहाँ आम के पाँच पेड़ हों।
[पँच + गछ + इया (प्र०), पंच < पञ्च, गछ < गाछ < गच्छ, गछिया < गच्छिक]।

पँचधान—(सं०) किसी नवीन अन्न के उपभोग के आरंभ में उस अन्न के थोड़े अंश या पाँच पानी को तैयार कर हवन आदि करके समारोह के साथ खाने-पीने का उत्सव। (२) पाँच पानी, नवान्न के लिए अधपके धान का चिउड़ा तैयार करने का त्यौहार। पर्या०—नेमान, लेवन (मुं०) नवान्न या

नवसस्येष्टि के अवसर पर आग में आहुति देने के लिए नये चूल्हे पर नई खपड़ी चढ़ाकर पवित्रता-पूर्वक नये धान का पाँच पानी चूड़ा कूटना (मुं०-१)।

[पँच+पान; पंच < पञ्चन्; पान < पानी < पानीय (?)]।

पँचकारा—(सं०) लोहे का बना एक विशेष प्रकार का हल, जिसमें पाँच खड़े फाल लगे रहते हैं। इससे विशेषतः ऊख के खेत की जुताई होती है, जिससे घास आदि उखड़ जाती है और ऊख का पौधा बना रहता है (री०)।

पँचदू—(सं०) जमीन की उपज में से दो पंचमांश ($\frac{2}{5}$) जमींदार और तीन पंचमांश ($\frac{3}{5}$) किसान में बाँटने की प्रणाली (प०)। दे०—पचदू।

[पँच+दू; पँच < पञ्च; दू < द्वि (द्वौ)]।

पँचमुखी—(सं०) (१) पाँच दलों का अड़हुल का फूल (मुं०-१)। (२) पाँच मुख से युक्त शिवलिंग। (वि०) पाँच मुखवाला (मुं०-१)।

[पँच+मुख+ई (प्र०) < पञ्चमुख-]।

पँचसेर—(सं०) धान-विशेष (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पँच+सेर; पंच < पञ्चन्; सेर < सेटक- (?) वा शालि-]।

पँचसेरा—(सं०) पाँच सेर के वजन का बटखरा (री०)।

पँचाइठ—(सं०) धान की रोपनी शुरू करने से पहले पूर्व दिशा की ओर मुँह कर कृषक द्वारा पाँच मोरी को लेकर रोपना (शाहा०)। पर्या०—पँचाठी, पँचाही (पट०-१)।

[पँच+आइठ (प्र०) वा आइठ < आँठी, आँटी (?)]।

पँचाठी—(सं०) दे०—पँचाइठ।

पँचाही—(सं०) धान रोपने के पहले किया जानेवाला मंगलकृत्य, जिसमें पूजन करके धान के बीज की पाँच आँटी रोपी जाती है (पट०-१)।

पँचौख—(सं०) कृषक द्वारा ऊख रोपना शुरू करने से पहले खेत के बीच में ऊख के पाँच बीज को रोपने की प्रक्रिया (गं० उ०)। दे०—पँचऊख।

[पंच+औख; पाँच < पञ्चन्; ओख < ऊख < उक्ख < उक्खु < इक्षु-]।

पँचौर—(सं०) हेंगा में बाईं ओर बहनेवाला बैल। पर्या०—कुड़दहिना।

[पंच+औरः; पंच < पश्चिम- (?); और (?)]।

पँजा—(सं०) ऊख के कोल्हू के पेट में रहनेवाले मोहन के सिरे के ऊपर का कटा हुआ भाग। दे०—कान्ह।

[देशी]।

पँजाजाल—(सं०) मछली पकड़ने का बड़े फाँस (छेदों) का जाल। इसमें पाँच सेर से कम की मछली नहीं आती। इसमें तुमड़ी बँधी रहती है, जो जल के ऊपर तैरती रहती है (सा०-१)।

[पंजा + जाल; पंजा < पञ्चन् (?) वा < पंजा (हि०, बिहा०) = हाथ का पंजा, जाल (संस्कृ०)]।

पँजोठल—(क्रि०) बोरा या किसी दूसरे बोझ को पाँजर पर उठाना या लेना (मुं०-१)।

[पंज + ओठ + ल (प्र०); पँज < पाँजर < पञ्जर; ओठ < अवस्थ-]।

पँजौर—(सं०) कटनी के समय किसान के द्वारा बढ़ई, चमार, धोबी आदि ग्राम-शिल्पियों को प्रति हल एक निश्चित परिमाण में (पाँजा-भर) दिया जानेवाला धान (उ० पू० मै०)। दे०—बोझा।

[पंज+और; पंज < पाँजा-; और (प्र०)-(?)]।

पंडार—(सं०) वह ऊख, जो मीठा नहीं लगता (सा०-१)। पर्या०—गजारी (सा०-१)।

[पंडार < पुण्ड्रक वा पं + डार < पन + डार (देशी)]।

पंतर—(सं०) रास्ते में पड़नेवाला सुनसान स्थान, जहाँ खतरे की संभावना हो (मुं०-१)।

[पंतर < पांतर < प्रान्तर- < प्र+अन्तर-]।

पँतियारी—(सं०) सड़क आदि के किनारे के पेड़ों की पंक्ति। दे०—पाँती।

[पँत + इयारी या पँति + यारी, पंत, पंति < पंक्ति-; इयारी < यारी (प्र०) वा < आलि (= पाँत)]।

पंबारी—(सं०) कुदाल का वह अंगूठीनुमा अंकुश, जिसमें डंडा लगाया जाता है (द० प० शाहा०)। दे०—पास।

[देशी, पंबारी (हि०) = लोहारों का एक औजार, जिससे लोहे में छेद किया जाता है—(हि० श० सा०)]।

पंभी—(सं०) ओसाने के समय हवा से उड़ा हुआ महीन भूसा (सामा०)। पर्या०—पाँकी, पाँभी (प०), गुंडी (चंपा०, द० पू० बिहा०), मौंटा (पट०)।

टि०—इन शब्दों का प्रयोग गं० द० प० मै० में केवल जाड़े की फसलों के लिए होता है। भदई फसलों के लिए ये शब्द प्रयुक्त होते हैं—पुरेसी, पुअरसी (प०), पखनी (पट०, गया)।

[पंभी < ? मिला०—पम्ह (प्रा०) < पक्ष्मन् = आँख की पपनी, केश का अगला भाग, पतले सूत का छोटा अंश, पंख, किंजल्क, अग्रिम भाग। √पम्न् (= जाना, पम्नति); पर्व (संस्कृ०) = नई घास]।

पैंरगा–(सं०) (१) नाली के किनारे को घेरनेवाली उठी हुई जमीन (पट०, गया)। दे०—मेंड़। (२) सामान्य भूमि से ऊँची उठी हुई खेतों की सीमा, मेंड़ (गया, द० मुं०)। दे०—आर।
[देशी]।

पँसहिया—(सं०) चूसने में स्वादिष्ट कोमल ऊख, जो फाल्गुन-चैत्र में तैयार होता है (द० प० सा० मै०)। दे०—पनसारी।
[पँ+सहिया < पन+सहिया (?) < पनसाहा (= पानी जैसा स्वादवाला) < पानीय + साक्ष या < पानीय+सादृश्य (?)]।

पइचा–(सं०) पैंचा। किसी चीज को लेकर फिर उसे लौटा देने की प्रथा (चंपा०-१)। पर्या०—पँईचा (भाग०)।
[पैंचा (हिं०)- (देशी)—(हिं० श० सा०)। पैंचो (ने०); पैंजो (कुमा०); पैंचा, < प्रति + कृत्य, प्रतिकार्य (संस्कृ०—प्रतिकरोति, पटिकरोति पा०) = संशोधन करता है। पैंकिदि, पडिकिदि- (प्रा०); संदिग्ध व्युत्पत्ति—टर्नर; संभ० < प्रत्यंच < प्रति+ अञ्च् या < प्रत्यर्पं < प्रति + √ अर्प्]।

पइन—(सं०) पानी पटाने के लिए बनाई गई वह नाली, जो नहर, नाला, अहरा आदि से खेत तक जाती है (पट०-१)।

पइया—(सं०) धान का एक रोग, जिसके लगने से दाना कणरहित (खखरा) हो जाता है (पट०-१, शाघ)। दे०—पैया।

पउँड़ल—(सं०) (१) तैरना, पार करना (चंपा०-१)। (२) किसी हल्की वस्तु का पानी की सतह पर तैरते रहना।
[पउँड़+ल (प्र०); पउँड़<पौंड़- पौर < प्लावन (हिं० श० सा०); संभ०—<प्लुत। मिला०—प्रपि < प्रतुरती (भारोप०) <तोर (समस्त रूप); मिला०—तुरतुर (संस्कृ०); तिरति, प्रतिरति (संस्कृ०); पैरना, तैरना (हिं०)। ब्लॉक के अनुसार < तेल (क०, ते०) = तैरना। मिला०—तूर्ण, तीर्थ (संस्कृ०); तरब (हिं०); तरणे (मरा०) < तरति- (संस्कृ०); पौर्न (ने०)—नेपा०]।

पउनी–(सं०) गाँव के किसानों या दूसरे निवासियों के काम करनेवाला हजाम, धोबी, तेली आदि ग्राम-शिल्पी (चंपा०-१)। पर्या०—पौनी, पवनी।
[पवनी < पावण < प्रापण < प्र०+ √ आप्- ; पवनी (हिं०, अव०)]।

पएड़ा—(सं०) रास्ता (चंपा०-१)। पर्या०—पैड़ा (सर्वत्र)।
[< पादद‍ण्ड—(हिं० श० सा०)। मिला०—पद्या (संस्कृ०); पयड्डा (देशी)=रास्ता, मार्ग—'वायरसविरल-मग्गेसु पयड्डो'—(देशी०)। मिला०—पेन्द (संस्कृ०) = मार्ग, √पेन्, <पैन (=जाना, पोसना, आलिंगन करना- (मो० वि० डि०)]।

पएना–(सं०) बैल हाँकने की चाबुक, छड़ी, पैना।
[पएना < प्राजनक < प्र० + √ अज् + अन (ल्युट्) + क ; पैना- < तीक्ष्ण, < पैन (संस्कृ०)- (हिं० श० सा०)]।

पएर—(सं०) दौनी करने के लिए खलिहान में फैलाकर रखे गये डंठल-सहित फसलों का संग्रह। (चंपा०-१, भाग०-१)।
[पयर (देशी); मिला०—पयर (देशी) = दीवार का छेद, मार्ग, दुश्शील, कंठ का भूषण, कंठ-छेद, दीन शब्द—'पइ विवरे तह मग्गे दुस्सीले कंठ दीवारे कंठच्छिद्दम्मि तहाय दीन भावे पयरो य'—(देशी०, ६-६७)]।

पकठाइल–(सं०) मकई का पका हुआ बड़ा दाना, जो कच्चा खाने के अयोग्य हो। (वि०) मकई आदि अनाज की फसल में पका हुआ दाना।
[पकठ+आइल (प्र०); पकठ < पाक + स्थ-, पाकावस्थ (?) या पक्वित (?), < पक्वत, पक्रिम- (=पाक से बना हुआ)]।

पकठाएल—(सं०) (१) मकई के दानों के पकने की अवस्था, जब दूध-जैसा रस सूख जाता है और दाना पोख्ता हो जाता है (सा०-१)। (२) मकई आदि अन्न का फसल में पका दाना। (वि०) पका हुआ, पोख्ता, अभ्यस्त।
[पकठ + आएल (प्र०); पकठ < पाकावस्थ, पाक- + स्थ (?) या पक्वित-, पक्रिम- (= पाक से बना हुआ)]।

पकठाएल—(क्रि०) (१) किसी चीज का भीतर-ही-भीतर काफी कड़ा हो जाना (चंपा०-१)। (२) अनाज के दानों का पकना।

पकठोस—(सं०) परिपक्व और परिपुष्ट दाना। (वि०) पका हुआ, ठोस (मुं०-१)। पर्या०—पकीजा।
[पक+ठोस; पक < पका <पक्व-, ठोस (देशी)।

पकवाह—(सं०) (१) कोल्हू के लिए ऊख के लंबे-लंबे टुकड़े काटनेवाला जन या मजदूर। दे०—कानू। (२) कानू, ऊख के रस को पकानेवाला।
[पक + वाह ; पक < पाक, वाह (प्र०)]।

पकल—(क्रि॰) (१) पकना। धान आदि फसल का पकना, चावल का पकना। (२) भुक्त पदार्थ का आमाशय में पकना। (वि॰) पका हुआ।

[पक + ल (प्र॰); पक < पाक < √ पच् (पचति, पच्यते)—(संस्कृ॰); पच्चनि (पा॰); पच्चइ (प्रा॰); पकना (हि॰), पचना (हि॰)=गलना, पचना, पकना; पच्नु (ने॰); पच (दरदी); पचाई (शिना॰); पसिबा (अस॰) = गलना-पचना; पचा (बँ॰) = गलना-पचना; पचिवा (ओ॰); पचनु (सिं॰); पचवुँ (गु॰); पचणे (मरा॰); पसेनु (सिं॰); पचा (काफि॰)]।

पकावल—(क्रि॰) पकाना। धुएँ का धौंक देकर केले आदि फलों को पकाना। (वि॰) पकाया हुआ।

[पक+आवल (प्र॰); पक<पाक<पच् +अ (प्र॰—पच्) < √ पच्। √पच् (पचति—संस्कृ॰); पक्कावेइ (प्रा॰); पकाना (हि॰); पकाउनु (ने॰); पेकेअ (रोमा॰); पाक्कुन (कश्म॰); पकाणो (कुमा॰); पकाउणा (पं॰); पकावण (ल॰); पकाववुँ (गु॰); पिकाविणे (मरा॰)]।

पकुआ—(सं॰) बरगद की फली (चंपा॰-१)। पर्या॰—पकोआ, पकोहा (अन्यत्र), पोकहा (भाग॰)।



[पक + उआ < पक्व + वटक- (?)]।

पकोआ—(सं॰)—(अन्यत्र)। दे॰—पकुआ।

[पक + ओआ; पक < पाक-(?)]।

पकोहा—(सं॰) (१) पीपल की फली। (२) बरगद, पाकड़ आदि की फली (मुं॰-१, चंपा॰-१)। दे॰—पकुआ।

पक्का—(सं॰) ईंट, पत्थर आदि से बनाया हुआ पक्का कुआँ। पक्का मकान, चबूतरा आदि। (वि॰) पका हुआ, ठोस, स्थिर।

[पक्का < पक्व < √पच् + क्त (= त = व- प्र॰)। पक्व- (संस्कृ॰); पक्को (पा॰); पक्क (प्रा॰); पक्का (हि, ने॰); पाको (ने॰) = पका हुआ; पेको (रोमा॰); पाकु (शिना॰); पोपु, पोकु (कश्म॰); पाको (कुमा॰); पाका (बँ॰); पाकला (ओ॰); पाक्क (हि॰; बिहा); पक्का (पं॰, ल॰); पाको (सिं॰); पकूँ (गु॰); पिका (मरा॰); पाक (सिंह॰)]।

पक्का बिगहा—(सं॰) १६०० वर्गगज की जमीन की नाप, पक्का बिगहा जमीन का एक निश्चित परिमाण है।

[पक्का + बिगहा; पक्का < पक्व-, बिगहा विग्रहक- (?)]।

पक्खन—(सं॰) अफीम की फसल में लगनेवाला एक रोग (द॰ मैं॰, गया)। दे॰—खरुका। आजकल बिहार में अफीम की खेती नहीं होती।

[पक्खन < पक्ष्मन्—(?) या देशी]।

पक्खी—(सं॰) सिंघाड़ा या किसी दूसरे जलीय पौधों में लगनेवाला एक छोटा कीड़ा। पर्या॰—पखिया।

[पक्ख + ई (प्र॰); पक्ख < पक्ष-, पक्षिन्-(?) = पाँखवाला)।

पख—(सं॰) चांद्र मास का आधा या १५ दिनों का एक निश्चित काल-परिमाण। पर्या॰—पच्छ।

टि॰—एक मास में दो पक्ष होते हैं, कृष्ण और शुक्ल। किसुन पख, किसुन पच्छ = चांद्रमास का वह पक्ष, जिसमें चंद्रमा की कला घटती है, कृष्णपक्ष। सुकुल पख, सुकुल पच्छ = चांद्रमास का वह पक्ष, जिसमें चंद्रमा की कला बढ़ती है, शुक्लपक्ष।

[पख < पक्ख < पक्ष- < √ पक्ष- (परिग्रहे—पक्षति); पक्खो (पा॰); पक्ख (प्रा॰); पख, पक्ष (हि॰, ने॰)]।

पखनी—(सं॰) भदई अनाज ओसाने के समय हवा से उड़ा हुआ महीन भूसा (पट॰, गया)। दे॰—पंभी।

[पख + नी (?) < पक्ष+नी < नीय < नेय < √नी (= ले) = सूपकी बगल से ले जाये जाने योग्य-?]।

पखान—(सं॰) किसी वस्तु का सूखकर कड़ा हो जाना (चंपा॰-१)।

[पख+आन<पक्व+आन-(?) या पक्वान्न-(?)]।

पखारल—(क्रि॰) धोना, पखारना (चंपा॰-१)। बाढ़ आदि के पानी से धो-पोंछकर साफ हो जाना। पर्या॰—धोअल।

[पखार+ल (प्र॰); पखार < प्रक्षाल < प्र + √क्षाल् (प्रक्षालयति); प्र + क्षर् (प्रक्षरति)< प्र + √क्षर् (= बहता है)—(संस्कृ॰), पक्खाल, पक्खाल, पक्खलति, पक्खालेति (पा॰); पक्खाल (पक्खालेदि) (प्रा॰); पखारना (हि॰); पखाल्नु (ने॰); पखालिबा (अस॰); पाखला (बँ॰); पखालिबा (ओ॰); पखालवुँ (गु॰); पखालणे (मरा॰)]।

पखिया—(सं॰) सिंघाड़ा या किसी दूसरे जलीय पौधे में लगनेवाला एक छोटा कीड़ा। दे॰—पक्खी।

[पख+इया (प्र॰) < पक्ष+इक (प्र॰) = पक्षिक; पक्षिन्]।

पगड़ा—(सं०) (१) ऊख के ऊपर के शिखर की पत्तियाँ। (२) ऊख के ऊपर का भाग। (३) चारे के लिए काटा गया ऊख के ऊपर का हरा भाग (द० पू०, द० भाग०)। (४) ऊख के पौधे का अगला भाग। (५) छीले हुए गन्ने का टुकड़ा (मुँ०-१)। (६) ऊख के बोझे को बाँधने के लिए ऊख के पत्तों की ही बनी हुई रस्सी। दे०—पँगार।



[पगड़ा < प्राग्र-, < प्रगण्ड-, प्रकाण्ड-]।

पगड़ी—(सं०) (१) ऊँची जाति के किसानों को अन्न के बँटवारे में दी जानेवाली छूट। पर्या०—माफी। (२) जमींदार की किसी प्रकार की सेवा के बदले में दी गई राजस्व की छूट (गाइड०)। (३) सिर पर लपेटकर पहना जानेवाला लंबा वस्त्रखंड, उष्णीष।

[पग+ड़ी (प्र०) < पाग < पग्गा—(नेपा०) वा < पटक, पट्टक वा < प्राग्र (?) ; । पाग (ने०), पाग (हिं०) ; पाग् (असं०, बँ०) ; पाग (ओ०) ; पग्ग (पं०, ल०) ; पग (सिं०) ; पाघ (गु०) ; पागोटे (मरा०) ; पगुड़ (कश्म०) ; पागड़ि (बँ०) ; पगड़ि (ओ०) ; पगड़ी (हिं०, पं०, ल०) ; पगाड़ी (सिं०) ; पाघड़ी (गु०)]।

पगरवाह—(सं०) ऊख की खड़ी फसल काटनेवाला जन या मजदूर। दे०—अँगेड़ीहा।

[पगर + वाह; पगर<प्राग्र-, प्रगण्ड-, <प्रकाण्ड-, वाह (प्र०) वा <√वह्]।

पगहा—(सं०) (१) बैल की गरदन से ढेंका तक लगी हुई रस्सी। (२) (सा०-१)। दे०—जोर। (३) वह रस्सी, जिससे मवेशी बाँधे जाते हैं (चंपा०-१)। (४) पशुओं के बाँधने की रस्सी। पर्या०—जोर (द० भाग०); गेंठा (द० भाग०), तगही (सा०, गया)।



[प + गहा < प्रग्रह < प्र + √ग्रह् ; प्रग्रह- (संस्कृ०) ; पग्गह (पा०) ; पग्गह (प्रा०) ; पगाहा (ने०) ; पगहा (असं०, ओ०) ; पगहा (हिं०) ; पगहु (सिं०) ; पाग (गु०, मरा०) = रस्सी]।

पगार—(सं०) (१) ऊख के ऊपर के शिखर की पत्तियाँ। (२) ऊख के ऊपर का भाग। (३) चारे के लिए काटा गया ऊख के ऊपर का हरा भाग (मै०)। दे०—अगेड़। (४) ऊख की पत्ती (चंपा०-१)।

[पगार < प्राग्र-, < प्रगण्ड-, प्रकाण्ड-]।

पगावल—(क्रि०) रस्सी या डोरी में पाग देना या ऐंठन देना (मुँ०-१)। पर्या०—पघावल।

[पग+आवल (प्र०) ; पग < पाग < पाक-(?)]।

पगुंआ—(सं०) वह बैल, जिसकी टाँगें लंबी, टेढ़ी-मेढ़ी और दुर्बल हों (पट०-१)।

पगुड़ी—(सं०) ऊख की जड़ से निकलनेवाली शाखा, जिससे पौधे को हानि पहुँचती है (द० पू०)। दे०—दौंज।

[पगु+ड़ी (प्र०)—(देशी)]।

पगुरी—(सं०) पागुर, रोमन्थ।

[पगुरी < पाग < पाक-१]।

पगुरी करल—(क्रि०) पशुओं के द्वारा खाई हुई वस्तु को पुनः चबाना, रोमन्थ (पागुर) करना (गं० उ०, शाहा०)। पर्या०—पागुर करल (गं० उ० शाहा०), पघुराएल, पगुरी करल (गं० द०), पाज करल (मै०), कोरी करल, कौरी करल (पट०, गया), गलठै करल (द० भाग०)।

[पगुरी+कर + ल (प्र०), पगुरी < पागुर-; पागुर (हिं०) ; पागुर (ने०) ; संभ०—< पग्गुर (म० भारो०) <प्रगुर<प्र+ √गुर्<प्र०+ √गॄ (निरति)—नेपा०]।

पघरल—(क्रि०) पानी आदि का धीरे-धीरे जमा होकर बहना (मुँ०-१)।

[प+घर+ल (प्र०) < प्र + √घृ (छरने=बहना— जिघर्ति, घरति, प्रघरति)—(संस्कृ०) ; पग्घरति (पा०) ; पग्घरइ (प्रा०) ; पघारना (पं०) ; पघारा (ल०) = मिष्टान्न-; पघिरनु (अ० क्रि०) ; पघारनु (स० क्रि० सिं०) ; पिघलना (हिं०) ; पाघळणे (मरा०) ; < प्रघलति—नेपा०]।

पघरा—(सं०) वर्षा के समय या उसके बाद ही एक स्थान में संगृहीत होकर बहनेवाला पानी (मुँ०-१)।

[प+घरा < प्रघार < प्र+ √घृ+घञ् (= अ) ; पगार (ने०) = दूध का बहना या पेन्हाना ; पागार (मरा०) = बीज बोने का लकड़ी का साधन-विशेष]।

पघरिया—(सं०) मजबूत और भारी फलकवाली एक प्रकार की हँसिया। पर्या०—पघरुआ, बघरा, बघरी, बघरिया, बघारू, संगिया (पू० मै०), डाब (द० भाग०), चिलोही (गया)। (२) एक प्रकार का हँसुआ (दर०-१ पूणि०)।



पघुराएल—(क्रि०) पशुओं के द्वारा खाई हुई वस्तु का पुनः चबाना, रोमन्थ (पागुर) करना (गं० द०)। दे०—पघुरी करल।
[पघुर + आएल (प्र०); पघुर < पागुर < प्र + गुर, प्र + √ गिर् (?)]।

पघुरी करल—(क्रि०) पशुओं द्वारा खाई हुई वस्तु का पुनः चबाना, रोमन्थ (पागुर) करना (गं० द०)। दे०—पघुरी करल।
[पघुरी + करल; पघुरी < पागुर < प्रगुर < प्र+ √गुरी-, प्र+गिर-]।

पघरुआ—(सं०) मजबूत और भारी फलकवाली एक प्रकार की हँसिया। दे०—पघरिया।

पचंगी—(सं०) वह ऊख, जिसका अँगेर टूटकर गिर पड़े और उसमें नई कोंपलें फूटें (सा०-१)। पर्या०—दोजिआ।
[देशी; संभ०—पचंगी < पचल = गलना, पचना वा < पक्वांग < प्रत्यंग वा < पचक < पश्चक् (पश्चिम, अंतिम)। दे०—पचकी]।

पचकट्टा—(सं०) धान के पौधे को खानेवाला एक हरा कीड़ा। दे०—छुपटा।
[पच + कट्टा; पच < पञ- (?), कट्टा < कटल < √ कृत्]।

पचकी—(सं०) पेड़ के सूख जाने पर उससे निकलनेवाला नया पेड़ (सा०-१)।
[पचकी < पचक (?) वा < पचक < पच्छक < पच्छअक < पच्छदक < प्र+ √छद् (= पत्र, भाग, पौधा) + क, वा < पचक < पश्चक् (= पश्चिम, अंतिम)]।

पचखाँड़—(सं०) कृषक द्वारा ऊख रोपना शुरू करने के पहले खेत के बीच में पाँच ऊख रोपने की प्रक्रिया (गं० द०)। दे०—पँचउख।
[पच + खाँड़; पच < पंच < पञ्चन्-, खाँड़ < खण्ड]।

पचखा—(सं०) खलिहान में दौनी के समय पुआल या डंठल आदि के हटाने या झाड़ने की लग्गी, जिसमें पाँच काँटे लगे रहते हैं (गं० उ०, मुं०, शाहा०)। पर्या०—पाँचा (शाहा०), पाँचख (द० मुं०)।
[पच + खा; पच < पञ्च-, खा < खंड वा < कंटक]।

पचखी—(सं०) तंबाकू या किसी पौधे के ऊपर के काट लेने के बाद उसमें से निकला हुआ अंकुर या नई पत्ती (सा०, चंपा०)। दे०—दोंजी।
[पच+खी; पच < पञ्चन्-; खी (?) वा देशी]।

पचगोड़िया—(सं०) थोड़े-से दानोंवाला भुट्टा।
[पच+गोड़िया; पच < पञ्च, गोड़िया < गोटक, गोट-]।

पचघन—(सं०) ऊख पेरना आरंभ करने के समय का उत्सव, जिसमें थोड़ा-सा ऊख पेरकर उसके रस या गुड़ से देवपूजा और यथासंभव भोज, प्रसाद वितरण आदि होते हैं।
[पच+घन; पच < पञ्चन्, घन < घानी < घान (?)]।

पचड़ी—(सं०) हल में लगाया जानेवाला दूसरा पचड़ (गं० द०)। दे०—चैली।
[पच+ड़ी (प्र०); पच < पञ्चन् < √पचि (व्यक्तीकरणे)। मिला०—पञ्चनिका (= हल का एक अंग) —(मो० वि० डि०)। मिला०—पचड़ (देशी) = करना, पकना। < पचड़ (देशी) = जाना, गमन करना (पा० स० म०)]।

पचदू—(सं०) (१) जमीन की उपज में से तीन पंचमांश (३/५) जमींदार और दो पंचमांश (२/५) किसान में बाँटने की प्रणाली (उ० प०)। पर्या०—पाँच दूआ (द० मुं०)। अन्यत्र यह प्रकार अब व्यवहृत नहीं होता है। (२) जमीन की उपज में से दो पंचमांश (२/५) जमींदार और तीन पंचमांश (३/५) किसान में बाँटने की प्रणाली (प०, प० मै०)। पर्या०—पचादूआ (पट०, गया०, द० पू०); पंचदू (प०)। यह प्रणाली अन्यत्र व्यवहृत नहीं है।
[पच+दू; पच < पाँच < पञ्चन्; दू < द्वि-, द्वौ]।

पचन्नी—(सं०) प्रति रुपया पाँच आना वार्षिक व्याज।
[पच+न्नी; पच < पाँच < पञ्चन्, न्नी < अन्नी < आना < आणक-]।

पचपोहड़ा—(सं०) ऊख रोपने के पहले दिन देव-ब्राह्मण पूजकर पाँच ऊख रोपने की प्रक्रिया (पट०-१)। दे०—पँचउख।

पचफरिया—(सं०) पाँच फालों का बना एक तरह का हल, जो नील के कारखाने में काम आता था। इसका प्रयोग आजकल ऊख के खेत जोतने में होता है (सा०)। दे०—पँचफारा। पर्या०—गेवहनी (सा०)।
[पच + फर + इया (प्र०); पच < पञ्चन्, फर < फार < फाल-]।

पचफेंड़वा—(सं०) वह स्थान, जहाँ पाँच पेड़ लगे हों (पट०-१)।

पचरापचरी—(सं०) किसी ढीली चीज को कसने के लिए ठोका जानेवाला पचड़।
[पचरा + पचरी (अनुवा०) < पचरा। दे०—पचड़ी]।

पचरावन—(सं०) ऊख के कोल्हू को ठीक और दुरुस्त रखने के लिए किसान की ओर से बढ़ई को मिलनेवाला पारिश्रमिक या पुरस्कार (शाहा०)। पर्या०—पांवर (शाहा०), कोलहकड़ (पट०); कोल्हकर (द० मुं०), कोलहू पचरानी (द० भाग०), खान (सा०)।

[पचरा + वन ; पचरा < पचड़ा < पच ; वन (प्र०) या वन < वन (=मजदूरी)]।

पचरुखी—(सं०) गोल थूकवाला उजला गेहूं (द० भाग०)। दे०—दूधी।

[पच + रुखी ; पच < पांच < पञ्चन्, रुखी < रुख < रूक्ष < वृक्ष-। संभ०—पचरुखी गांव या किसी स्थान-विशेष के नाम पर ही यह नाम पड़ा हो]।

पचवटा—(सं०) चार बैलों से चलनेवाले हेंगे में दाहिनी ओर के बैलों की जोड़ी का बाईं ओर चलनेवाला बैल (चंपा०-१)।

[देशी]।

पचांठी—(सं०) धान की रोपनी शुरू करने के पहले पूर्व दिशा की ओर मुंह कर कृषक द्वारा धान की पांच मोरी को रोपने की प्रक्रिया। दे०—पचांठी।

[पच + आंठी ; पच < पांच < पञ्चन्-, आंठी < आंटी]।

पचाड़—(सं०) पांच वर्ष की उम्र के बाद बच्चा देनेवाली गाय।

[पच+आड़; पच < पांच < पञ्चन्, आड़ (प्र०) या < अन्द (?)]।

पचार—(सं०) (१) जुए के दानों पल्लों को जोड़ने के लिए बैल के कंधे के भीतर की ओर के छिद्र में लगाई जानेवाली कील (शाहा०) दे०—समैल।

[पचार < पचाड़<पचड़ (?) <पञ्च<√पचि (व्यक्तीकरणे) = ?]।

(२) दो वर्ष पर बच्चा देनेवाली भैंस या गाय (चंपा०-१)। दे०—पचाड़।

[पच+आर ; पच<पांच<पञ्चन् (?), आर (प्र०) या < अब्द- (?)]।

पचौआं—(सं०) जोतने के बाद पानी पटाया हुआ खेत। दे०—छिटिकनी।

[पच + औआं; पच < पचल (बिहा०) = पचना, गलना, मिलना, औआं (प्र०) या < वप- (?)]।

पचड़—(सं०) धुरी के अंत में पहिये के बाद लगी हुई कील, जो पहिये को गिरने से बचाती है। दे०—धुरकिल्ली। (२) पहिये की तीली को कसने के लिए दिया जानेवाला पचड़। दे०—पच्चर।

[पच + ड़ (प्र०) ; पच < पञ्च <√ पचि (व्यक्तीकरणे)-(?) ; दे०—पचड़ी]।

पच्चर—(सं०) एक पचड़, जो अपनी जगह पर कड़हड़ी को कसे रहता है। दे०—करकिल्ला।

[पच +र (प्र०) ; पच<पञ्चन् <√पचि- (?)। दे०—पचड़ी]।

पचादुआ—(सं०) जमीन की उपज में से दो पंचमांश (२/५) जमींदार और तीन पंचमांश (३/५) किसान में बांटने की प्रणाली (पट०, गया, द० पू०)। दे०—पचदू।

[पचा + दुआ ; पचा < पांच < पञ्चन्, दुआ < द्विक]।

पच्ची—(सं०) पहिये की तीली कसने के लिए दिया जानेवाला पचड़ (सा०)। दे०—पच्चर।

[पच+ई (प्र०) ; पच < पञ्चन् <√ पचि। दे०—पचड़ी]।

पच्छ—(सं०) (१) चांद्रमास का आधा या १५ दिनों का एक निश्चित काल-परिमाण, पक्ष। दे०—पख। (२) पक्ष, एक भाग। (३) पंख। पर्या०—पख, पाख।

[पच्छ < पक्ष <√ पच् (व्यक्तीकरणे) या √ पक्ष् (परिग्रहे) ; पक्ख, पच्छ (पा०, प्रा०), पख, पक्ष (हि०, ने०) ; पाख (बिहा०)]।

पछखी—(सं०) ऊख की जड़ से निकलनेवाली शाखा, जिससे पौधे को हानि पहुंचती है (चंपा०)। दे०—दोंज।

[पछ+खी या पछख+ई (प्र०)<पक्षक < पक्ष-]।

पछनिहार—(सं०) (१) वह मनुष्य, जो पोस्ते के बीजकोष को चीरता है, जिससे रस निकलकर बाहर जम जाता है और वही जमा रस अफीम होता है। (२) रोग-निवारण के लिए टीका देनेवाला। पछनिहारिन (स्त्री०)।

[पछनि + हार; पछनि < पाछन < पाछल (बिहा०), पाछना (हि०)। संभ०—<पच्छ<√ पचि (व्यक्तीकरणे = व्यक्त करना)-<पञ्चयति ; हार (प्र०) या <√ हृ (=हर) + अण् (=अ)]।

पछनिहारिन—(सं०) (१) पोस्ते के बीजकोष को चीरनेवाली मजदूरिन। दे०—पछनिहार। (२) पछनिहार की स्त्री।

[पछनि + हार+ इन (स्त्री प्र०); पछनि <पाछन < पाछल (बिहा०) ; पाछना (हि०), हारिन (प्र०)]।

पछहर—(सं०) ढेंकी का पावदान, जिसपर पाँव रखकर ढेंकी चलाई जाती है (सा०, चंपा०)। दे०—पौदर।
[पछ + हर; पछ < पाछ < पच्छा < पश्चात्, हर (प्र०)]।

पछाड़—(सं०) (१) लाठे के पिछले भाग के अंत में समभार के लिए मिट्टी या किसी दूसरी चीज का रखा बोझ (चंपा०)। (२) पीछे का भाग। (३) ढेंकी का पावदान, जिसपर पैर रखकर ढेंकी चलाई जाती है। दे०—पौदर।
[पछ+आड़; पछ < पाछ < पच्छा < पश्चात्; आड़ (देशी) या पछाड़ < पश्चार्ध- (संस्कृ०); पच्छद्ध (प्रा०); पछाड़ी (हिं०); पछाडि (ने०); पछाड़ी (कुमा०); पछ्वाड़ा (पं०); पछाड़, पछवाड़- (गु०)। इन शब्दों में इ म० मारो० का उधार है— (नेपा०)]।

पछिमाहुत—(वि०) पच्छिम की ओर का (चंपा०-१)।
[पच्छिम+आहुत; पछिम < पच्छिम < पश्चिम; आहुत (?) या (प्र०)। मिला०—हुत (देशी)=अभिमुख, हुत्तोऽभिमुहे (देशी०)]।

पछियारी—(सं०) (१) एक प्रकार का ऊख, जो लंबा, मोटा, कोमल और रसपूर्ण होता है (द० भाग०)। दे०—पौंड़ा। (२) पश्चिम तरफ के मकान आदि। (वि०) पश्चिम की ओर का, पश्चिम का।
[पछ+इयारी; पछ < पच्छ < पश्च या पश्चिम, इयारी (प्र०) या < वाड़, वाट (?)। मिला०—दखिनवारी, उत्तरवारी आदि (मै०)। वारी < वाट < वाटी- (?)]।

पछुआ—(सं०) (१) किसान के द्वारा जमींदार के हिस्से के अनाज में वृत्ति आदि के नाम पर लिया गया पूरक अन्न (सं० उ०)। (२) अनाज तौलने के बाद अतिरिक्त पूरक रूप में अंजलि या हाथ से दिया हुआ अनाज (सामा०)। पर्या०—कसर (प०), फाव (द० पू०), लाभ (चंपा०, द० मुं०)। (३) अन्न तौलनेवाले पुरुष का शुल्क (चंपा०, मै०)। दे०—हटवाई। (४) कभी-कभी खरीदार को दिया जानेवाला अंश, फाव। दे०—पलुआ। (५) गाड़ी के पीछे आक के ठीक सामने लगा हुआ लकड़ी का एक मोटा टुकड़ा, जो गाड़ी के पीछे गाड़ी पर का सामान गिरने से बचाता है। (६) ढेंकी का पावदान, जिसपर पैर रखकर ढेंकी चलाई जाती है (द० मुं०)। दे०—पौदर। (७) अनाज को पैंचकर निकाला गया पिछला अन्न। (८) पहनी हुई धोती का पिछला भाग, जो पीछे खोंस लिया जाता है। (९) पैर का गहना। (वि०) पीछे का।
[पछ + उआ; पछ < पाछ < पच्छ < पश्च, उआ (प्र०)]।

पछेड़—(सं०) लाठे के पिछले भाग के अंत में समभार के लिए मिट्टी या किसी दूसरी वस्तु का रखा गया बोझ (द० पू० मै०)। दे०—लेद। (वि०) पीछे का।
[पछ+एड़; पछ < पाछ < पच्छ < पश्च, एड़ (प्र०)]।

पछेया—(सं०) पश्चिम की ओर से आनेवाली हवा (चंपा०-१)।
[पछ+एया; पछ < पच्छ < पश्च, एया < इया < इक- (?)]।

पछौरा—(सं०) ढेंकी का पावदान, जिसपर पैर रखकर ढेंकी चलाई जाती है (द० प० शाहा०)। दे०—पौदर।
[पछ + औरा; पछ < पाछा < पच्छ < पश्च, औरा (प्र०) या < अवट (?)]।

पजरल—(क्रि०) आग का फैलना या पसरना, आग का जलना (मुं०-१)। पर्या०—पझरल (मुं०-१)।
[पजर + ल (प्र०); पजर < पज्जर < प्रज्वल < प्र+√ज्वल]।

पजवाहा—(सं०) ऊख की खड़ी फसल को काटनेवाला (मै०)। दे०—अँगेड़ीहा।
[देशी- (?)]।

पजहना—(सं०) किसी पौधे की अनावश्यक बाढ़ (चंपा०-१)।
[देशी- (?)]।

पजावल—(क्रि०) आग सुलगना, आग फैलना (मुं०-१)। पर्या०—पझावल (मुं०-१)।
[पज+आवल (प्र०); पज < पज्ज < पज्झर < पझर < प्र + √ क्षर् या < पज्जंत < पर्यन्त या पजहन < प्रदहन- (?)]।

पजावा—(सं०) (१) पागुर। (२) ईंट, खपड़े आदि का भट्ठा (मुं०-१)। मुहा०—पजावा करल = पागुर करना। कहा०—'बकरी करे पजावा तऽ ब्रायन कहे कि हमरे चर्चा करे छे।' किसी बात को अपने ऊपर ले लेना या समझ लेना। पर्या०—पझावा (मुं०-१)।
[पजावा < पजावः (फा०)। मिला०—आपाक, पाकपुटी, पचनी (= आँवाँ, भट्ठा (संस्कृ०)]।

पझरल—(क्रि०) दे०—पजरल (मुं०-१)।
[पझर + ल (प्र०); पझर < पज्झर < पज्जल < प्रज्वल। दे०—पजरल]।

पझावल—(क्रि०) दे०—पजावल (मुं०-१)।
[पझ+आवल (प्र०); पझ < पज्झ < प्रज्वल, प्रदह। मिला०—पजावल]।

पझावा—(सं०) (मुं०-१)। दे०—पजावा।

पट—(सं०) हलवाही का एक तरीका, जिसमें किसान एक हल के लिए दो हलवाहों को रखता है और वे हलवाहे परस्पर एक-दूसरे को आठ दिन पर अवकाश दिया करते हैं (उ० पू० मै०)। (२) उलटा, पर्यस्त। पर्या०—साटी-पाटी। (३) हल और हरीस को जोड़नेवाला पच्चर या किल्ली (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—पाट।

[देशी (?) या पट < पट्ट- (= चौरस, समतल; यथा-शिलापट्ट, ललाटपट्ट)। मिला०—पटिवट्ट (पा०); पतिवर्त- (संस्कृ०)। मिला०—पट्ठ (=पीठ) < पृष्ठ-]।

पटकी—(सं०) गदराने के समय चने का पौधा (द० प० शाहा०)। पर्या०—चटकोहा (शाहा० शे० भाग)।

[देशी]।

पटपर—(सं०) (१) नदी की छाड़न की वह नई भूमि, जिसपर नया वार्षिक भूमिकर निर्धारित करना शेष है (द० पू० बिहा०)। (२) नदी की छाड़न की परती भूमि, जिसमें कुछ उपजता नहीं है (सा०, द० मै०)। (३) खलिहान में पड़ा हुआ निष्फल और चुना हुआ अनाज (उ० प०)। पर्या०—खखरा (प० उ०)। (४) धान के पुआल का बारीक भूसा (चंपा०-१)।

[देशी]।

पटपरी—(सं०) चौरस चोटीवाली पहाड़ी (द० प० शाहा०)।

[देशी। मिला०—पट्ट = समतल, चौरस]।

पटरी—(सं०) बैलगाड़ी के फर के ऊपर गाड़ी के आगे-पीछे दिया जानेवाला लगभग चार हाथ लंबा लकड़ी का टुकड़ा (पट०-१, अन्यत्र)।

पटल—(क्रि०) (१) पटना, सिंचना। (२) किसी गड्ढे या निम्न स्थान को भरकर समतल बनना। (३) मकान, कुआँ आदि के ऊपर छत का बनना। (४) ऋण का चुकता होना। (५) कहीं किसी वस्तु की अधिकता होना। (६) भावों, विचारों और रुचि आदि की समानता होना। (७) खरीदगी के समय सौदा पटना (मुं०-१)।

[पट + ल (प्र०); पट < पट्ट- (?); पटना (हिं०); पट्नु (ने०); पहरणा (पं०) = उखाड़ना, खोलना; पटनु (सिं०); <पटयति, पाटयति (संस्कृ०); पटई (प्रा०); पाटणे—(नेपा०)]।

पटवारी—(सं०) (१) मालगुजारी की रसीद काटनेवाला और जमींदारी का हिसाब रखनेवाला क्लर्क। इस कार्य के लिए प्रायः कायस्थ रखे जाते हैं (पट०-१, सर्वत्र)। (२) मालगुजारी वसूल करनेवाला एक अधिकारी (सर्वत्र)। पर्या०—मुंशी, देमान।

पटवे—(सं०) खेत जोतने के बाद ढेला फोड़ने के लिए लकड़ी का बना हुआ चौरस, लंबा और मोटा तख्ता, हेंगा (पट०)। दे०—हेंगा।

[पट + वे; पट < पट्ट-, < पटल-; वे (?) संभ०—< वेधक (?) या (प्र०)]।

पटहुआँ—(सं०) पानी पटाया हुआ खेत। दे०—पटौआ।

[पट + हुआँ; पट<पटल (बिहा०); पटना (हिं०), हुआँ (प्र०)। मिला०—हुत (देशी) = अभिहुत या हुआँ < भूत- (?)]।

पटाएल—(१) सींचना। दे०—पटाओल। (२) मटर आदि के पौधों में छीमी लगना। पर्या०—भरल। मटर आदि में अन्न लगने के समय निम्नांकित मुहावरे प्रयुक्त होते हैं: (क) पटा लागत बा = छीमी लग रही है (गया के उ०)। (ख) पटाएल पटरा = छीमी लग रही है (द० पू० मै०)। (ग) गदराएल = छीमी लग रही है। (घ) ढेंढी लागल है = छीमी लग रही है (गया, द० प०, शाहा०)। (ङ) ढिढि लागल है = छीमी लग रही है (पट०)। (३) जिस खेत में अधिकता से खाद पड़ी हो (गं० उ०)। दे०—खदीड़ खेत।

[पट + आएल (प्र०); पट < पट्ट- या < √पाट्। मिला०—पटाओल]।

पटाओल—(क्रि०) (१) पटाना, सींचना। (२) खेतों में खाद देना। (३) सौदा पटाना। (४) किसी गड्ढे आदि को भरकर समतल करना। (५) कुएँ आदि के ऊपर छत बनाना। (६) भावों, विचारों और रुचि में किसी दूसरे के अनुकूल करना। (७) ऋण आदि को चुकता करना। (८) लेटकर विश्राम करना।

[पट + आओल (प्र०); पट < पट्ट < पाट; पाव्यते-(संस्कृ०); पटाई (प्रा०); पटाना (हिं०); पटाउनु (ने०); पटुणे (कुमा०) = पत्थर बिछाना; पाटणे (मरा०)]।

पटाओल—(सं०) पानी पटाया हुआ खेत (उ० पू० मै०)। दे०—पटौआ। (वि०) पटा हुआ, सींचा हुआ।

[पट+आओल (प्र०); पट < पटल (बिहा०)। मिला०—पटल]।

पटाढ़ी—(सं०) इकट्ठा किए हुए धान में लगनेवाला एक कीड़ा (मै०)। पर्या०—पेटाढ़ी (मै०)।

[देशी। मिला०—पटार (बुंदे०) = कनखजूरा ; पटालुका (संस्कृ०) = जोंक]।

पटान—(सं०) सिंचाई (द० मुं०)। दे०—पटावन।

[पट+आन (प्र०) ; पट < पटन (क्रि०, बिहा०) ; पटाना (हिं०)]।

पटाय—(सं०) सिंचाई (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पट+आय ; पट <पटब (क्रि०); पटाना (हिं०)]।

पटारही—(सं०) कपास, रेंड़ और चने में लगनेवाला एक लाल कीड़ा (शाहा०)। दे०—पठाड़ी।

पटावन—(सं०) सिंचाई। पर्या०—पटौनी, पटान (द० मुं०), पटाय, पटौन (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पट+आवन (प्र०) ; पट <पटन (बिहा०, क्रि०) ; पटाना (हिं०)]।

पटावल—(क्रि०) (१) खेत में पानी, गोबर, खाद आदि डालना (चंपा०-१)। दे०—पटाओल। (२) सौदे की दर को तोड़मरोड़कर खरीदने के अनुकूल बनाना (मुं०-१)। दे०—पटाओल। (३) किसी खेत आदि में किसी चीज से पानी उलीचकर पहुँचाना। (४) लेटना। (५) ऋण चुकाना। (६) गड्ढे आदि को भरकर समतल करना। (७) मोल-तोल करना (चंपा०-१)। (८) दूसरे स्थान से पानी ले जाकर और उलीचकर खेत सींचना (सा०-१)। दे०—उदहल।

[पट+आवल (प्र०) ; पट < पटब (बिहा०, क्रि०); पटल (क्रि० का ये०)]।

पटिदार—(सं०) जमींदारी या किसी संपत्ति में हिस्सों (दायों) का अधिकारी। दे०—हिस्सेदार।

[पटि+दार; पटि < पट्टि, पट्टिका- (संस्कृ०); पट्टी (हिं०) ; दार (फा० प्र०)। मिला०—पट्टिधर (= पट्टा का मालिक, भागीदार)]।

पटिया—(सं०) दौनी में घूमनेवाला सबसे तेज और किनारे पर चलनेवाला बैल (उ० प०, उ० प० मैं०)। दे०—पाट।

[पट+इया (प्र०) ; पट < पटु+ईयस् (= ईयसुन् प्र०)=पटीयस्=पटुतम, तीक्ष्णतम, तेज (?)]।

पटियैत—(सं०) पट्टीदार (सा०-१)। दे०—पटिदार।

[पटि + ऐत या पट+इयैत ; पट < पट्टी <पट्टि, पट्टिक-]।

पटिहर—(सं०) सिंचाई में एक किसान द्वारा दूसरे किसान की सहायता करने की प्रक्रिया (चंपा०, द० मुं०)। दे०—जाना।

[पटि+हर < प्रतिहार < प्रति+ √हृ (= प्रत्युपकार करना, लौटाना) ; पडिहार (प्रा०) ; पडिहरई (प्रा०) ; पडिहरय (देशी)=प्रत्युपकार करना। मिला०—प्रतिहस्त]।

पटुआ—(सं०) सन की जाति का एक प्रसिद्ध पौधा। इसकी छाल के रेशों से बोरा आदि बनाने के लिए सूत बनाये जाते हैं। इसके फूल कुसुम के फूल की तरह होते हैं। इसका साग भी होता है। पर्या०—कुसुम्भ, कुदरुम (द० भाग०)।

[पट + उआ (प्र०) ; पट < पाट, पट्ट (संस्कृ०) ; पट्ट (पा०, प्रा०) = मसृण वस्त्र ; पोट्ठ (करम०)=ऊनी वस्त्र, रेशमी ; पाट (ने०) = सन, जूट ; पार (कुमा०); पाट (बं०) = रेशमी वस्त्र, जूट ; पाट (ओ०) ; पाट (हिं०) ; पट्ट (पं०) ; पट्ट (ब्र०) ; पट्ट (सिं०) ; पाटो (गु०)=बैंडेज ; पट (सिं०) = रेशमी वस्त्र ; < पटः। संभ०—यह आग्नेय—एशियाटिक मूल से निकला हो ; < पट्ट पांचु (सिना०)=वस्त्र ; < पत्र-(नेवा०)]।

पटेआ—(सं०) एक प्रकार की चोईंटा-रहित मछली (सा०-१)।

[पटेया (देशी) ; मिला०—पाठीन (संस्कृ०) = बोआरी]।

पटेड़—(सं०) (१) हेंगा (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—हेंगा।

[पटेड़ < पटल-]।

(२) एक प्रकार की घास (दर०-१, पूर्णि०-१, चंपा०)।

[देशी। मिला०—पटीर (चंदन) ; पलाल। संभ०—< पटेरक < पट्टेरक]।

पटेर—(सं०) एक प्रकार की घास। इससे चटाई बनाई जाती है (चंपा०-१)।

[पटेर < पटेरक < पट्टेरक]।

पटेला—(सं०) वह हल, जिससे ऊख-लगा खेत जोता जाता है (पट०-१)।

पटोई—(सं०) रेंड़ का एक रोग (प० मैं०, गया, द० मुं०)। दे०—तेलचट।

[पट+ओई< पत्रोर्म या पत्रोर्णायु (?) या < पत्र-कृमि-]।

पटौआ—(सं०) (१) ऋण के रूप में लिये हुये रुपयों के लौटने तक बंधक के तौर पर ले ली गई जमींदारी (उ० प० मैं०)। दे०—पतौतन। (२) पटा (सींच)-कर पैदा की गई नील। यह वर्षा के पहले कुआँ, बाँध आदि के पानी से सींचकर बोई जाती है। (३) सींचकर पैदा की गई फसल। (४) विशेष समय के अंदर ऋण के मूल और सूद चुकता करने के लिए भूमि को बन्धक रखने का एक प्रकार। (५) पानी पटाया हुआ खेत। पर्या०—पटौई (प०), पटौना (द० पू० मैं०), पटाओल (उ० पू० मैं०),

पटहुआँ (शाहा०), हथपिसेट (गया), भरैया (द० प० शाहा०)।

[पट + औआ (प्र०) ; पट < पटावल (बिहा०, क्रि०); पटाना (हिं०)=सौदा करना, चुकता करना]।

पटौई—(सं०) पानी पटाया हुआ खेत (प०)। दे०—पटौआ।

[पट + औई (प्र०) ; पट < पटावल ; पटल (बिहा० क्रि०)]।

पटौन—(सं०) पटाना, सींचना, सिंचाई (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—पटावन।

[पट+औन (प्र०) वा पट <पटल (क्रि० बिहा०)]।

पटौना—(सं०) पानी पटाया हुआ खेत (द० पू० मै०)। दे०—पटौआ।

[पट+औना (प्र०) ; पट < पटावन < पटावल (बिहा० क्रि०)]।

पटौनी—(सं०) सिंचाई। दे०—पटावन।

[पट + औनी (प्र०) ; पट < पटावन < पटावल (बिहा० क्रि०)]।

पटौनी—(सं०) सींचने की क्रिया, भाव या मजदूरी (मुं०-१)।

[पट + औनी (प्र०) ; पट < पटावन < पटावल (बिहा० क्रि०)]।

पट्टा—(सं०) (१) हल का पचाड़ (गया)। दे०—पाट। (२) हल को कसे रहने के लिए उसमें लगाई जानेवाली कील (पट०-१)। (३) मवेशी की पीठ पर अन्न ढोने का बोरा (दे०—आखा)।



[पट्टा < पट्ट < पट्टक-]।

पट्टी—(सं०) किसी हिस्सेदार के अधीन गया हुआ जमींदारी के गाँव का एक विभाग। उस गाँव का प्रधान भाग, जो सिकमी (सहायक विभाग) के अंदर है। पर्या०—तखता, चोक (गं० उ०), फाट (गया), पटिदार (वि०) = पट्टीवाला, हिस्सेदार।

[पट्टी < पट्टि < पट्टिका < पट्ट ; पट्टी (हिं०) ; पट्टि (ने०)]।

पट्टीदार—(सं०) (१) दे०—पटिदैत। (२) जमींदार का हिस्सेदार (पट०-१)।

[पट्टी + दार ; पट्टी < पट्टि, पट्टिका ; दार (फा० प्र०)। मिला०—पट्टिधर, धर < √धृ]।

पट्ठा—(सं०) पूरा जवान और मजबूत बैल (सा०-१)। वि०—जवान और सबल।

[पट्ठा < प्रष्ठ, प्रष्ठक ; पट्ठा (हिं०); पट्ठो (ने०)]।

पड़पड़ावल—(क्रि०) (१) तड़-तड़ दे मारना। (२) जल्दी-जल्दी बरसना। (३) जले-कटे या घाव पर नमक आदि जैसी वस्तु के पड़ जाने पर पीड़ा होना (मुं०-१)।

[पड़पड़ + आवल (प्र०) ; पड़पड़ < पटपट (अनुका०) < पटत्पटत् (अनु०)]।

पड़रू—(सं०) भैंस का बच्चा। दे०—पाड़ा-पाड़ी। पर्या०—कड़रू, पड़रा।

[पड़+रू (प्र०) ; पड़ <पड्ड <पड्डि, पड्डी- (देशी)—'पड्डी पढम पसूया' (देशी०) ; (पड्डी = प्रथम प्रसूता) ; पड्डिया (देशी०) = छोटी भैंस ; पड्डा = भैंसा (पा० स० म०) ; पाड़ा (हिं०, पुं०)= भैंस का बच्चा ; पाड़ी (हिं०, स्त्री०)=भैंस का मादा बच्चा; पाड़ा-पाड़ी (बिहा०); पाड़ी, पाड़ि (ने०) ; पाडो (ने०) ; पाड़ा-पाड़ी (कुमा०)—पाठा, बकरी का बच्चा ; पाड़ो (सिं०, गु०) ; पाड़ा (मरा०)। मिला०—प्रष्ठ- (संस्कृ०)—आगे चलनेवाला, पट्ठा। प्रष्ठवाह् (< प्रष्ठवाह्) = गाड़ी में चलनेवाला अगला बैल, चार वर्ष का बाछा]।

पतइन—(सं०) पत्ता (चंपा०-१)।

[पत+इन (प्र०) ; पत < पत्र-]।

पतई—(सं०) ऊख के ऊपर की सूखी हुई पत्तियाँ (शाहा०)। दे०—पतैन।

[पत + ई (अल्पा-प्र०) ; पत < पात < पत्र ; पत्रकित > पतई = छोटे पत्तोंवाले]।

पतकट्टा—(सं०) धान के पौधे को खानेवाला लंबी आकृति का एक हरा कीड़ा (मै०)। दे०—छपटा।

[पत+कट्टा ; पत < पत्र ; कट्टा < कटल, काटल (बिहा०, क्रि०) ; काटना (हिं०) < कर्त्‌ < √ कृत् (=काटने)]।

पतकोबी—(सं०) गोभी की जाति की एक तरकारी, जिसमें केवल पत्ते ही होते हैं (पट०-१)।

पतनारी—(सं०) ऊख के कोल्हू में लगी लकड़ी की नली, जिससे होकर ऊख का रस नाद में चूता है।

[पत + नारी ; पत < पतला वा पात < √ पत् (गिरना) ; नारी < नाली, नाडी]।

पतनी—(सं०) (१) खेत में काटी गई फसल (पट०)। दे०—डाँठ। (२) किसी जमींदार के द्वारा अपनी बड़ी जमींदारी से अलग करके सदा के लिए निश्चित द्रव्य के ठीके पर दी गई थोड़ी-सी जमींदारी।

[पत + नी (प्र०) ; पत < √ पत् (?) वा (देशी), < प्रस्तीर्ण- (?) < प्र+ √ स्तृ+न (=क्त)]।

पतनीदार—(सं०) पतनी भूमि का ठीका लेनेवाला व्यक्ति।
[पतनी+दार (फा० प्र०) < पतनी (देशी)]।

पतरपारा—ऊख की खड़ी फसल को काटनेवाला (द० मुं०)। दे०—अँगेड़ीहा।
[पतर+पारा ; पतर < पतर < पत्र ; पारा < पार < √पार् (पारयति=पार करता है) या पारा < पात < √पाति (पातयति) < √पत् < पार < √पाट् (पाटयति, उत्पाटयति)]।

पतरस—(सं०) ऊख के ऊपर की सूखी पत्तियाँ (उ० पू० मै०)। दे०—पतैन।
[पत + रस (प्र०-१) ; पत < पात < पत्र-। मिला०—पत्ररस-]।

पतरावल—(क्रि०) पतला होना, दुबला होना, क्षीण होना, कमजोर होना (मुं०-१)।
[पतर+आवल ; पतर < पतरा < पतला < पत्तल < पत्रल (?) ; आवल (प्र०)।

पतलगुआ, पतलग्गू—(सं०) (१) अधिक वर्षा के कारण मरा चना (गं० द०)। दे०—मराइल। (२) पतलगुआ = पत्ते में लगनेवाला एक प्रकार का कीड़ा या रोग या तद्रोगग्रस्त।
[पत + लगुआ ; पत < पात < पत्र- ; लगुआ < लगल, लागल (बिहा०, क्रि०) ; लगना (हिं०)]।

पतलग्गू, पतलगुआ—(सं०) अधिक वर्षा के कारण मरा चना (गं० द०)। दे०—मराइल।
[पत+लग्गू ; पत < पात < पत्र- ; लग्गू < लगल, लागल (बिहा० क्रि०) ; लगना (हिं०)। दे०—पतलगुआ]।

पतला—(सं०) दूर-दूर पर की बुआई (द० मुं०, चंपा०)। दे०—पातर। (वि०) (१) कोई वस्तु, जो तरल हो। (२) जो मोटा या घना नहीं हो।
[पत+ला (प्र०) ; पत < पत्र , पत्रल-(?)]।

पतलार—(सं०) एक पशुखाद्य घास (चंपा०-१)।
[देशी]।

पतलुका—(सं०) पत्तों में छिपा हुआ आम, जो तोड़ते समय छूट जाया करता है (पट०-१)।

पतलुकवा—(वि०) पत्तों में छिपा हुआ (चंपा०-१)।
[पत+लुक+वा (प्र०); पत < पत्त < पत्र-; लुक+वा (प्र०) < लुकल (बिहा०, क्रि०)]।



पतलो—(सं०) ऊख के ऊपर की सूखी पत्तियाँ (द० प० मै०, चंपा०-१)। दे०—पतैन।
[पत + लो (प्र०) < पत्तल < पत्रल-]।

पतहर—(सं०) (१) ऊख के ऊपर की सूखी पत्तियाँ (चंपा०, उ० प० मै०, री०)। दे०—पतैन। (२) एक प्रकार की रस्सीवाली घास, जो बोझा बाँधने या बरतन साफ करने के काम आती है। दे०—कुश। (३) सरकंडे की पत्ती। इसी से मूँज निकलती है (चंपा०-१)।
[पत + हर < पतहोर < पतहोल < पतहुल < पत्रबहुल (?) या पतोर, पतहर, पतहोर < पत्रपुट, पत्रकूट (?)]।

पतहरल—(क्रि०) पतहर के समान फसल का बढ़ना।
[पत+हर+ल (प्र०) < पतहर < पत्रधर]।

पतहूल—(सं०) ऊख के ऊपर की सूखी पत्तियाँ (पट०)। दे०—पतैन।
[पत + हूल < पत्र + बहुल (?) ; दे०—पतहर]।

पतहोल—(सं०) ऊख के ऊपर की सूखी पत्तियाँ (द० मुं०)। दे०—पतैन।
[पत+होल < पत्र+बहुल (?)]।

पतालकोहड़ा—(सं०) जमीन में बैठनेवाला एक प्रकार का कंद। यह पाँच-सात सेर का होता है। इसकी तरकारी बनाई जाती है (पट०-१)।

पतालुकंद—(सं०) कमल की जड़। इसकी तरकारी होती है (पट०-१)।

पतावल—(क्रि०) कमजोरी के कारण पैर का इधर-उधर पड़ना (चंपा०-१)।
[पत+आवल ; पत < पात < √ पत्]।

पतावन—(सं०) ऊख पेरना आरंभ करने के समय का उत्सव (पट०, गया)। दे०—पियार।
[पत+आवन (?)]।

पतिया—(सं०) (१) कपास के अंकुर में दो पत्तों का उद्गम (गया)। दे०—दो-पतिया। (२) वह अंकुर, जिसमें पत्ते निकल गये हों।



[पत + इया (प्र०) ; पत < पत्ता < पत्र या पत्तित > पत्तिअ > पत्तिय > पतिया]।

पतियाएल—(सं०) कपास का वह अंकुर, जिसमें पत्तियाँ निकल आई हों (शं० उ०)। पर्या०—ढुब्भी (द० प० शाहा०), डिब्भी (शाहा० के शे० भाग), कनियाएल (पट०, गया)। (क्रि०) अंकुर में पत्तियों का उद्गम होना। (वि०) विश्वस्त, प्रतीति-प्राप्त।
[पत+इया+आयल (प्र०); पत < पत्ता < पत्र या पत्रित]।

पतिलवा—(सं०) बड़ा, चौड़ा और उजले रंग का आम (पट०-१)।

पतिला—(सं०) (१) दूर-दूर पर की जानेवाली फसल की बुआई। (२) मिट्टी की हाँड़ी। (वि०) पतला।

पतील—(सं०) दूर-दूर पर की जानेवाली बुआई (द० भाग०, चंपा०)। दे०—पातर। (वि०) पतली वस्तु।
[पतील < पतिल < पत्रिल < पत्तल]।

पतुआ—(सं०) जौ आदि की वह फसल, जिसमें दाने न हों (चंपा०-१)।
[पतु+आ (प्र०); पतु < पत < पत्र-]।

पतैन—(सं०) ऊख के ऊपर की सूखी पत्तियाँ (सा०, द० पू० मै०)। पर्या०—पतहर (चंपा०, उ० प० मै०), पतसो (द० प० मै०), पतरस (उ० पू० मै०), पतई (शाहा०), पतौरा (गया), पतूल (पट०), पतौरा, पतहोल (द० मुं०), पतहोर (द० भाग०)।
[पत+ऐन (प्र०); पत < पत्ता < पत्र-]।

पतोर—(सं०) ईख के पौधों की सूखी पत्तियाँ (मुं०-१)।
[पत+ओर < पत्रकुल- (?), पत्रपुट-]।

पतौड़ी—(सं०) काटी हुई फसल (पट०)। दे०—डाँठ।
[पत+औड़ी (?) < पत्र- (?)]।

पतौतन—(सं०) लिये हुए रुपयों के लौटाने तक बंधक के तौर पर ले ली गई जमींदारी (शाहा०)। पर्या०—पटौआ (उ० प० मै०), सधौआ-पटौआ (सामा०)।
[पतौतन (?)]।

पतौर—(सं०) काटी हुई फसल (गया)। दे०—डाँठ।
[पत+और < पत्रकुल- (?) या पत्रपुट- (?)]।

पतौरा—(सं०) (१) भुट्टे के ऊपर की पत्तियाँ (द० मुं०)। दे०—खोइया। (२) ऊख के ऊपर की सूखी पत्तियाँ (गया, द० मुं०)। दे०—पतैन।
[पत+औरा < पत्रकुल- या < पत्रपुट- (?)]।

पत्तन—(सं०) काटी हुई फसल (द० भाग०)। दे०—डाँठ।
[देशी- (?)। मिला०—पत्र (?) या < √ पत्]

पत्तर—(सं०) (१) ऊख के कोल्हू के चारों ओर उसे फटने से बचाने तथा मजबूती के लिए लगाया गया लोहे का पत्तर। यह पुराने समय में लकड़ी के कोल्हू में लगाया जाता था, जिसका उपयोग अब नहीं होता। लेकिन, तेल के कोल्हू में अब भी वह पत्तर लगाया जाता है। दे०—बन। (२) सखुए आदि के पत्तों का बना वह पत्तल, जिसपर भोजन किया जाता है। (३) पत्ता, पत्र। (४) लोहे, पीतल आदि धातुओं का चिपटा लंबा फलक।
[पत्तर < पत्र- या पत्रल- (?)]।

पत्तल—(सं०) (१) पोस्ते की पंखुड़ियों की टिकिया (पट०)। दे०—फुलपत्ता। (२) पत्ता, पत्र। (३) सखुए अथवा किसी दूसरे पेड़ के पत्तों का बना पत्तल, जिसपर भोजन किया जाता है।
[पत्त+ल < पत्रल- (?)]।

पत्ता—(सं०) (१) बैलों के कंधे के ऊपर रखे जानेवाले पालो का चौड़ा अंश। पर्या०—पल्ला (द० मुं०), पलई, पत्ता (सा०)। (२) सखुए आदि के पत्तों का बना पत्तल, जिसपर भोजन किया जाता है। (३) पत्र।



[पत्ता < पत्रक- (?)]।

पत्ता तूरल—(क्रि०) (१) तंबाकू के ऊपर के पत्तों को काटना (सा०, द० प० मै०)। (२) पत्तों का तोड़ना। पर्या०—खोंपनी (द० पू० मै०), काटल, कटनी (अन्य०)।
[पत्ता + तूरल; पत्ता < पत्र, पत्रक; तूरल < तूर < √ त्रुट्-(?)]।

पत्थर—(सं०) (१) पत्थल, पत्थर की पटरी, जो मकान आदि बनाने में प्रयुक्त होती है। (२) वर्षा के साथ आकाश से गिरनेवाला बरफ का ठोस टुकड़ा।
[पत्थर < प्रस्तर- (संस्कृ०); पत्थरो (पा०); पत्थरं (प्रा०); पत्थल (हिं०); पत्थर (नें०); पथुर (कश्म०) = खुली छत, इधर-उधर छिटकी वस्तुएँ; पाथर (असं०, बँ०); पत्थर (ओ०); पत्थर (पं०); पथरू (सिं०); पाथो (गु०) = खेत में पड़ी हुई कटी घास; पाथर (मरा०); पतर (सिंह०)=भूमि]।

पत्थर, पत्थल, पाथर—(सं०) मानसून के साथ गिरनेवाला बरफ का ठोस टुकड़ा, वर्षोपल। दे०—पत्थल।

पत्थल—(सं०) (१) पत्थर, पत्थल कीप टरी, जो मकान आदि बनाने में प्रयुक्त होती है। (२) वह पत्थर, जिसपर हथियार रगड़कर तेज किया जाता है। पर्या०—पथल, सिल।
[पत्थल < प्रस्तर। दे०—पत्थर]।

पत्थल, पत्थर, पाथर—मानसून के साथ आया हुआ बरफीला पत्थर, उपल। पर्या०—बनौरी, बंगौरी, बँगौरिया (प० मै०, पट०, पू०)।

पथरल—(क्रि०) (१) सूखने के निमित्त फसल या घास आदि का बिखरना (२) फैलना। (३) अस्तव्यस्त होना (पट०-१)।

पथरिया-(सं०) बारीक कंकड़ मिली मिट्टी (द० भाग०)। दे०—चनकी। (वि०) पत्थर मिली हुई वस्तु। पत्थर से संबद्ध।

[पथर+इया (प्र०) ; पथर < पत्थर < प्रस्तर-]।

पथरी—(सं०) एक प्रकार की मछली (सा०-१)।

[देशी]।

पथरेहर—(सं०) कड़ी मिट्टी या पत्थर की चट्टान (द० मुं०)। दे०—चटान।

[पथरेहर < पथर < पत्थर < प्रस्तर-]।

पथरौटी—(सं०) (१) कड़ी मिट्टी या पत्थर की चट्टान (द० भाग०)। दे०—चटान। (२) पत्थर की बनी कटोरी।

[पथर + औटी; पथर < पत्थर < प्रस्तर-; औटी < अवट- (?)]।

पथरौर—(सं०) वह स्थान, जहाँ गोइठे पाथे जाते हैं (गं० द०)। दे०—पथारी।

[पथर + और ; पथर < पथार < पथारल, पाथल (बिहा०) ; <प्रस्तर < प्र० + √स्तृ+घञ् ; और < अवट-]।

पथार—(सं०) (१) ढेर, कतार, ढेरों छितराये हुए फल या अन्नादि (मुं०-१)। (२) सूखने के लिए धूप में फैलाया हुआ अन्न (चंपा०-१)।

[पथार < पत्थार < प्रस्तार-]।

पथारल—(क्रि०) अन्न आदि को धूप में सुखाने के लिए फैलाना या पतला करके छितराना (मुं०-१)।

[पथार + ल (प्र०) ; पथार < पत्थार < प्रस्तार < प्र + √ स्तृ + घञ् ; (प्रस्तारयति, प्रस्तृणोति (संस्कृ०) ; पत्थारेति, पत्थारति (पा०) ; पत्थारेइ (प्रा०) ; पथार (असा०) = खेत, वृक्षादिहीन भूमि ; पाथार (बँ०) = समुद्र ; पथोरा (गु०) = बढ़ाना, फैलाना ; पथार्वु (गु० क्रि०); पथारी (मरा०) ; पथर (सिंह०)]।

पथारी—(सं०) (१) वह स्थान, जहाँ गोइठे बनाये (पाथे) जाते हैं (गं० उ०)। पर्या०—पथरौर (गं० द०), आड़ा (प०), पाँड़र (गया, पट०)।

[पथ + आरी ; पथ < पाथ < पाथल (बिहा० क्रि०) या < पथारल ; आरी (प्र०) या अवट, वाट]। (२) काटने के पश्चात् इकट्ठा किये बिना ही खेत में पड़ी फसल (सा०)। दे०—डाँठ।

[पथार + ई (प्र०) ; पथार < पत्थार (प्रा०) < प्रस्तार < प्र+ √ स्तृ+घञ्। मिला०—पत्थारी (देशी) = समूह, शय्या, बिछौना (पा० स० म०) ; पथारी (गु०)]।

पथिया—(१) चारा खिलाने की टोकरी (चंपा०, उ० पू० मै०)। पर्या०—ओड़ सा (कहीं-कहीं)। (२) कुआँ खोदने के समय भीतर से मिट्टी को बाहर निकालने का पात्र (उ० पू० मै०)। दे०—चलना। (३) बाँस की कमाचियों की बनी हुई छोटी टोकड़ी, जो मवेशियों को चारा खिलाने के काम में भी आती है (गया, उ० पू० मै०, दर०-१)। दे०—छैंटी। (४) वह टोकड़ी, जिससे ऊख के टुकड़े कोल्हू में डाले जाते हैं। दे०—छैंटी।



[पथिया (देशी—?) <पत्थिअ, पत्थिआ (देशी०)= बाँस का बना पात्र-विशेष (पा० स० म०)। मिला०—प्रस्थ (संस्कृ०) = स्थिर, दृढ़, एक पुराना परिमाण, तत्परिमाण- मात्र, पकाने का पात्र- विशेष, यथा—प्रस्थपचा ; पहाड़ के ऊपर की चौरस भूमि]।

पथुली—(सं०) अरहर या झाऊ के डंठे की बनी हुई छोटी टोकरी (गया)। दे०—खाँची।

[पथ + उली; पथ <प्रस्थ (?) ; उली < कुलिक- (?)। मिला०—पत्थिअ, पत्थिआ (देशी०) = बाँस की टोकरी]।

पनअगोरा—(सं०) बाँध की रक्षा करनेवाला पुरुष (पट०-१)।

पनअगोरी-बाँध की रक्षा करने का पारिश्रमिक (पट०-१)।

पनकुकरी—(सं०) (१) आसमान में बादलों का एक दूसरे से संबद्ध टुकड़ा (चंपा०-१)। (२) चंद्रमा के चारों ओर लगा हुआ मंडल, जो वृष्टि का द्योतक माना जाता है (पट०-१)।

[पन+कुकरी; पन < पानी < पानीय ; कुकरी (देशी)]।

पनकुकुरी—(सं०) दे०—पनकुकरी।

पनकोरा नरियर—(सं०) नारियल का जलयुक्त फल (पट०-१)।

पनगंडा-(सं०) ऊख की पहली सिंचाई (पट०)। दे०—गंडाढार।

[पन + गंडा ; पन < पानी < पानीय ; गंडा < गण्ड, गण्डक-]।

पनछुंदा—(सं०) सिंचाई करनेवाला पुरुष (गया)। दे०—पनछुआ।

[पन + छंदा ; पन < पानी < पानीय ; छंदा < छुधा < छानल (?)]।

पनछुआ—(सं०) (१) सिंचाई करनेवाला पुरुष (उ० प०)। पर्या०—पनछंदा (गया), पनमोरवाह (सा०, चंपा०), खरवाहा (द० प० मै०), कन्हैया (द० प० शाहा०), लरवाहा (द० भाग०)। (२) सींचने के समय खेत में पानी को इधर-उधर बिखेरनेवाला मनुष्य (गं० उ०)। दे०—पनमोरा।

[पन + छुआ; पन < पानी < पानीय; छुआ < छानल (बिहा०, क्रि०) = छानना, रोकना < √ छादि]।

पनछाहा—(वि०) पानी मिला हुआ। पानी-जैसा स्वाद-वाला, पनियाहा (मुं०-१)।

[पन + छाहा ; पन < पानी < पानीय ; छाहा < छाया (?), < साह < सह]।

पनछाही—(सं०) फाल्गुन-चैत्र में तैयार होनेवाला तथा चूसने में स्वादिष्ट कोमल ऊख (द० प०, सा०, प० मै०)। दे०—पनसारी।

[पन+छाही; पन < पानी < पानीय ; छाही < छाहा < छाया (?)]।

पनछुच्छुर—(सं०) ऊख के अगले भाग का पानी-जैसा फीका स्वाद (सा०-१)। (वि०) पानी-जैसा फीका।

[पन + छुच्छुर; पन < पानी < पानीय; छुच्छुर (देशी ?)]।

पनछूँछुर—(सं०) दे०—सेवार।

[पन + छूँछुर ; पन < पानी < पानीय ; छूँछुर (देशी)]।

पनछोर—(सं०) (१) सिंचाई करनेवाले लाठे को बाल्टी से मिलानेवाली छोटी रस्सी, जिसमें सरकनेवाली गाँठ (फदा) रहती है। पर्या०—छोरी, छोर (द० प० शाहा०), जोता (सा०, पट०, गया, द० पू०), जोती (शाहा०, द० मुं०), नाधा (गया), नधान (सा०), बगहा (द० भाग०)। (२) बरहा को कूंड़ से बाँधने के लिए गाँठ दी हुई छोटी रस्सी। पर्या०—छोरी, छोर (प०), जोता (पट०, गया, द० पू०), नाधा (गया), जोती (शाहा०, द० मुं०), बगहा (द० भाग०)। (३) रस्सी का एक छोटा टुकड़ा, जिसे बरतन में बाँधकर पानी खींचनेवाली रस्सी (उबहनी) में बाँध देते हैं। पर्या०—छोरी (चंपा०, द० पू०)।

[पन + छोर ; पन < पानी < पानीय ; छोर (देशी)]।

पनडठिया—(सं०) छोटी पत्तीवाला एक प्रकार का तंबाकू (पू० त्रि०)। पर्या०—खँगड़ीवा।

[पन + डठिया ; पन < पान < पर्ण ; डठिया < डांठ < दण्ड- (?)]।

पनडुब्बा—(सं०) (१) वह खेत, फसल या स्थान, जो पानी में डूब जाया करता हो। (२) पानी में डूबकर मरा हुआ प्रेत।

पनडउरी—(सं०) वह दौरी (छोटी टोकरी), जिससे पानी उलीचकर खेत सींचा जाता है (चंपा०)।

[पन + दउरी ; पन < पानी < पानीय ; दउरी, दौरी (देशी ?)]।

पनदहन—(सं०) पानी-लगी भूमि को जोतकर हेंगाने की क्रिया (सा०-१)।

[पन + दहन ; पन < पानी < पानीय ; दहन < दहल (बिहा० क्रि०) = दहना, बहना]।

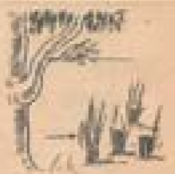
पनदाह—(सं०) पानी में की जानेवाली खेतों की विदहनी (चंपा०-१)।

[पन + दाह ; पन < पानी < पानीय ; दाह < दहल (बिहा० क्रि०) = दहना, बहना, पानी का अधिक होना]।

पनपल—(क्रि०) किसी ठूंठ पेड़-पौधे में फिर से नये पत्तों का निकल आना, पानी आदि के कारण पौधों का पुनः पल्लवित होना (चंपा०-१)।

[पनप + ल (प्र०) < पर्ण < प्र + √पर्ण् (हरा होना) (?), पनपना (हि०)]।

पनपा—(सं०) किसी पेड़ या फसल से नये डंठल के साथ निकला नया पत्ता या नई टहनी (चंपा०-१)।



[पन+पा (?) < पर्ण+पत्र (?), < आपर्ण (?)]।

पनपियाई—(सं०) प्रातःकालीन उपाहार। मजदूरों को कार्यावकाश में खेत में दिया जानेवाला जलपान। दे०—नाश्ता।

[पन+पियाई; पन < पानीय ; पियाई < पियावल (बिहा० क्रि०) < पायय < √ पा + णिच् ; पिलाना (हि०)]।

पनपिआए—(सं०) जलपान (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—पनपियाई।

पनपियाव—(सं०) जलपान, नाश्ता (मुं०-१)। दे०—पनपियाई।

पनपियार—(सं०) प्रातःकालीन उपाहार। मजदूरों को दिया जानेवाला नाश्ता (गया, पट०-१)।

[पन+पियार ; पन<पानी<पानीय ; पियार< पियावल (बिहा० क्रि०) ; पिलाना (हि०) <√ पा (पीना)] ।

पनपियाव—(सं०) मजदूरों को दिया जानेवाला नाश्ता । प्रातराश, प्रातःकालीन उपाहार । दे०—नाश्ता ।

[पन+पियाव; पन < पानीय; पियाव < पियावल (बिहा० क्रि०), पिलाना (हि०)] ।

पनमार—(सं०) वह जमीन, जिसका पानी सुखा दिया गया हो (सं० उ०) । पर्या०—सुगरा (द० प० शाहा०) ; सिड़ाह (शाहा०), सिड़ाहा (पट०, द० मुं०) ; सीड़ा (द० भाग०) ; सेऊत (गया) ।

[पन + मार ; पन < पानी < पानीय ; मार< मारल <√ मारय <√ मृ] ।

पनमोरवाह—(सं०) सिंचाई करनेवाला पुरुष (सा०, चंपा०) । दे०—पनछुआ ।

[पन+मोर+वाह (प्र०) ; पन < पानी < पानीय; < मोरल (बिहा० क्रि०) ; मोड़ना (हि०) < मोटन <√मुट् <√ मुड् (मोटति, मुडति, मोटयति, मोडति = दबाता है, टेढ़ा करता है] ।

पनमोरा—(सं०) सींचने के समय खेत में पानी को इधर-उधर बिखेरनेवाला मनुष्य । पर्या०—पनछुआ (सं० उ०), बरवाह (सं० द०, द० प०, शाहा०), मोरवाह (शाहा० शे० भाग), खंड़्आर (गया), खरवाहा (सा०), खंड़वाहा (पट०) ।

[पन+मोरा ; पन < पानी < पानीय; मोरा < मोरल, मोड़ल (बिहा०) ; मोड़ना (हि०) <√ मुट् <√ मुड्] ।

पनरोह—(सं०) पानी बहने या निकलने का रास्ता (चंपा०-१) ।

[पन+रोह; पन < पानी < पानीय; रोह (देशी) वा < अवरोह] ।

पनसखा—(सं०) वह स्थान, जहाँ कुआँ खोदने पर भूमि में नमी आती है (उ० प०) । दे०—पनसेल ।

[पन + सखा ; पन < पानी < पानीय; सखा (देशी) । मिला०—<√ षच् (समवाये)] ।

पनसारी—(सं०) (१) एक प्रकार का धान, जो छींटकर बोया जाता है (शाहा० के शे० भाग) ।

[पन + सारी ; पन < पानी < पानीय; सारी < शाल (?)] ।

(२) फाल्गुन-चैत्र महीने में तैयार होनेवाला चूसने में स्वादिष्ठ ऊख (गया, शाहा०) । पर्या०—पनसाही (सा०), पनछाही, पंसहिया (द० पू० सा०, प० मै०), पौंड़ी (द० भाग०) ।

[पन + सारी ; पन < पानी < पानीय ; सारी < सार (?) < शालि] ।

पनसाहा—(सं०) छींटकर (बावग) बोया जानेवाला मोटे दाने का लाल धान (द० मुं०) ।

[पन + साहा ; पन < पानी < पानीय; साहा < साह <√ षह् (मर्षणे = सहना)] ।

पनसाही—(सं०) फाल्गुन-चैत्र में तैयार होनेवाला चूसने में स्वादिष्ठ कोमल ऊख (सा०) । दे०—पनसारी ।

[पन + साही; पन < पानी < पानीय; साही < साहा < छाया (?) वा <√ सह्] ।

पनसेरा—(सं०) पाँच सेर की एक तौल । दे०—पसेरी ।

[पन+सेरा; पन < पाँच<पञ्च; सेरा< सेटक] ।

पनसेरी—(सं०) पाँच सेर की एक तौल (शाहा०) । दे०—पसेरी ।

[पन + सेरी ; पन < पन्न < पञ्च ; सेरी < सेट, सेटक] ।

पनसेल—(सं०) वह स्थान, जहाँ कुआँ खोदने पर भूमि में नमी रहती है । पर्या०—पनसखा (उ० प०), पसाई (द० प०), पसेवा (द० पू०) ।

[पन+सेल; पन < पानी < पानीय; सेल <सर <√सृ (गतौ)] ।

पनसोखा—(सं०) इन्द्रधनुष (मुं०-१, भाग०, चंपा०-१, पट०-१) ।



[पन + सोखा; पन < पानी < पानीय ; सोखा < सोखल (बिहा० क्रि०) ; सोखना (हि०) < शोष <√शुष् (शोषणे); लोक-विश्वास के अनुसार इन्द्रधनुष उगने पर नदी, तालाब आदि का पानी सूख जाता है । वह पानी सोखता है, इसलिए उसका नाम 'पनसोखा' पड़ा है] ।

पनहेरी—(सं०) पान बेचनेवाला (चंपा०-१) ।

[पन+हेरी; पन < पान < पर्ण- ; हेरी < हरि <√ह वा (प्र०); यथा—लाह से लहेरी] ।

पनार—(सं०) नोनियों द्वारा शोरा बनाने के समय कोठी से रस (मूलरस) के निकालने का मार्ग या नाली (मै० पू०) । पर्या०—पौनार (प०), मोहान (सा०), परनौहा (द० प० शाहा०) ।

[प+नार < प्रनाल < प्र+नाल; पनाला, पनारा, परनाला (हि०) ; पनेरो, पन्यालो (ने०) = तरल, जलमिश्रित ; पन्यालो (कुमा०) = जलमार्ग ; पणियाळी (पं०) = पानी से बना ; पाण्याळ (सिं०) = जलयुक्त; पनेरो, पन्यालो, पणियाली, पण्याळ (= पानी) < पानीय-] ।

पनिआरो—(सं०) लगातार पानी बरसते रहना (पट०-१)।

पनिऔचा—(सं०) पानी का शुल्क या राजस्व (पट०-१)।

पनिऔरा—(सं०) एक प्रकार का फल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पनि+औरा ; पनि < पानीय; औरा < आमलक (?) या (देशी)]।

पनिगर—(सं०) अधिक जलपूर्ण खेत (दर०-१, पूर्णि०-१, सा०-१)। (वि०) पानी का अधिकता से युक्त, पानी-मिला।

[पनि+गर ; पनि < पानी < पानीय ; गर (प्र०) या < गीर्ण (?)]।

पनियाएल—(सं०) धान रोपने के पहले तैयार करने के लिए जल से भरा हुआ खेत।

[पनिया + आयल (प्र०); पनिया < पानी < पानीय]।

पनियाएल–(क्रि०) (१) पानी से तर हो जाना (२) बादल में पानी भरना। (३) मुंह में पानी भर आना (मुं०-१)। (४) पानी से खेत को सींचना (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पनिया + आएल (प्र०) ; पनिया < पानी < पानीय-]।

पनियागर—(सं०) (१) मूठे से बाँधकर समाप्त की जानेवाली फलासी खड़ आदि की मोरी। (२) मोरी के नीचे बँधा सहायक लंबा बांस (उ० पू० मै०)। दे०—मोहब्बत।

[पनिया+गर (प्र०); पनिया < पानी < पानीय]।

पनियारी—(सं०) वर्षा होने पर चारों तरफ काफी पानी का लग जाना (चंपा०-१)।

[पनिया+री (प्र०) ; पनिया < पानी < पानीय]।

पनिवट—(सं०) (१) आबपाशी का कर। (२) साँप का विष उतारने के लिए मंत्र पढ़कर रोगी के मुख पर पानी झोंकने की क्रिया। (३) भूत भगाने के लिए भूत के रोगी के मुख पर पानी झोंकना (चंपा०-१)।

[पनि+वट; पनि < पानी < पानीय ; वट (प्र०)]।

पनिवहा—(सं०) खेत में पानी ले जाने की नाली (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—वह।

[पनि + वहा ; पनि < पानी < पानीय ; वहा < वहल (बिहा०) ; बहना (हिं०) < √ वह]।

पनिवाह—(सं०) हत्थे से पानी बिखेरकर खेत को सींचनेवाला पुरुष।

[पनि + वाह; पनि < पानी < पानीय; वाह (प्र०) < वाह < √वह]।

पनिहर–(सं०) पानी जाने का रास्ता (सा०-१)।

[पनि+हर ; पनि < पानी < पानीय ; हर (प्र०) या < धारा < फिर]।

पनिहा—(सं०) वह कुआँ, जिसमें जलस्रोत फूट निकला हो।

[पनि+हा; पनि < पानी < पानीय ; हा (प्र०) या < धर]।

पनिहाव—(सं०) चारों तरफ काफी पानी का हो जाना। पानी की अधिकता का होना (चंपा०-१)।

[पनि + हाव ; पनि < पानी < पानीय ; हाव (प्र०) या < आहाव- (संस्कृ०) = कुएं के पास का हौज]।

पनिहौआ—(सं०) दियर या बलुआही जमीन पर होनेवाला एक प्रसिद्ध फल, जिसके अंदर मीठा, ठंडा जल और प्रायः लाल गूदा भरा रहता है। तरबूज (चंपा०)। दे०—तरबूज।

[पनि + हौआ ; पनि < पानी < पानीय ; हौआ (प्र०)]।

पनुआं—(सं०) पानी-मिला ऊख का रस (द० प० शाहा०)। दे०—कचरस।

[पन + उआं (प्र०) ; पनि < पानी < पानीय < √ पा+अनीयर-]।

पनेढ़ी—(सं०) पान बेचनेवाला, पान का व्यवसायी मुं१(०-)।

[पन+एढ़ी ; पन < पान < पर्ण ; एढ़ी (प्र०) या < हेरी < हरि < √ हृ। मिला०—पनहेरी]।

पनौला—(सं०) जोतने के बाद पानी पटाया हुआ खेत (शाहा०)। दे०—खिरिकनी।

[पन+औला ; पन < पानी < पानीय ; औला (प्र०) या < आकुल = भरा हुआ]।

पपरा—(सं०) (१) गेहूँ के खेत में उगनेवाला एक पशु-खाद्य घास (द० प० शाहा०)। (२) सिंचाई के बाद मिट्टी के ऊपर की परत। (३) रोटी का उपरला पतला भाग। पर्या०—पिपरा (द० पू० मै०, पट०, गया, द० मुं०), पुपरा (चंपा०, द० भाग०)।

[पपरा < पर्पट- (संस्कृ०)=एक प्रकार की ओषधि; पर्प = घास-विशेष, < पर्पट, < पर्पटी]।

पपरी–(सं०) (१) अधिक वर्षा के बाद तेज गरमी से जमीन में पपड़ी पड़ने के कारण पौधे की वृद्धि की रुकावट (शाहा०, पू० मै०)। दे०–सपट जाइल। (२) खेत में पानी सूख जाने के बाद मिट्टी की ऊपरवाली सतह का कड़ा होकर जरा-सा उठ जाना।

(३) रोटी का वह पतला भाग, जो फूलकर एक-दूसरे से अलग हो जाता है (चंपा०-१)।
[पपरी < पर्पटी, < पर्पटी]।

पपीता—(सं०) एक प्रसिद्ध फल। पर्या०—पोपीता, पोहपित्ता (पट०-१), अरनमेवा, रणमेवा (भो०), अनरमेवा (मै०)।

पवन परिच्छा—(सं०) हवा की गति देखकर वर्षा का अनुमान करना (उ० प०)।
[पवन+परिच्छा < पवन+परीक्षा]।

पवनी—(सं०) गाँव में रहनेवाले बढ़ई, लोहार आदि शिल्पियों को किसान के द्वारा दिया जानेवाला निर्धारित अन्न आदि (गया)। दे०—पवनी।

पमड़ी—(सं०) गोल टिकियों का गाँजा (शाहा०)। दे०—गोल।
[देशी]।

पम्हावल—(क्रि०) जमीन के भीतर से तरावट आना (चंपा०-१)।
[पम्ह + आवल (प्र०) ; पम्ह < प्रस्नव- < प्र+ √स्नु (?)]।

पम्ही—(सं०) धान की महीन भूसी (चंपा०)।
[पम्ही (देशी ?)। मिला०—पम्ह (प्रा०) < पक्ष्मन् ; < √ पम्ह (जाना)। दे०—पंमी]।

पय—(सं०) किसी मवेशी का अवगुण (चंपा०-१)।
[पय < पर्यय- (?)]।

पयर—(सं०) धान के खेत में बोई हुई खेसारी (पट०-१)।

पयर बुनल—(क्रि०) धान में खेसारी बोना (पट०-१)।

परकठ—(सं०) जमीन में गाड़ा हुआ लकड़ी का कुंदा (पट०, गया, मै०)। दे०—चाहा।
[पर+कठ, <परिकाष्ठ-(?) वा <परिकर्त्त (=जिस-पर रखकर कुछ काटा जाय (?)]।

परकट्ठो—(सं०) लकड़ी का कुंदा, जिसपर लकड़ी काटने का काम होता है। दे०—ठीहा।
[पर+कट्ठो < परिकाष्ठ-वा < परिकर्त्त-(?)]।



परकल—(क्रि०) (१) चाट लगना, आदत लगना। (२) एक बार उपभोग करके किसी वस्तु-विशेष की ओर बार-बार प्रवृत्त होना। (वि०) अभ्यस्त, चटोर व्यक्ति।
[परक + ल (प्र०) ; परक < पराक् < पराञ्च् (= किसी ओर जाना या कहीं से बाहर होना)। पराक् (अक् भा०) = १२ दिनों का एक व्रत, जिसमें उपवास करके मन और इन्द्रियों को समाहित किया जाता है]।

परकल—(वि०) वह व्यक्ति, जिसे चाट लग गई हो। वह व्यक्ति, जो मजा ले चुका हो।
कहा०—'परकल गिदरा ककड़ी खेत' (मुं०-१) = लालच में फँसा व्यक्ति एक दिन धोखा खाता है।

परका—(सं०) मवेशियों का एक रोग, जिसमें सभी अंगों में छाले पड़ जाते हैं और अरुचि हो जाया करती है (पट०-१)।

परकावल—(सं०) (१) चाट लगाना, आदत डालना (मुं०-१)। (२) एक बार उपभोग कर लेने के पश्चात् बार-बार उस ओर प्रवृत्त करना।
[परक+आवल (प्र०) ; परक < पराक् < पराञ्च् = किसी ओर जाना या प्रवृत्त होना वा किसी ओर से विमुख होना]।

परगना—(सं०) वह भूभाग, जिसके अंतर्गत बहुत-से गाँव हों (सा०-१)।
[फा० । मिला०—परिगण (संस्कृ०) = घर; परि + √ गण् = अच्छी तरह गिनती करना, सूचीबद्ध करना]।

परखा—(सं०) (पट०-१)। दे०—ऐरिया

परछुई—(सं०) कभी-कभी कुएँ में एक पाट के न जमाने पर उसके स्थान में पुनः प्रयुक्त दूसरा छोटा पाट।
[देशी (?)]।

परछा—(सं०) (१) वह बरतन, जिसमें कोल्हू से ऊख का रस चूता है। पर्या०—तौला (उ० पू० मै०, शाहा०)। (२) करीन आदि से पानी गिरने का वह गहरा स्थान, जहाँ से पानी बहकर आगे बढ़ता है। (द० प० शाहा०)। दे०—तौथा।
[परछा < (?)। मिला०—प्रच्छाव-(= कहीं से गिरना, वह स्थान या पात्र आदि, जिसमें कुछ गिराया जाय); प्रच्छद-, प्रच्छाद- = ढकना, आवश्यक वस्तु]।

परजा—(सं०) (१) दूसरे की अधिकृत जमीन को नगदी आदि किसी निश्चित शर्त पर जोतनेवाला मनुष्य। दे०—असामी। (२) प्रजा, जनता। (३) 'चो' नाम के देशी खेल में राजा के अधीन खेलनेवाला अनुचर (पट०-१)।
[परजा < प्रजा ; प्र + √ जन् + अ (प्र०)]।

परजपत—(सं०) (१) कुम्हार (पट०-१)। (२) ब्रह्मा, सृष्टिकर्त्ता।

परत—(सं०) (१) पशुओं का एक ऐब, जिसमें सींगों की जड़ में कोंपड़ निकल आता है (सा०)। दे०—गाड़ा। (२) मिट्टी की तह। (३) किसी वस्तु की तह।

[परत < (?) मिला०—पृथ, पृथु = हस्ततल ; परथ (?)। पथ > पत्थर या पटल < परत (हिं० श० सा०)]।

परता—(सं०) (१) वह खेत, जिसे पुनः उर्वर बनाने के लिए कुछ दिन जोता-बोया जाय (उ० मै०)। दे०—परती। (२) वह जमीन, जो दैवी कारण से न जोती-बोई जा सकी हो (उ० पू०)। दे०—परात। (३) प्रति बीघा अफीम की साधारण उपज (गं० उ०, गया)। दे०—सरदर परतर।

[परता < (?)। मिला०—अप्रहता (?) = बिना जोती हुई भूमि ; 'द्वे खिलाप्रहते समे' (अमर०)]।

परतार—(सं०) जाँच-पड़ताल। जमीन या खेत की उपज की जाँच-पड़ताल।

[परताल < पड़ताल < परितोल (हिं० श० सा०)]।

परती—(सं०) (१) चरागाह के लिए छोड़ी गई जमीन। पर्या०—रखात (सं० उ०), रखाँत (द० मुं०), चिरागाह (सा०, पट०, द० मुं०), परांट, बाध (गया), अहार (शाहा०)। (२) वह खेत, जो पुनः उर्वर बनाने के लिए कुछ दिनों तक जोता-बोया न जाय। पर्या०—परता (उ० मै०), चाँच या पहपरती (द० भाग०)। (३) वह जमीन, जो जोती-बोई न गई हो। दे०—परीत।

[परती < (?)। मिला०—अप्रहता = बिना जोती जमीन। 'द्वे खिलाप्रहते समे' (अमर०)]।

परन—(सं०) ऊख रोपने का खेत (पट०-१)।

परन छूटल—(क्रि०) भविष्य में ऊख रोपने के लिए खेत में दूसरी फसल न बोकर उसे परती छोड़ देना (पट०-१)।

परन जोतल—(क्रि०) ऊख रोपने के लिए खेत का जोतना (पट०-१)।

परब—(सं०) (१) छोड़ देना ; परित्यक्त भूमि (गाइड०)। दे०—छोड़ना। (२) पर्व-त्यौहार।

परबे—(सं०) एक प्रकार की मछली पकड़ने की टोकरी। पर्या०—आरसी (पट०)।

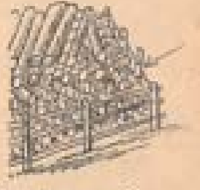
[देशी (?)]।

परमल—(सं०) (१) विशेष प्रकार से भुना हुआ अनाज या मकई। गेहूँ, मकई आदि अन्न पहले भिगोकर कूट लिया जाता है, तब भूना जाता है। दे०—होरहा। (२) विशेष प्रकार से भूना हुआ अधपका अन्न। दे०—बहुरी, होरहा।

[परमल < परिमल-]।

परय—(सं०) छोटा खेत, खेत का एक टुकड़ा, टोंगना (मुं०-१)।

[देशी]।



परवठ—(सं०) नेवारी या जलावन आदि रखने के लिए बनाया हुआ घेरा (प०)। दे०—घेरान।

[परवठ < परिवर्त-(?)]।

परवर—(सं०) ऊँची जमीन में होनेवाली लत्तर की एक प्रसिद्ध फली, जिसकी तरकारी होती है। पर्या०—पलवल, परोर, परोरा (द० भाग०), परोल, परवल।

[परवल < परोल < पटोल-]।

परवल—(सं०) दे०-परवर।

परवलिया झिंगनी—(सं०) परवल की आकृति की झिंगनी (पट०-१)।

परवसती—(सं०) राजा या जमींदार द्वारा छोटे पुत्र या भाई और उनके उत्तराधिकारी को जीवन के निर्वाहार्थ दी गई कुछ गाँवों की कर-मुक्त संपत्ति या स्वामित्व (द० पू० मै०)। दे०—खोरिश।

[पर+वसती < प्रवसति, प्रवसथ-(?)]।

परसवन—(सं०) पलाश का जंगल (पट०-१)।

परसाल—(क्रि०) आम आदि रसीले फलों का जरूरत से ज्यादा घुल जाना (मुं०-१)। (सं०) गत वर्ष, पूर्व वर्ष।

[परस+ल (प्र०) < परस < स्पर्श < अस्पर्श-]।

परसोती—(सं०) वह चिकनी मिट्टी, जिसमें दूसरी तरह की मिट्टी मिली रहती है (द० भाग०)। दे०—दोरस।

[परस+ओती (?) < स्पर्श- वृत्ति-(?)]।

परहा—(सं०) उस पार का रहनेवाला। खास कर चंपारन जिला के दक्षिण, गंडक नदी के उस पार सारन जिले का रहनेवाला (चंपा०-१)। (२) किसी भी नदी के दूसरे पार का रहनेवाला।

[पर+हा, पर < पार+हा (प्र०)]।

परहा कुरथी—(सं०) उड़द की जाति का एक मोटा अन्न। इसकी लत्तर बड़ी होती है, लेकिन इसमें फली कम लगती है (पट०-१)।

परहा बूँट—(सं०) गंगापार का चना, जो मगहिया (देशी) चने से बड़ा होता है, इसकी लत्तर बड़ी होती है, लेकिन फली कम लगती है (पट०-१)।

परहूल—(सं०) मवेशियों का एक रोग, जिसमें उनके दाँत से लहू निकलता है, पयरिया (पट०-१)।

परांट—(सं०) परती जगह, खुला मैदान।

[पर+आंट < प्रान्तर-(?)]।

परांठ—(सं०) सामान्य भूमि से ऊँची उठी हुई खेतों की सीमा, मेंड़ (पट०, गया, द० प०)। दे०—आर।

[परांठ < प्रान्त- (?)]।

परांत—(सं०) वह जमीन, जो किसी कारण से न जोती-बोई गई हो (उ० मैं०)। दे०—परात।
[परांत < प्रान्तर वा अप्रहता]।

परात—(सं०) (१) वह जमीन, जो किसी कारण से न जोती-बोई गई हो। पर्या०—पराता (उ० प०), परांत या परता (उ० मैं०)।
[परात < प्रान्तर-, < अप्रहता]।
(२) प्रातःकाल (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[परात < प्रात < प्रातः]।

पराता—(सं०) वह जमीन, जो किसी कारण से नहीं जोती-बोई जा सकी हो (उ० प०)। दे०—परात।
[पराता < अप्रहता, < प्रान्तर-]।

परिअड—(सं०) लकड़ी का वह कुंदा, जिसपर गँड़ासी से चारा काटा जाता है (द० पू० मैं०, गया)। दे०—ठेहा।
[परि+अठ, < परिकाष्ठ- वा < परिकर्त-]।

परिआर—(सं०) दो वर्ष पूर्व का समय (चंपा०-१)।
[परिआर < परारि, < पूर्वतरवत्सर-]।

परिकठ—(सं०) लकड़ी का वह कुंदा, जिसपर गंड़ासी से चारा काटा जाता है (उ० पू० मैं०, शाहा०)। दे०—ठेहा।
[परि+कठ, < परिकाष्ठ-, < परिकर्त-]।

परिया—(सं०) ऊख के खेत में बनी हुई कियारी (द० प० मैं०)। दे०—हातावाला।
[परिया+पर्याय- (?)]।

परिकल—(क्रि०) (शाहा०) दे०—परकल।

परियाठा—(सं०) कुएँ के ऊपर आरपार रखा गया लकड़ी का तख्ता, जिसपर खड़ा होकर पानी निकालनेवाला पानी निकालता है। पर्या०—पीठा, पावठ, लतमरा (पट०, उ० प० मैं०), गोड़पीठा (द० प० मैं०), धरना (चंपा०, द० मुं०)।
[परि+पाठा < परिकाष्ठ- (?)]।

परिबेठा—(सं०) वह कुंदा, जिसपर ऊख काटा जाता है (गया)। दे०—निलुहा।
[परि+गेठा, परिकाष्ठ- वा परिकर्त- (?)]।

परिहत—(सं०) हल के पीछे का हाथ से पकड़नेवाला डंडा (द० शाहा०)। दे०—परिहथ।
[परि+हत < परिहत ; उपरिहस्त- (?)]।

परिहथ—(सं०) हल के पीछे का हाथ से पकड़नेवाला डंडा (शाहा०, गं० उ०, दर०-१, पूर्णि०-१)। पर्या०—लगान (पू० मैं०), लगना (द० मुं०, पट०, गया), नौगनो (द० भाग०), परिहत (द० शाहा०), परिहथ (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[परि+हथ, < परिहस्त-, < उपरिहस्त-]।

परिहर—(सं०) (१) किसानों द्वारा मिलकर अपनी फसल की देखभाल करने का क्रम (पट०, गया)। दे०—पारी। (२) सिंचाई में किसान के द्वारा दूसरे किसान की सहायता करने की प्रक्रिया (पट०)। दे०—जाना।
[परि+हर < पर्याय+हर (?)]।

परीत—(सं०) वह जमीन, जो जोती-बोई नहीं गई हो। पर्या०—परती।
[परीत < अप्रहत-, अपरिहत (?)]।

परुआ—(सं०) (१) काम के समय बैठ जानेवाला बैल (प०)। पर्या०—कोढ़ी (गं० उ०), गरिआर (द० प० शाहा०), गर (शाहा०, गया), मनकोढ़ी (पट०)। (२) हल में चलनेवाला मोटा-ताजा आलसी बैल, जो कार्य के समय चलने की अपेक्षा अधिकतर बैठ जाता है। दे०—कोढ़ी। (३) वह पशु, जो ले चलते समय या काम करते समय बैठ जाता है (चंपा०-१)।
[परुआ (देशी)। मिला०—परु- (संस्कृ०) = पर्वत, समुद्र, आकाश, ग्रंथि ; परुष = गांठदार, चित्रित, मलिन रंग, कठोर, मंदा]।
(४) भड़भूंजा के सामने का स्थान, जहाँ अन्न गिरता है (द० मुं०)। दे०—परुई।
[देशी]।

परुई—(सं०) भड़भूंजा के सामने का वह स्थान, जहाँ अन्न गिरता है (शाहा०)। पर्या०—परुआ (द० मुं०), पौर (पट०, पू० द० मैं०), पौरी (गया, द० भाग०, उ० प० मैं०), पारी (सा०, चंपा०), चौतरा (गं० उ०)।
[देशी (?) वा < पैर < पर्यंड < पद- दण्ड- (हिं० श० सा०)]।

परुसा—(सं०) आदमी के सिर से ऊपर हाथ उठाकर पैर तक की माप (मुं०-१)।
[परुसा < पौरुष < पुरुष-]।

परो—(सं०) बीज की परीक्षा के लिए ओल के डंठल को चीरकर उसमें बीज रखकर जाँचने की विधि (चंपा०-१)।
[परो < परोक्ख < परोक्ष- (?) वा < पोर < पर्वन् (?)]।

परोर—(सं०) ऊँची जमीन में होनेवाली एक लत्तर की प्रसिद्ध फली, जिसकी तरकारी होती है (द० भाग०)। दे०—परवर, पड़ोर।
[परोर < पटोल-]।

परोरा—(सं०) ऊँची जमीन में होनेवाली एक लत्तर की प्रसिद्ध फली, जिसकी तरकारी होती है (द० भाग)। दे०—परवर।
[परोरा < पटोल-]।

परोरिया झिंगनी—(सं०) रेखायुक्त लंबी-लंबी झिंगनी। इसकी तरकारी स्वादिष्ट और अच्छी होती है।

परोल—(सं०) ऊँची जमीन में होनेवाली एक लत्तर की प्रसिद्ध फली, जिसकी तरकारी होती है। दे०—परवर। (२) पिउरा, नेनुआ (मुं०-१)।
[परोल < पटोल-]।

पलंग—(सं०) (१) नाली की मेंड़ (द० भाग०)। दे०—मेंड़। (२) बड़ी खाट।



[पलंग < पर्यङ्क- < पर्यञ्च < परि + √ अञ्च् = चारों ओर से घेरना]।

पलई—(सं०) बैलों के कंधे के ऊपर के पालो का चौड़ा अंश (सा०)। दे०—पत्ता।
[पलई < पटलिक-]।

पलटा—(सं०) एक किसान के द्वारा दूसरे किसान से मजदूरों के परस्पर विनिमय करने की क्रिया। दे०—बदलैया।
[पलटा < पर्यस्त (?) < परि+अस् (फेंकने)+त (= क्त)]।

पलटाहा—(सं०) अस्तव्यस्त जनमा हुआ बीज (पट०-१)।

पलटी—(सं०) (१) एक किसान के द्वारा दूसरे किसान के परस्पर विनिमय करने की क्रिया। दे०—बदलैया। (२) किसानों द्वारा मिलकर अपनी फसल की देख-भाल करने का क्रम (पट०, गया, शाहा०)। दे०—पारी। (३) सिंचाई में एक किसान के द्वारा दूसरे किसान की सहायता करने की प्रक्रिया (प०, पट०, गया०)। दे०—जाना। (४) कृषकों द्वारा एक दूसरे का काम बारी-बारी से करने की प्रक्रिया (गया)। दे०—भाँज।
[< पलटी < पलट < पर्यस्त-]।

पलड़ा—(सं०) तराजू का पल्ला (पट०, गया)। दे०—पलरा।
[पलड़ + आ (प्र०) < पटलक (ट-ल का व्यत्यय]।

पलमरुआ—(सं०) पाले से मरी हुई फसल। दे०—पाला।
[पल+मरुआ ; पल < पाला < प्रालेय ; मरुआ < मरल < √मृ]।

पलरा—(सं०) (१) तराजू का पल्ला। पर्या०—पलड़ा (पट०, गया), डलनी (द० भाग०), पल्ला (द० भाग०)। (२) तराजू का पल्ला, जिसपर सामान रखकर तौला जाता है (चंपा०-१)।
[पलरा < पटलक-]।

पलवल—(सं०) ऊँची जमीन पर उगनेवाली एक लत्तर की प्रसिद्ध फली, जिसकी तरकारी होती है। दे०—परवर।
[पलवल < परवल < प्रवर (?)]।

पलवा—(सं०) एक प्रकार की चोइँटा-रहित मछली (सा०-१)।
[देशी। मिला०—पलवान् (मांसल)]।

पलहारी—(सं०) काटकर इकट्ठा किये बिना ही खेत में पड़ी फसल (शाहा०)। दे०—आँठ।
[पल+हारी < परिहारित, परिहार्य-। मिला०—पलालि- (= पुआर का ढेर, मांस का ढेर)। पल्ल = अनाज का भंडार]।

पलहोर—(सं०) ऊख के ऊपर की सूखी पत्तियाँ (द० भाग०)। दे०—पतैन, पतहोर।
[पलहोर < पतहोर < पत्रभार ; < पत्रकुल-]।

पलाँकी—(सं०) चौड़ी, चिकनी और क्षारयुक्त पत्तियों-वाला एक प्रसिद्ध साग (पू० मैं०, चंपा०, पट०-१)। दे०—पालक।
[< पालङ्गी]।

पलाँकी साग—(सं०) (पट०-१)। दे०—पलाँकी।

पलाकी—(सं०) एक प्रकार का साग (चंपा०-१)।
[पलाकी < पालङ्गी]।

पलरल—(क्रि०) (१) धान आदि के पौधों का जरूरत से ज्यादा बढ़ जाना। (२) बढ़कर जरूरत से ज्यादा तगड़ा होना (द० मुं०)।
[पलर+ल (प्र०) < पर्याय (?) परि + √ अय् (= पर्ययते)। मिला०—पल्लवयति < पल्लव- (=बढ़ता है)]।

पलान—(सं०) मवेशियों की पीठ पर रहनेवाला गद्दा। दे०—गद्दी।
[< पल्लाण < पल्ययन (=गद्दी, जीन)]।

पलान—(सं०) ऊँट की पीठ पर रखी जानेवाली लकड़ी की जीन (द० उ०, पू० मैं०)। दे०—कठरा।
[पलान < पल्ययन < परि + अयन, पल्लाण (प्रा०) (=जीन, गद्दी)]।

पलानी—(सं०) (१) पशुओं के रहने के लिए बना छायादार घेरा (मैं०)। दे०—पाभा। (२) बिना किसी ऊँचे चबूतरे के जमीन पर ही बनी हुई छायादार झोपड़ी। दे०—मड़ई।
[मिला०—पल्ली = छोटा ग्राम, कुटीर, घर]।

पलिहर—(सं०) (१) वह खेत, जो वर्षा ऋतु में नहीं बोया जाता है, लेकिन जोता जाता है (प०)। दे०—चौमास। (२) वह जमीन, जो बरसात में बोई जाती है (प०)। दे०—चौमास। (३) गेहूँ आदि फसल के लिए अच्छी तरह सावधानी से जोती-कोड़ी जानेवाली जमीन। मिला०—छिट्टा या चीटा। पर्या०—चौमास।

[पलिहर < परिहर (= छोड़ देना, बचा रखना, हि० श० सा०), परि + √ह (= सुरक्षित रखना), परिहार्य (= त्याज्य, सुरक्षित रखने योग्य)]।

पलिहर राखल—(क्रि०) खेत को चौमास रखना (चंपा०-१)।

[पलिहर+राख+ल (प्र०) < पलिहर < परिहर ; राख+ल (प्र०) < रक्ष < √ रक्ष्]।

पल्ला—(सं०) (१) बैलों के कंधों के ऊपर के पालो का चौड़ा अंश। दे०—पतला।

[पल्ला < पटल (?)]।

पल्ला—(सं०) (२) हेंगा का चौरस लंबा काष्ठ-फलक। पर्या०—कड़ी (गया), एकठा (शाहा०), लकड़ी (द० प० शाहा०), चौकी (कहीं-कहीं)। (३) तराजू का पलड़ा (द० भाग०)। दे०—पलरा। (४) जुए के ऊपर का पल्ला या फलक (द० प० शाहा०)। (५) बाँक के दोनों बाहरी भाग में लोहे का फलक। (६) तुषार (बरफ) से युक्त वायु, जिससे फसल नष्ट होती है, पाला (पू०) दे०—पाला।

[पल्ला < पटल (?)। मिला०—पल(?); < प्रालेयक-]।

पल्ला करल—(मुहा०) बाजार के रास्ते पर बैठकर खुदरा अनाज खरीदना-बेचना (चंपा०-१)।

[पल्ला + कर+ल (प्र०); पल्ला < पटल=तराजू का पल्ला]।

पवनी—(सं०) गाँव में रहनेवाले बढ़ई, लोहार, नाई, धोबी, कहार आदि शिल्पियों को कटनी के समय किसान के द्वारा दिया जानेवाला निर्धारित अन्न। पर्या०—पौनी, पौनिया, पवनी पसाड़ी (पू० मै०), पव्वी (गया)।

[पवनी < प्रापणीय- या पर्वन्-]।

पवनी पसाड़ी—(सं०) गाँव में रहनेवाले बढ़ई, लोहार आदि शिल्पियों को किसान के द्वारा दिया जानेवाला निर्धारित अन्न आदि (पू० मै०)। दे०—पवनी।

[पवनी+पसाड़ी ; पवनी < प्रापणीय; < पर्वणीय, < पर्वन् ; पसाड़ी < पंसारी]।

पवही—(सं०) (१) अन्न तौलनेवाले पुरुष का शुल्क, जो प्रायः प्रति मन पाव-भर होता है (प०)। दे०—हटवाई। (२) खलिहान में बाँधकर रखी हुई वह राशि, जो हजाम आदि पवनियों को दी गई हो (पट०-१)। (३) जमींदार की ओर से मन-भर के हिसाब से लिया जानेवाला अतिरिक्त कर (पट०-१)।

[देशी। पव+ही (प्र०) ; पव < पौना < पावा < प्रापण (?)]।

पशपानी—(सं०) धीमा बैल (चंपा०-१)।

[देशी]।

पसंगा—(सं०) (१) वह बोझ, जो तराजू के पल्लों को समभार करने के लिए पल्ले की ओर बाँध दिया जाता है (चंपा०-१)। (२) तराजू की डंडी या तौल बराबर करने के लिए उठे हुए पलड़े पर रखा हुआ कुछ बोझ। (पट०, गया, द० भाग०)। दे०—पसँघा।

[पासंगा (फा०)। मिला०—प्रसङ्ग- (संस्कृ०) = संगति, संबंध, आसक्ति ; पसंग (प्रा०)]।

पसँघा—(सं०) तराजू की डंडी या तौल को समभार करने के लिए उठे हुए पलड़े पर रखा हुआ कुछ बोझ। पर्या०—पासँघे (पू० मै०), पसंगा (पट०, गया, द० भाग०), धारा (पट०, गया, द० मुं०)।

[पासंग (फा०)। मिला०—प्रसङ्ग- (संस्कृ०) = संगति, संबंध, आसक्ति, अधिकार ; पसंग (प्रा०)]।

पसई—(सं०) काटने के पश्चात् खेत में ही पंक्ति में फैलाकर छोड़ी हुई फसल (चंपा०-१)।



[देशी। मिला०—प्रसृति- (संस्कृ०), पसई (प्रा०) = पसर]।

पसडोर—(सं०) (१) झलासी, खड़ आदि की मुठ से बाँधकर समाप्त होनेवाली मोरी (छप्पर की ओरी)। (२) मोरी के नीचे बँधा हुआ सहायक लंबा बाँस (चंपा०)। दे०—मोहब्बत।

[देशी]।

पसनी—(सं०) वह छोटा औजार, जिसका फलक सीधा होता, और जो घास गढ़ने के काम में आता है (सं० द०, दर०-१, पूर्णि०-१)। पर्या०—पासनि, खुरपि।

[पसनी-(देशी), या पस-नी- (प्र०-?), पस < पास < पासा (बिहा०) = चौड़ा फलक; < पार्श्व-(?)]।

पसवटना—(सं०) कुदाल से जमीन बराबर करना (चंपा०-१)।

[पस+वटना ; पस < पासा (कुदाल का पिछला भाग) = पार्श्व (?) ; वटना < वर्त्तन]।

पसरा—(सं०) मछली मारने का एक प्रकार का जाल (पू०)।

[पसर < प्रसरक (?)]।

पसही—(सं०) अवांसा या औल्हा से भी बड़ी फसल की राशि (आंटी) (चंपा०, उ० प० मै०)। दे०—अँटिया।

[देशी या < प्रसृति- (?)]।

पसाई—(सं०) वह स्थान, जहाँ कुआँ खोदने पर भूमि में नमी आती है (द० प०)। दे०—पनसेल।

[पसाई < प्रसृति, < प्रसर- (= स्रोत, बाढ़)]।

पसीजल, पसीझल—(क्रि०) पसीजना, रिसना, पानी का धीरे-धीरे जमीन के अंदर से निकलकर बहना।

[पसीझ+ल (प्र०) ; पसीझ < प्रसिद्ध या < प्र+ √स्निह्- (?)]।

पसीझ—(सं०) एक प्रकार का पौधा (दर०-१)।

[देशी]।

पसेरी—(सं०) (१) पाँच सेर या (½) मन की एक तौल। (२) पाँच सेर की तौल का बटखरा। पर्या०—पनसेरा (शाहा०), पनसेरी (शाहा०)।

[प+सेरी < पनसेरी < पञ्च+सेट]।

पसेवा—(सं०) (१) नई अफीम से बहनेवाला रस। (२) वह स्थान, जहाँ कुआँ खोदने पर भूमि में नमी आती है (द० पू०)। दे०—पनसेल।

[प+सेवा < प्रस्रव (?) < प्र + √स्रु, या प + स्रव < प्र+√स्रु]।

पसौड़—(सं०) (१) भलासी या खड़ आदि की मूठ से बाँधकर समाप्त होनेवाली छप्पर की ओलती (मोरी)। (२) मोरी के नीचे बँधा हुआ सहायक लंबा बाँस (उ० प० मै०)। दे०—मोहब्बत।

[देशी]।

पसौता—(सं०) वसन्तकालीन अन्न के क्षेत्र में उगनेवाली एक घास (उ० पू० मै०)।

[देशी]।

पह—(सं०) (१) भावली या जिरात जमीन की उपज की, किसान और जमींदार के बीच, आधे-आध की बटाई (पट०, गया)। दे०—अधिया।

[देशी। मिला०—पहा (प्रा०) < प्रथा, प्रमा ; पह (प्रा०) < प्रथिन्]।

(२) वह जमीन, जिसमें बीज बोने के लिए घास की जाती है (गं० द०, चंपा०)। दे०—बिड़ार। (३) फसल लगाया हुआ खेत (द० पू०, गया)। दे०—अबाद। (४) परती जमीन जोतने के दो वर्ष बाद का खेत (शाहा०, द० पू० मै०)। दे०—खील। (५) वह जमीन, जो पहले परती पड़ी हो और तब तीन वर्षों से आबाद हो रही हो (उ० पू० मै०)। दे०—खेत।

[पह < प्रहत (?)। मिला०—अप्रहता (= परती जमीन)]।

पहदल—(क्रि०) कुदाल से मिट्टी बराबर करना। (चंपा०-१)।

[पहद+ल (प्र०) < पहट < प्रघट्ट (?)]।

पहदा—(सं०) ऊख के खेत में बनी बड़ी कियारी (गया, सा०, चंपा०)। दे०—हातावाला।

[देशी। मिला०—प्रघट्ट (?)]।

पहदा—(सं०) कुदाल से मिट्टी खींचना (चंपा०-१)।

[पहदा < प्रघट्ट (?)]।

पहड़िया आलू—(सं०) पहाड़ी जमीन पर होनेवाला आलू (पट०-१)।

पहपरती—(सं०) वह खेत, जिसे पुनः उर्वर होने के लिए कुछ दिनों तक जोता-बोया नहीं जाता है। दे०—परती।

[पह + परती, प्रहत < अप्रहत, परती < परेता (मरी हुई)]।

पहरवार—(सं०) दोपहर तक काम करने के लिए नियुक्त मजदूर। दे०—दुपहरिया।

[पहर+वार, पहर < प्रहर- वार (प्र०)]।

पहरुआ—(सं०) धान कूटने का लंबा मोटा डंडा। (सा०-१)। दे०—मूसर।

[पहर+उआ (प्र०) < पहर < प्रहार (?)]।

पहलागार—(सं०) जबकि करीन आदि से पानी चलाने में कई एक उठान (ऊँचाई) पड़ता है और प्रत्येक को पार करके ऊपर खेत तक पानी पहुँचाया जाता है। उस दशा में पहला उठान या जलाशय (उ० प० मै०)। दे०—बेवका।

[देशी]।

पहलेज—(सं०) एक प्रकार का फल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी]।

पहिआ—(सं०) (पट०-१)। दे०—पहिया।

पहिया—(सं०) गाड़ी में लगा हुआ वह चक्का, जिसके धुरी पर घूमने के कारण गाड़ी चलती है, चक्र (सर्वत्र)। पर्या०—चक्का (पट०, गया, द० पू० मै०, सर्वत्र)।

[पहिया < परिधि या < प्रधि-]।

पहिरोप—(सं०) धान की रोपनी शुरू करने का प्रथम दिन तथा उस दिन का भोज (पट०)। पर्या०—पहिरोपा (द० पू०), खेतभोज, खेतभोजनी।

[पहि+रोप ; पहि < पहिला- < पहिलो (प्रा०) < प्रथम (संस्कृ०), रोप < रोप-]।

पहिरोपा—(सं०) (१) धान की रोपनी शुरू करने में प्रथम रोज का भोज (द० पू०)। दे०—पहिरोप। (२) धान रोपने का पहला दिन (पट०-१)।

[पहि + रोपा; पहि < पहिला < पहिल (प्रा०)= प्रथम (संस्कृ०) ; रोपा < रोप-]।

पहिल चास—(सं०) पहली जोत। दे०—चास। पर्या०—फरनी, पहली जोत, फारन (सं० उ०, चंपा०) हरसभौध (द० भाग०)।

[पहिल+चास, पहिल < पहिला < पहिल (प्रा०); चास (देशी)]।

पहिल रोपनी—(सं०) (भो०)। दे०—पहिरोप।

पहिला पटावन—(सं०) ऊख की पहली सिंचाई (अन्यत्र)। दे०—गंडढारू।

[पहिल + पटावन; पहिल < पहिल (प्रा०); पटावन < पटावल (बिहा०)—(देशी)]।

पहिला माँठी के बीया—(सं०) अगले वर्ष के बीज के लिए रखा गया आलू। **दोसरा माँठी के बीया** = तीसरे वर्ष के लिए रखा गया आलू।

[पहिला+माँठी के+बीया (पौ०)]।

पही—(सं०) (१) वह जमीन, जो पहले परती हो और बाद में तीन वर्षों से जोती-बोई जा रही हो (चंपा०-१) दे०—खेत।

[पही < प्रहत (?)]।

(२) कोड़वार, धान के बोझों का समूह (चंपा०-१)।

[देशी। दे०—पहा]।



पहीजाल—(सं०) मछली पकड़ने का एक प्रकार का जाल। इसमें छह बाँस एक जगह मोड़कर बाँधे जाते हैं। इसके नीचे रस्सी लगी रहती है (सा०-१)।

[पही (देशी) + जाल (संस्कृ०)]।

पहुँच—(सं०) ऊख की जड़ से निकलनेवाली शाखा, जिससे पौधे को हानि पहुँचती है (द० भाग०)। दे०—दौज। (२) प्राप्ति, पहुँचना।

[देशी]।

पाँक—(सं०) (१) गीली और चिपचिपी मिट्टी। पर्या०—पाँकी, पंक। (२) नदी की बाढ़ आदि हट जाने के बाद की गीली मिट्टी। दे०—कदई।

[पाँक < पङ्क-]।

पाँकी—(सं०) (१) गीली और चिपचिपी मिट्टी। दे०—पाँक। (२) शीतकालीन अनाज के ओसाने के समय हवा से उड़ाया हुआ महीन भूसा (प०)। दे०—पंभी।

[पाँक+ई (प्र०) < पाँक < पङ्क- (?)]।

पाँगल—(क्रि०) (१) किसी पेड़ आदि की छोटी-छोटी डालियों को काटना (चंपा०-१)। (२) डंठल के बिना ही केवल बाल की कटाई करना (प०)। दे०—बलकट। (वि०) बाल कटी फसल या वह पेड़ आदि, जिनकी छोटी-छोटी डालें काट दी गई हों।

[पाँग + ल (प्र०) < पाँग < √ पच् (पचयति) या < √ पञ्च् (पञ्चयति, पञ्चति) (?) या < √ मञ्ज (मङ्क्ते - मलक्षित)]।

पाँच कलियान—(सं०) (१) सिर पर काला-उजला टीका-वाली गाय। (२) वह गाय, जिसके पैरों में चार और सिर पर एक उजला टीका होता है।

[पाँच+कलियान < पञ्चकल्याणी]।

पाँचख—(सं०) खलिहान में दौनी के समय पुआल या डंठल आदि झाड़ने के काम में आनेवाली पाँच काँटोंवाली लग्गी। ये लोहे के काँटे उसके अंतिम छोर पर लगे रहते हैं। दे०—पचखा।

[पाँच+ख- पाँच < पञ्चन्; ख < अङ्ग-(?)]।

पाँचदूआ—(सं०) जमीन की उपज में से तीन पंचमांश (३/५) जमींदार और दो पंचमांश (२/५) किसान में बाँटने की प्रणाली (द० मुं०, मै०)। दे०—पचदू।

[पाँच+दूआ- पाँच < पञ्चन्, दूआ < दो < द्वौ < द्वि-]।

पाँचा—(सं०) खलिहान में दौनी के समय पुआल या डंठल आदि के झाड़ने के लिए बनी हुई पाँच काँटोंवाली लग्गी (शाहा०)। दे०—पचखा।

[पाँच+आ (प्र०) < पाँच < पञ्चक (?) (पञ्च अवयवा अस्य इति—पाँच अंगोंवाला) ; पाँचा (हिं०)]।

पाँजर—(सं०) (१) मनुष्य या पशुओं की पसली (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) पसली के आसपास का स्थान। (३) बगल (चंपा०-१)।

[पाँजर < पञ्जर-]।

पाँजा—(सं०) (१) अँटिया या पसही से बड़ी, दोनों भुजाओं के अंदर भरकर आनेवाली फसल की राशि।



पर्या०—आँटी, पूरी (द० प० शाहा०), अकवार, अँकवार (पट० द० पू० मै०), केहुनी (पू० मै०)। (२) कटनी के समय प्रतिहल किसान के द्वारा बढ़ई, चमार आदि ग्राम-शिल्पियों को दिया जानेवाला एक निश्चित परिमाण में (पाँजा-भर) धान (चंपा०)। दे०—बोझा। (३) ऊख के डाँड़ों का दोनों भुजाओं के बीच आनेवाला एक परिमाण। (४) दोनों भुजाओं के बीच पकड़ने लायक वस्तु (चंपा०-१)। (५) पँजरा। (६) पँजरे पर ढोने लायक फसल आदि का बोझा (मुं०-१)। (७) धान की कटनी में बोझा बाँधते समय मजदूरों द्वारा अपने पारिश्रमिक के लिए रखा जानेवाला धान की फसल का एक निश्चित परिमाण (चंपा०-१, ट०-१)।

[पाँजा < पंजर- (?); पञ्जो (पा०) = राशि; पाँजो (ने०)= कटे अनाज की पाँत; पाँजा (बँ०) = ढेर; पाँजी (असo)=रूई का ढेर; पाँजी (मरा०)=भूतबलि, संभ०< पुञ्ज-(संस्कृ०) का आयत रूप। मिला०—पूँजी। पञ्जो (पा०) रूप से निर्देश होता है कि पुञ्जः <√ पृच्, (पृञ्चते = मिलता है, जुड़ता है) से बना है। अनवपृक्तः (संस्कृ०) सम्यक् नहीं मिला हुआ। √पृञ्च् के अतिरिक्त <√ पृच् (पृञ्चति) ; पुञ्ज और पञ्ज तथा √ प्रपञ्च् = फैलाव है (प्रपञ्चति=फैलाता है-) से भी संभव है (नेपा०)]।

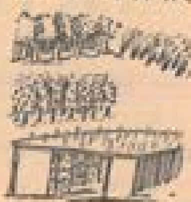
पाँड़र—(सं०) वह स्थान, जहाँ गोइठे बनाये जाते हैं (पट०, गया)। दे०—पथारी।

[देशी]।

पाँता—(सं०) मार्ग या किसी सड़क के किनारे के पेड़ों की पंक्ति (मै०)। दे०—पाँती।

[पाँता < पङ्क्ति- < पङ्क्ति]।

पाँती—(सं०) (१) किसी मार्ग या सड़क आदि के किनारे के पेड़ों की पंक्ति। पर्या०—पाँतियारी, लखराँव (प०), (मै०)। (२) एक छोर से दूसरे छोर तक बीजों की सीधी पंक्ति। दे०-धारी। (३) पान की खेती की पंक्ति (शाहा०)। दे०-सपुरा। (४) पत्र, कुशल-पत्र। (५) पंक्ति, रेखा।



[पाँती < पङ्क्ति-(संस्कृ०) = पाँच की राशि, किन्तु पाणिनि मुनि के अनुसार दस की संख्या या राशि ; पंति (पा०), पंति (प्रा०) ; पाँति (कुमा० ; बँ०, असo) ; पांत (हिं०, गु०, पं०, मरा०) ; पाँति (ने०)]।

पाँती लेमू—(सं०) एक प्रकार का बड़ा नीबू (पट०-१)।

पाँभी—(सं०) शीतकालीन अनाज के ओसाने के समय हवा से उड़ा हुआ महीन भूसा (प०)। दे०-पंभी, पम्ही।

[देशी। मिला०—पंभी]।

पाई—(सं०) (१) छोटा काश्तकार। (२) घोड़े के पैर की एक बीमारी। (३) पुराने एक आने का बारहवाँ भाग। (४) एक पैसा। (५) किसी वर्ण के आगे लाई जानेवाली सीधी-खड़ी लकीर। (६) संख्या के आगे लगाई जानेवाली सीधी-खड़ी लकीर, जिससे उसपर संख्या की एक इकाई का बोध होता है। (७) पूर्णविराम का चिह्न। (८) पैर ; जैसे—तिपाई, चौपाई आदि यौगिक शब्द में।

टि०—पाही और पाई का अंतर समझ लेना चाहिए।

[पाई (?) देशी या < पाई < पाय < पाद-]।

पाउटी—(सं०) (१) बैलगाड़ी की लीक। (२) नर्तकों या नर्तकियों के पैर का घुँघरू।

[पाउट+ई (प०); पाउट<प्रह्वण- या प्रघुवत-(?)]।

पाएढ—(सं०) सिंचाई में एक किसान के द्वारा दूसरे किसान की सहायता करने की प्रक्रिया (चंपा०, द० भाग०)। दे०—जाना।

[देशी। मिला०—पायढ (प्रा०) परिवर्त-, प्रतिवर्त > पाववट्ट > पावट्ट > पट्ट > पाएढ (?)]।

पाएठ—(सं०) (१) एक किसान के द्वारा दूसरे किसान से मजदूरों का परस्पर विनिमय करने की प्रक्रिया (सं० द०)। दे०—बदलैया। (२) किसानों द्वारा मिलकर अपनी फसल की देख-भाल करने का क्रम (द० मुं०)। दे०—पारी।

[पाएठ < पाइट्ट < पट्ट < पवट्ट < पवट्ट < प्रतिवर्त (?) या परिवर्त ; परावर्त (?)]।

पाएर—(सं०) बिना जोती हुई जमीन में छींटकर अनाज बोने का प्रकार (पट०, द० मुं०)। दे०—छिट्टा।

[मिला०—पयड, पयड (प्रा०) ; प्रकट, पयडीकर< प्रकटी+ √कृ। जोतकर बोने से बीज जमीन के अंदर चले जाते हैं, जबकि बिना जोते छींटकर बोने से बीज बाहर प्रकट रूप में रह जाते हैं]।

पाक—(सं०) (१) ऊख का उतना रस, जितना एक बार में उबाला जा सके (पट०)। दे०—ताव। (२) एक निश्चित परिमाण में ऊख के रस का एक बार में उबाला जाना। (३) चीनी, गुड़ आदि का पकना। (४) पकाना। (५) धान का पकना।

[पाक < पाक < √पच् ; पाक, पाग (हिं०); पाक (गु०)]।

पाकल—(क्रि०) (१) अनाज आदि का ऋतु के अनुसार पकना। (२) मिट्टी के कच्चे बरतन का आग में पकना। (३) फलों का पकना। (४) अनुभवी, बूढ़ा या प्रौढ़ होना। (५) बालों का उजला होना।

[पाक + ल (प्र०) ; पाक < √ पच् (पचति) ; पकना (हिं०) ; पाक्नु (ने०) ; पाकणो (कुमा०) ; पक्कन (पं०) ; पक्कण (सिं०) ; पाकवुँ (गु०) ; पिकणे (मरा०) ; पेकेल (रोमा०) ; पचुन (कश्म०)]।

पाकल—(वि०) पका हुआ (चंपा०-१, दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पाक+ल (प्र०) ; पाकल (क्रि०) ; पाक < √ पच् ; पाको (ने०) ; पाको (कुमा०) ; पाका (बँ०) ; पाकला (ओ०) ; पका, पाकल (?) (हिं०) ; पक्का (पं०, ल०) ; पक्को (सिं०) ; पकुँ (गु०) ; पिका (मरा०) ; पाक (सिंह०) ; पोपु, पोकु (कश्म०) ; पकुँ (शिना०) ; पेको (रोमा०); < पक्व, पिक्क (प्रा०), पक्को (पा०) < पक्व-(संस्कृ०)-(नेपा०)]।

पाखर—(सं०) (१) एक अगहनी चितकाबर मोटा धान, जिसके दाने गठीले और चावल लाल होते हैं (सा०-१)। (२) एक प्रकार का धान (चंपा०-१)। (३) काठियावाड़ी बैल (चंपा०-१)।

[पाखर <? ; मिला०—पक्षनाडी (सुश्रुत०)]।

पाग—(सं०) (१) दो रस्सियों को मिलाकर ऐंठने की प्रक्रिया (सा०-१, मुँ०-१)। (२) गुड़, चीनी आदि की चासनी। पाग देओल-(मु०)-(१) रस्सी में ऐंठन देना। (२) पकवान में चासनी चढ़ाना (मुँ०-१)।

[पाग < पाक < √पच् ; दे०—पाक]।

(२) पगड़ी (मुँ०-१)।

[पाग < पग्ग- ; पाग (हिं०) ; पाग (कश्म०) ; पाग (ने०) ; पाग (बँ०, असा०) ; पाग (ओ०) ; पग्ग (पं०, ल०) ; पाग (सिं०) ; पाघ (गु०), पागोटे (मरा०)]।

पागुर—(सं०) पशुओं द्वारा खाई गई वस्तु का पुनश्चर्वण।

पागुर करल—(क्रि०) पशुओं द्वारा खाई गई वस्तु का पुनः चबाना, रोमंथ करना (गं० उ०, शाहा०)। दे०—पगुरी करल।

[पागुर+करल]।

पाचक—(सं०) (१) जौ के डंठल और बाल को जलाकर बनाई गई राख, जो अजीर्ण रोग के औषध के रूप में व्यवहृत होती है (द० भाग०)। दे०—जवाखार। (२) खाई हुई वस्तु के पचाने का विशेष औषध। (३) पकानेवाला।

[पाचक < पाचक- < √ पच्+अक (=ण्वुल्)]।

पाचड़—(सं०) (१) हल में लगाया जानेवाला दूसरा पच्चड़ (उ० पू० मैं०, शाहा०)। दे०—चैली। (२) ऊख के कोल्हू के पेट की पेंदी और मथानी के बीच लगाया गया लकड़ी का गोल टुकड़ा। पर्या०—पाचर।

[देशी ; मिला०—पच्चनिका = हल का एक भाग—(मो० वि० डि०) ; पञ्जर = पसली, पिंजरा, जाल ; पश्चात् = पीछा, बाद में ; पाश्चात्य = पिछला]।

पाचर—(सं०) (१) ऊख के कोल्हू के पेट की पेंदी और मथानी के बीच लगाया गया लकड़ी का गोल टुकड़ा। दे०—पाचड़। (२) कोल्हू के पेट में मजबूत लकड़ी का बनाया और मजबूती से ठोंका हुआ आवरण, जिसमें तेलहन रखा जाता है।

[देशी ; मिला०—पञ्जर = पसली, पिंजरा, जाल। पच्चनिका = हल का एक अंग—(मो० वि० डि०)]।

पाछल—(क्रि०) (१) पोस्ते के बीजकोष का चीरना, जिससे उसके अंदर का पोस्ता-रस निकलकर जमा हो जाता है और उसे पुनः इकट्ठा किया जाता है, जिससे अफीम बनती है। (२) किसी वस्तु को तेज हथियार से हलके ढंग से चीरना। (३) चेचक-जैसे रोग के निवारण के लिए टीका लगाना।

[पाछ + ल (प्र०) < पाछ; मिला०—< √ पच् (पचति, पचयति) ; पच्छण (प्रा०), या < प्रतक्षण = छीलना, काटना)]।

पाज करल—(क्रि०) पशुओं द्वारा खाई हुई वस्तु का पुनः चबाना, पागुर करना (मैं०)। दे०—पगुरी करल।

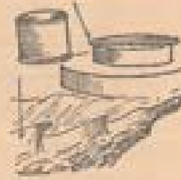
[पाज+कर+ल (प्र०)]।

पाभा—(सं०) (१) पशुओं के रहने के लिए बना छाया-दार घेरा (उ० प०)। पर्या०—पलानी (मैं०); आडार (शाहा०) ; ढाठ (मैं०), अड़ान (पट०) ; अड़ा (गया) = जंगल में पशुओं के रहने के लिए बनाई गई पलानी। (२) बाग, जंगल आदि में रहने के लिए बनी हुई मड़ई (गं० उ०)। पर्या०—पत्तरघर (गया), चौंचवाला घर, मड़ही (द० भाग०), टटघर (द० मुँ०)। (३) धूप, ओस आदि से रक्षा के लिए खंभा गाड़कर उसपर छाया के लिए, पत्तल, या कृपा पतहर आदि रखकर बनाई

गई मड़ई। (४) किसी लत्ती के फैलने के लिए बनाया गया मचान (चंपा०-१)।

[देशी ; मिला०—पल्ल्य-, पल्ल्या (वैं० प्र०) = टाल, पिछला घर, घोड़सार ; पल्ल्य=घर—अमर०]।

पाट—(सं०) (१) कुआँ बनाने या बगल के बाँधने में प्रयुक्त भट्ठी में पका मिट्टी का गोल पट्टा (द० भाग०)। दे०—खपड़ा। (२) कुआँ आदि के इस पार से उस पार तक पड़ी हुई शहतीर (पट०, गया)। दे०—बड़ेरा।



[पाट < पट्ट-, पट्टक-। पट्टो (पा०) ; पट्ट, पट्टग (प्रा०) ; पट्टी, पोट्टु (कश्म०) = तख्ता ; पाटो, (भै०) = पट्टा ; पाटि (भै०) = स्लेट की पाटी-टिकिया ; पाट (ने०)=जूट ; पाटो (बँ०, असा०) = फलक, तख्ता ; पाट (ओ०)=पट्टा, मैदान ; पाट (हिं०) = स्लेट की पट्टी, लिखने की पाटी, फलक, पाटी ; पट्ट (पं०)=बलुआही मैदान ; पट्टी (पं०)=लिखने की पट्टी; पट्ट (ल०) = घरन ; पाट (सिं०) = फर्श ; पाटो (सिं०) ; पाट (गु०)=बेंच ; पाटो (गु०)=सीत ; पाट (मरा०) = बेंच; पाटा (मरा०)]।

(३) दौनी में घूमनेवाला सबसे तेज बैल। पर्या०—पठिया (प०), पटिया (उ० प० मै०), पाटवाला (पू० मै०), अगदाएँ (द० पू० मै०), अगदाई (पट०, द० मुं०), आगदाइन, अगदैयाँ (गया), एगदाई (द० भाग०), फेरा (द० प० मै०)। (४) हल और हरीस को जोड़नेवाला पच्चड़ (गं० उ०, शाहा०, मुं०)। पर्या०—पट्टा (गया) ; पाटा (द० मै०, पट०) ; पाटो (द० भाग०); पाट, पाटि, पट (दर०)। (५) पालो में लगी वह रस्सी, जिससे बैल का संचालन होता है (दर०-१, पूर्णि०-१)। (६) कुदाल (७) दे०—पायठ (मुं०-१)।

[पाट<पट्टा<प्रष्ठ; 'प्रष्ठोऽग्र-गामिनि' पाणिनि०]।

पाट—(सं०) नदी का पेट (मुं०-१)।

[पाट=पाथ (नदी के दोनों तीरों के बीच का भाग ;) 'पार्थ तदन्तरम्'—(अमर०)]।

पाटवाला—(सं०) दौनी में घूमनेवाला सबसे तेज बैल (पू० मै०)। दे०—पाट।

[पाट+वाला (प्र०) ; पाट < पट्टा < प्रष्ठ-]।

पाटा—(सं०) हल का पच्चड़। दे०—पाट।

[पाट+आ (प्र०) < पट्ट-, पट्टक-]।

पाटि—(सं०) हल और हरीस को जोड़नेवाली किल्ली या पच्चड़ (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—पाट।

[पाट+इ (प्र०) ; पाट < पट्ट-, पट्टिका]।

पाटो—(सं०) हलका पच्चड़ा (भाग०)। दे०—पाट।

[पाट + ओ (स्थानीय उच्चारणकृत अ की ध्वनि) पाट < पट्ट-, पट्टक-]।

पाड़ा—(सं०) भैंस का नर-बच्चा (मुं०-१, सर्वत्र)। पर्या०—काड़ा, पड़रू। पाड़ी, काड़ी (स्त्री०)।

[पाड़ा < पड्डा < प्रष्ठ-; पाड़ा (पुं०), पाड़ी (स्त्री०)-(हिं०) ; पाड़ो (पुं०), पाड़ी (स्त्री०)—(ने०); पाड़ो (कुमा०)=जंगली बकरा ; पाड़ो (सिं०) ; पाड़ो (गु०), पाड़ा (मरा०) ; ये सभी शब्द पड्ड- से बने हैं, जिसका प्रा० रूप पड्डुअ है। मिला०—पड्डी (देशी) = प्रथम प्रसूता—(नेपा०)]।

पाड़ी—(सं०) भैंस का मादा-बच्चा। पर्या०—काड़ी। पाड़ा, काड़ा (पुं०)।

[पाड़ + ई (स्त्री० प्र०) ; पाड़ < प्रष्ठ-; < पड्ड, < पड्डी—(नेपा०)]।

पाड़ु—(सं०) वह टीला, जिसपर पान की लत्तर लगाई जाती है (गं० उ०)। दे०—पिंडा।

[पाड़ < पड्डा < पड्ड (?) या पहाड़ < पाषाण]।

पातन—(सं०) (१) खेत में काटकर दो-एक दिन के लिए छोड़ दी जानेवाली धान की फसल (मुं०-१)।

[पातन < √ पत् (?)]।

(२) धान आदि की कटी हुई फसल (द० मुं०)। दे०—डाँठ।

[पातन < पत्र- (?)]।

पातर—(सं०) (१) दूर-दूर पर की जानेवाली बुआई। पर्या०—पकाह (गं० उ०) ; फाँफर (प०) ; छेहर, पैमार (सामा०); पाथर (गया); पतला (द० मुं०, चंपा०); पतौल (द० भाग०, चंपा०)। (२) पतला (चंपा०-१)।

[पातर < पत्वल-(?)]।

पाता—(सं०) बैलों के कंधे के ऊपर का पालो का चौड़ा अंश (शा०)। दे०—पत्ता।

[पाता < पातर < पत्वल- (?) या < पात्र या < पटल]।

पातालसिंगी—(सं०) वह बैल, जिसका एक सींग नीचे की ओर और दूसरा ऊपर की ओर जाता है (द० प०)। दे०—सरगपताली।

[पाताल+सिंगी ; पाताल < पाताल- = नीचे का लोक (शाहा०) ; सिंग + ई (प्र०) ; सिंग < सींग < शृङ्ग-]।

पाथर—(सं०) दूर-दूर पर की जानेवाली बुआई (गया)। दे०—पातर।

[पाथ + र < पातर < पत्थल- (?)]।

पाथर, पत्थर, पत्थल—(सं०) (१) मानसून के साथ आया हुआ बरफ का पत्थर, वर्षोपल। दे०—पत्थल। (२) पत्थर।

[पाथर < पत्थर < प्रस्तर- (संस्कृ०) = पत्थर, घास का बिछावन, चौरस शिखर; पत्थरो (पा०); पत्थर (प्रा०); पत्थर (हिं०); पाथर (ने०); पत्थुर (कश्म०) = सूखी फर्श, इधर-उधर बिखरी वस्तुएँ। मिला०—पथार (बिहा०) = फैला हुआ, बिखरा हुआ; पाथर (असा०, बँ०); पत्थर (ओ०); पत्थरु (सिं०); पाथो (गु०)=काटकर खेत में फैला दी गई घास; पाथर (मरा०); पतर (सिंह०) = पृथ्वि]।

पाथर—(सं०) ओला, पत्थर (दर०-१, पूर्णि०-१)।

पाथल—(क्रि०) (१) गोइंठे का बनाना। पर्या०—ठोकल। (२) गीले गोबर से गोइंठा बनाना, ठोंकना।

[पाथ + ल (प्र०); पाथ < √ पथ् (विस्तारे = फैलाना)-(?)]।

पान—(सं०) (१) एक प्रकार की प्रसिद्ध लत्ती, जिसकी पत्तियाँ मुँह के रँगने के लिए चूना और कत्थे के साथ खाई जाती हैं। (२) उस लत्ती की पत्तियाँ, तांबूल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पान < पर्ण- (संस्कृ०); पण्ण (पा०, प्रा०); पान (हिं०); पान (ने०); प्रोन (दरदी); पान (पं०) = पत्ता; पत्र (ज०); पान (कुमा०); पान (असा०, बँ०); पान (ओ०); पान (गु०, मरा०); पन (सिंह०) = पत्ता; पार (काफि०) = पत्ता]।

पानचास—(सं०) (१) जमीन की पाँचवीं चास, पाँचवीं जोत। (२) वह जमीन, जिसमें पाँचवीं चास की जाय।

[पान + चास; पान < पाँच < पञ्चन्; चास (देशी)]।

पानी—(सं०) जल।

पानी काढल—(मु०) (१) खेत की मेंड़ काटकर उससे पानी निकालना। (२) विवाह या जनेऊ के समय का एक रस्म, जिसमें मंगल-कलश के लिए प्रातःकाल स्त्रियाँ पानी भरती हैं (चंपा०-१)।

[पानी + काढ + ल (प्र०); पानी < पानीय-; काढ < कर्ष < √कृष्]।

पानी मांगल—(मु०) वर्षा न होने पर स्त्रियों द्वारा गीत गाकर इन्द्र से जल की याचना करना (चंपा०-१)।

[पानी+मांग+ल (प्र०); पानी < पानीय-; मांग (देशी)]।

पापड़—(सं०) (१) पपड़ी, जमीन के ऊपर की तह। (२) बेसन से बना एक खाद्य-विशेष, पापड़।

पापड़तोड़ल—(मु०) रोपनी के बाद वर्षा से जमी मिट्टी को ढीला करना। पपड़ीतोड़ाई (सं०) = सिंचाई के बाद सूखी जमीन को खुरपी से कोड़कर हलकी करना (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पापड़+तोड़+ल (प्र०); पापड़ < पर्पट; तोड़ < त्रोट < √त्रुट्]।

पापर—(सं०) (१) पानी भरनेवाली मजदूरिन। (२) खेत में काम करनेवाला मजदूर (मुं०-१)। पर्या०—पाट।

[देशी (?)]।

पार—(सं०) (१) गाय चराने या दुहनेवाले को पारिश्रमिक रूप में गाय के दूध में से दिया जानेवाला दूध का अंश (उ० मैं०)। दे०—बारा। यह पारिश्रमिक सप्ताह में एक निश्चित दिन को ही दिया जाता है, इसलिए इसे पार या बारा कहते हैं। (२) नदी, पहाड़ आदि का दूसरा किनारा या भाग।

[पार < पर्याय, < पार-]।

पारल—(क्रि०) (१) मोरी (धान के बीज) के लिए खेतों में बीया छींटना। (२) सकना, पार पाना (मुं०-१)।

[पार+ल (प्र०) < √ पार् (पारयति)]।

(३) कोड़ना, खोदना (चंपा०, मैं०)। दे०—कोड़ल। (४) ऊख काटना (पट०, गया, चंपा०, द० मुं०)। दे०—छोलल। पर्या०—पतोर पारल (द० भाग०)।

[पार+ल (प्र०); पार < पार, < √पाट् (पाटयति, उत्पाटयति)]।

पारा—(सं०) (१) गाय चराने या दुहनेवाले को पारिश्रमिक-रूप में दिया जानेवाला दूध का एक निश्चित अंश (द० मैं०)।

[पारा < पर्याय, < पार-?]।

(२) कोल्हू की उपरली सतह।

[देशी, मिला०—पार-, ऊपरी]।

परापारी—(सं०) (१) एक के बाद दूसरे कृषक का काम करना। दे०—भांजासिर। (२) एक-एक करके, पारी-पारी से, क्रम-क्रम से।

[पारा+पारी; पारा (अनुवा०)<पार, <पर्याय-]।

पाराबंदी—(सं०) सिंचाई के निमित्त बनाया गया पानी लेने का नियम (पट०-१)।

पारी—(सं०) (१) बारी। किसी काम को करने के लिए अवसर दिया जाना, जबकि उस काम को एक साथ ही अन्य लोग भी कर रहे हों (चंपा०-१)।

(२) (मुं०-१)। दे०—पारा। (३) कृषक द्वारा एक दूसरे का काम बारी-बारी से किया जाना। दे०—भाँज। (४) किसानों द्वारा मिलकर अपनी फसल की देखरेख करने का क्रम, बारी। पर्या०—भाँज, भाँजा, पलटी (पट०, गया, प०); परिहर (पट०, गया); पैठी (द० प० शाहा०), पाएठ (द० मुं०)।

[पार+ई (प्र०); पार, < पर्याय-]।

पारीवाला—(सं०) वह मजदूर, जो कभी अपने स्वामी का काम करता है और कभी अपना (उ० प०)।

[पारी+वाला (प्र०); पारी, < पर्याय-]।

पारहो—(सं०) (१) मछली मारने के जाल टोहका का पिछला मुंह, जिससे होकर मछली निकाल ली जाती है (चंपा०-१)। (२) मछली मारने के जाल टोहके में कमानियों का वह भाग, जिससे मछलियाँ टोहके में घुस सकती हैं, पर बाहर नहीं आ सकतीं (चंपा०-१)।

[देशी]।

पाल—(सं०) (१) हल जोतने के समय बैलों के कंधे पर रखा जानेवाला लकड़ी का बना विशेष प्रकार का फलक। दे०—पालो।

[पाल < पाल (?) मिला०—फाल]।

(२) कुएँ के अंदर बगल की दीवार के किसी भाग के गिरने से गड्डे के रूप में बना हुआ स्थान (प०)। दे०—खाँगर।

[पाल < पालि- (?)]।

(३) कृषि-साधनों की मरम्मत आदि करने के बदले बढ़ई, लोहार, चमार आदि को मिलनेवाली मजदूरी (मैं०, उ०)। दे०—कठाभाँवर।

[पाल<पाल, पालो (=हल का जुआ), पालि(?)]।

(४) पालो (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पाल < पालि-? < फलक-]।

पालक—(सं०) (१) चौड़ी, चिकनी और क्षारयुक्त पत्तीवाला एक प्रसिद्ध साग। पर्या०—पालकी, पलाँकी (पू० मैं०, चंपा०)।

[पालक < पालङ्की]।

(२) राजा या जमींदार के द्वारा छोटे पुत्र या छोटे भाई के और उनके उत्तराधिकारियों के जीवन-निर्वाहार्थ उन्हें दी गई कुछ गाँवों की कर-मुक्त संपत्ति या स्वामित्व (सा०)। दे०—खोरिया।

[पालक < पालक या < पालिका-(?)]।

पालकी—(सं०) (१) चौड़ी, चिकनी क्षारयुक्त पत्तीवाला एक प्रसिद्ध साग। दे०—पालक। (२) एक प्रकार का लकड़ी का बना वाहन, जिसे चार या आठ आदमी कंधों पर रखकर ढोते हैं।

[पालकी < पालङ्की-? पालकी (२) < पर्यङ्क-, पल्यङ्क- (संस्कृ०); पल्लङ्क (पा०, प्रा०); पलंग (हिं० बिहा०, पं०) = खाट; पालकी (हिं०); पालिक (असि०, बं०); पाल्की (पं०, सि०); पालख (गु०); पाल्खी (गु०); पालख (-ख), पालखी (-खी) (मरा०)]।

पालट—(सं०) हेंगा देने की क्रिया (गया)।

[पालट < पलट < पर्यस्त (?)]।

पाल पसेरी—(सं०) लोहार, बढ़ई, नाई, और धोबी को किसान की ओर से मिलनेवाली एक छोटी धान्यराशि (प० मैं०)। दे०—खटवन।

[पाल+पसेरी; पाल < (?); पसेरी < पनसेरी < पञ्चसेर]।

पाला—(सं०) तुषार (बरफ) से युक्त वायु, जिससे फसल नष्ट हो जाती है, पाला पड़ना। पर्या०—पल्ला (पू०)। पाल मरुआ = पाला पड़ने के कारण नष्ट फसल।

[पाला < प्रालेयक-]।

पाला—(सं०) (१) वायु में मिली हुई भाप के वे सूक्ष्म अणु या कण, जो ठंडक के कारण सफेद तह के रूप रूप में पृथ्वी पर जम जाते हैं। (२) काफी ठंडा पानी। (३) संबंध या अवसर। (४) दुपल्ली टोपी का एक भाग। (५) किवाड़ का एक भाग (चंपा०-१)।

[पाला (३)<पालि (?), पाला<पल्ल,<फलक-]।

पाला—(सं०) हल का जुआ, जो बैलों के कंधों पर रखा जाता है (मुं०-१)।

[पाला < पालि, फलक-]।

पालो—(सं०) (१) दो पट्टों (पल्लों) का बना हुआ हल का जुआ (चंपा०, पट०-१, गया, द० मुं०; सामा०)। (२) जुए के ऊपर का पल्ला। पर्या०—मोटहा, जुआठ (पट०, गया, चंपा०, द० मुं०)।

[पालो < पालि, < फलक-, < फाल- (?)]।

पालो—(सं०) हल में बैलों को जोतते समय उनके कंधे पर रखा जानेवाला लकड़ी का जुआ (सं० उ०, पट०, गया, द० मुं०)। पर्या०—पाल (द० भाग०, सा०, पू०); पालौ, पाल (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पालो < पालि-, < फलक-, < फाल-(?)]।

पालौ—(सं०) (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—पालो।

पाव—(सं०) चार छटाँक की तौल। पर्या०—पावा, पौआ।

[पाव < पाद-]।

पावठ—(सं०) कुएँ के आरपार रखा गया लकड़ी का तख्ता, जिसपर खड़ा होकर पानी निकालनेवाला पानी निकालता है। दे०—परियाठ।

[पाव+ठ < पाव+काठ < पाद + काष्ठ—(?)]।

पावस—(सं०) वर्षा (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पावस < प्रावृष्]।

पावा—(सं०) चार छटाँक की तौल। दे०—पाव।

[पावा < पादक-]।

पासंग—(सं०) तराजू के पलड़ों का संतुलन ठीक रखने के लिए हलके पलड़े पर कुछ भार रखकर दोनों पलड़ों को ठीक करना (मुं०-१)। (२) तराजू के पलड़ों के संतुलन को ठीक करने के लिए रखा जाने-वाला मिट्टी आदि का छोटा भार। (३) लोहे का बना एक धारयुक्त हथियार, जिससे घास आदि काटी जाती है, खुरपी। दे०—खुरपा।

[पासंग (१, २) — (फा०)। मिला०—प्रसङ्ग- (संस्कृ०)]।

पासंध—(सं०) तराजू की डंडी या तौल को बराबर करने के लिए उठे हुए पलड़े पर रखा हुआ कुछ बोझ (पु० मै०)। दे०—पसेंगा।

[पासँघ < पासंग (फा०)। मिला०—प्रासङ्ग-]।

पासंध देखब—(सं०) तराजू के संतुलन की जाँच करना (शाहा०)। दे०—साध लेल।

[पासँध+देखब, पासँघ < पासंग (फा०); देख+ब (प्र०) < √दृश्]।

पास—(सं०) (१) धान की खेती की पंक्ति (द० प० शाहा०)। दे०—सपुरा। (२) कुदाल का वह अँगूठी-नुमा अंश, जिसमें डंडा लगाया जाता है। पर्या०—पासा, पासो (मै०, द० भाग०); पंवारी (द० प० शाहा०); पसाय (द० मुं०)।

[पास < पार्श्व- < पर्शु- या < पाश-, < प्रास-; पास (पा०, प्रा०); पासा (हि०); पासो (ने०) = लोहे के हथियार का सिरावाला भाग, जाल; पासा, पासो (कुमा०) = दम घुटना; पाह (अस०) = छोटे केशों का गुच्छा; पाहजाल (अस०) = मछली पकड़ने का जाल; परस (बँ०) = जाल; पास (ओ०); पासा (हि०); पहाना (पं०) = बाँधना; दाहोड़ी (सिं०)= घोड़े का तोबड़ा; पासा (सिह०)=जाल]।

पास—(सं०) कुदाल में लगा लोहे का वह मोटा और गोल भाग, जिसमें कुदाल की फली और बेंट लगी रहती है (दर०, चंपा०-१)।

पासनि—(सं०) खुरपी (दर०-१, पूर्णि०-१)। दे०—पसनी।

[पासनि (देशी); मिला०—प्रासन=फेंकना, फेंकने का साधन]।

पासनी—(सं०) हँसुआ (मुं०-१)।

[पासनी < प्रासन-(?)]।

पासा—(सं०) (१) ऊख की मुख्य कोड़नी, जो आषाढ़ या आर्द्रा नक्षत्र में होती है (गया)। दे०—असाढ़ी कोड़नी।

[पासा < (?)। मिला०—पाश-, प्रास-]।

(२) आषाढ़ महीने में ऊख के खेतों की हलकी कोड़ाई (गया)। दे०—असाढ़ी कोरन।

[पासा (?)। मिला०—पाश-, प्रास]।

(३) कुदाल, कुल्हाड़ी आदि का अँगूठीनुमा वह अंश, जिसमें बेंट लगाई जाती है। दे०—पास (पट०-१)।



[पास=पाशक, < प्रासक-(?)। दे०—पास]।

पासो—(सं०) कुदाल, कुल्हाड़ी आदि का अँगूठीनुमा वह अंश, जिसमें बेंट लगाई जाती है दे०—पास।

[पासो < पाशक-, प्रासक-। दे०—पास]।

पाह—(सं०) (१) किसी काम के करते समय एक तरफ से खंड-खंड करके पूरा करने की प्रक्रिया (चंपा०-१)। (२) धान की रोपनी में खेत का एक हिस्सा। कृषि-काल में खेत को कई भागों में बाँटकर रोपनी होती है, जितनी दूर तक मजदूर पंक्तिबद्ध होकर एक बार में रोपते हैं, वह पाह कहलाती है। एक पाह समाप्त करके दूसरी पाह शुरू की जाती है (पट०-१ सर्वत्र)।

[पाह < पार्श्व (?)]।

पाही—(सं०) (१) रात में बैलों के बाँधने की लोहे की जंजीर। दे०—सीकर।

[पाही < पाशिक < पाश- (?)]।

(२) बारी, पारी। (३) धान रोपने के समय खेत में एक रोपनिहारिन एक दिन में खेत का जितना भाग रोपने के लिए अपना लेती है, वह भाग (मुं०-१)। (४) दूर की खेती (चंपा०-१)।

[पाही < पार्श्व-, < पार्श्विक-]।

(५) वह काश्तकार, जिसे मौरूसी हक नहीं मिला है, बाहरी (पट०, गया)। दे०-गैरमारूसी। (६) गाँवों में अस्थायी रूप से रहनेवाला रैयत। दे०—पाही काश्त।

[देशी]।

पाही काश्त—(सं०) (१) गाँवों में अस्थायी रूप से रहनेवाला रैयत। पर्या०-पाही, पैहार (द० भाग०)। (२) पाई, छोटा काश्तकार।

[पाही+काश्त (फा०)]।

पाहे—(सं०) लताओं या पंक्तियों के बीच का अवकाश (पू० मै०)। दे०—अंतरा।
[पाहे < पार्श्व-(?) या < पथ-, पाथ-(?)]।

पिंग—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिससे उनके सभी दाँत एक बार में गिर जाते हैं (पट०-१)।

पिंजौर—(सं०) धान के पुआल की अँटियों का बना हुआ मंदिर के शिखर की तरह गोलाकार अंबार, जो कुछ छोटा होता है (पट०-१)। पर्या०—पूँज।

पिंड—(सं०) जल के खजाना या अहरा से संबद्ध और समतल भूमि से पृथक् करके व्यवहृत बाँध-मात्र। पर्या०—अलंग।
[पिंड < पिण्ड-(?)]।

पिआजु—(सं०) पियाज, प्याज (दर०-१, पूर्णि०-१)।
[पिआजु < प्याज (फा०); पियाज, प्याज (हिं०)]।

पिआर—(सं०) मकोय-जैसा एक जंगली मीठा फल, जिसके बीज की गरी की मिठाई बनती है। (मुं०-१)। पर्या०—पियाड़, पियार।
[पिआर < पियाल (?)]।

पिकहरल—(सं०) किसी पौधे के पीके (बौर) का सूख जाना (चंपा०-१)।
[देशी]।

पिचाड़ल—(क्रि०) फल, अन्न आदि को मसलना (चंपा०-१)।
[पिचाड़+ल (प्र०); पिचाड़ < पिच्चट < √पिच्च् (पिच्चयति=दबाता है)]।

पिच्चर—(सं०) एक अगहनी लाल या सफेद मोटा धान, जिसका चावल लाल होता है (सा०-१)।
[मिला०—पिचुल, पिचल (संस्कृ०)—एक प्रकार का पौधा—(मो० वि० डि०)]।

पिछलहरी—(सं०) पानी आदि के गिर जाने से जमीन का काफी चिकना हो जाना। ऐसी जगह फिसल पड़ने का भय बना रहता है (चंपा०-१)।
[पिछलह+री (प्र०); पिछलह < पिच्छलहन-]।

पिछला लगान—(सं०) बकाया मालगुजारी (सा०-१)। पर्या०—बकाया लगान।
[पिछला+लगान; पिछ+ला (प्र०) < पीछा, < पश्च < पश्चात्; लगान (फा०)। मिला०—लग्न-, लग्नक- (?)]।

पिछांत—(सं०) पीछे पड़नेवाला, पीछे बोया या रोपा जानेवाला अनाज या फसल (मुं०-१)। समय के बाद की खेती (पट०-१)।
[पिछांत < पाश्चात्य (?)]।

पिछिली—(सं०) पानी आदि के गिरने से जमीन का चिकना हो जाना। ऐसी जगह फिसलने का भय बना रहता है (चंपा०-१)।
[पिछिली < पिच्छिल-]।

पिछौतिया—(सं०) पीछे फलने या होनेवाला फल, तरकारी आदि (मुं०-१)।
[पिछौतिया < पाश्चात्य-]।

पिटनी—(सं०) तख्ते या जमीन पर फसल की आँटी झाड़कर अनाज निकालने की प्रक्रिया (चंपा०, गया)। दे०—पीटल।
[पिटन+ई (प्र०) < पीडन < पीड < √ पीड्]।

पिटोई—(सं०) गेहूँ या जौ की जड़ को खानेवाला एक छोटा हरा कीड़ा। दे०—टाँड़ा।
[पिटोई (देशी)]।

पिटौर—(सं०) मवेशियों को हाँकने के काम में आनेवाली चाबुक लगी हुई छोटी छड़ी। दे०—छाकुन।
[पिट+और (प्र०); पिट < पीडन]।

पिट्ठा—(सं०) (१) एक प्रकार का पौधा (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) आटा गूँधकर गोल या लंबा बनाकर पानी आदि में पकाया गया एक भोज्य पदार्थ।
[देशी; < पिष्टक-]।

पितरसेली—(सं०) अजवाइन की जाति का एक पौधा और उस पौधे का दाना। दे०—अजमोदा।
[पितरसेली < (?)]।

पियार—(सं०) ऊख पेरना आरंभ करने के समय का उत्सव। पर्या०—समहुरा (शाहा०), पलावन (पट०, गया), पचपन (द० पू०)।
[पियार < (?)। मिला०—पिठार < पथार (?) < प्रस्तार-]।

पिनिक—(सं०) अफीम के नशे से उत्पन्न हुई तंद्रा।
[पिनिक < पिनकन (बिहा०); पिनकना (हि०)]।

पिन्ना, पीना—(सं०) अफीम के बीज से बनी खली।
[देशी]।

पिपड़ी—(सं०) चींटी (पट०-२)। दे०—पिपरी।
[पिपड़ी < पिपीलिका]।

पिपरा—(सं०) गेहूँ की फसल के साथ उगनेवाली एक घास (पट०, सा०, पू०)। दे०—चौपहा। इसका दलहन के रूप में भी प्रयोग किया जाता है (दर०-१)।
[पिपरा, मिला०—पिप्पल]।

पिपरी—(सं०) चींटी (दर०-१, पूर्णि०-१, भाग०-१)। पर्या०—चुट्टी।
[पिपरी < पिपीलिका]।

पियरकी—(सं०) तेपखी मकई का पीला भेद (सा०-१)।
[पियर+की (प्र०) ; पियर < पीयर<पीतक-]।

पियाज़—(सं०) एक प्रसिद्ध कंद, जो मसाले में प्रयुक्त होता है। इसकी गंध उत्कट होती है, बहुत लोग इसे नहीं खाते हैं। पर्या०—पैयाज (द० भाग०), कमलपत्तर (उ० प०), पियाजु (दर०-१)।
[पियाज < प्याज (फा०)]।

पियाजा—(सं०) प्याज (सा०-१)। दे०—मलगजरी।

पियाजु—(सं०) प्याज (दर०-१)। दे०—पियाजा।

पियादा—(सं०) (१) जमींदारों की ओर से नियुक्त माँग के अनुसार अनाज न देने तक किसान के अनाज को रोककर देखरेख करनेवाला पुरुष (जहाँ-कहीं)। (२) पैदल। (३) पैदल सेना। (४) शतरंज के खेल की एक गोटी।
[पियादा < प्यादा (फा०)। मिला०—पदाति]।

पिलखजूर—(सं०) एक प्रकार का खजूर, पिंडखजूर। यह देशी खजूर की अपेक्षा अधिक मीठा होता है (पट०-१)।

पिलही—(सं०) पशुओं के यकृत् बढ़ने की बीमारी। वस्तुतः यह प्लीहे की बीमारी है।
[पिलह+ई (प्र०) ; पिलह < प्लीहन्]।

पिलुआ—(सं०) वह आम, जिसके पकने पर भीतर कीड़े लग जाते हैं। (वि०) जिसमें कीड़े लग गये हों (पट०-१)।

पिलुआ—(सं०) (१) इकट्ठा किये हुए या उगते हुए कपास, कुसुम या अनाज में लगनेवाला एक छोटा उजला कीड़ा। (२) रेंगनेवाला एक सफेद लंबा कीड़ा, जो सड़ी-गली वस्तुओं या घाव आदि में होता है।
[पिलु+आ (प्र०) < पिल्लू < पीलु (?)]।

पिलुआ—(सं०) कीड़ा (चंपा०-१)।
[पिलु+आ (प्र०) ; पिलु < पीलु—(?)]।

पिलुआइल—(क्रि०) किसी वस्तु में कीड़ों का लगना। दे०—किराइल (सा०-१)।
[पिलु+आइल (प्र०) < पिलु < पीलु]।

पिलुआएल—(क्रि०) किसी फल आदि में पिल्लू पड़ जाना (चंपा०-१)।
[पिलु+आएल (प्र०) ; पिलु < पीलु-(?)]।

पिल्लू—(सं०) (१) इकट्ठा किये हुए अथवा उगते हुए कपास, कुसुम और अनाज में लगनेवाला एक छोटा उजला कीड़ा। (२) रेंगनेवाला लंबा कीड़ा। पर्या०—पिलुआ।
[पिल्लू < पीलु-(?)]।

पिसता—(सं०) एक प्रसिद्ध मेवा (पट०-१)।

पिसना—(सं०) आटा (चंपा०-१)। दे०—पिसान।
[पिसना < पिसान < पेषण-?]

पिसवन—(सं०) आटा। दे०—पिसान।
[पिसवन < पिष्यमाण-(?)]।

पिसाई—(सं०) (१) आटा पीसने की मजदूरी। (२) आटा पीसना (गया)।
[पिसाई < पीसल (बिहा०) ; पीसना (हिं०)]।

पिसान—(सं०) आटा। पर्या०—पिसवन, पिसना (चंपा०-१)। (२) जौ, गेहूँ आदि का पीसा हुआ चूर्ण। दे०—आटा।
[पिसान < पेषण (?) < √ पिष्]।

पिसान मशीन—(सं०) चीनी-मिल का वह यंत्र-विशेष, जिससे मोटी और दानेदार चीनी पीसकर महीन की जाती है (री०)।

पिहकर—(सं०) आग उकसाने की लकड़ी (शाहा०)।
[देशी]।

पिहिका—(सं०) ऊख में लगनेवाला पाला-जैसा एक रोग, जिससे ऊख सूख जाता है (शाहा० के० शे० भाग०)। दे०—सुखड़ा।
[पिहिका (देशी-?)]।

पींज—(सं०) धान के पुआल की ऐंटियों का बना हुआ अंबार, जो मंदिर के शिखर की तरह गोलाकार होता है (पट०-१)। दे०—गिजौर।

पींड़—(सं०) तालाब और तलाई के चारों ओर का बाँध (पट०, गया)। दे०—भींड़।
[पींड < पिण्ड-]।

पींड़—(सं०) दो चढ़ावों या जलाशयों के बीच में उठाया गया किनारा या मेंड़ (गया)। दे०—खाँधी।
[पींड < पिण्ड-]।

पीअजुआ—(सं०) एक प्रकार की घास (चंपा०-१)।
[पीअज+उआ (प्र०)<पिआज<प्याज (फा०)]।

पीअरका—(सं०) पीले (गेहुँआ) वर्ण का पशु। दे०—पीआर। (वि०) पीतवर्ण की वस्तु।
[पीअर+का < पीअर < पीतक-]।

पीअरा—(सं०) पीले वर्ण का पशु। दे०—पीआर।

पीआर—(सं०) (१) पीले (गेहुँआ) वर्ण का पशु। (२) एक प्रकार का पौधा। (३) एक प्रकार का फल, पियाड़ (भाग०)। (४) प्यार। पर्या०—पीअरा, गोहुमन, गहुमन।

पीका—(सं०) केला या किसी पौधे का बीर या कोंपल (चंपा०-१)।

[देशी; मिला०—पिक्क = २० वर्ष की वय का हाथी, अल्पवयस्क हाथी—(मो० वि० डि०)]।

पीचर—(सं०) एक प्रकार का धान, जो फाल्गुन-चैत्र में बोया जाता है और अगहन में काटा जाता है। वह प्रायः पूर्वी तिरहुत में होता है।

[पीचर < पिचुल (?) मिला०—पीचू=एक प्रकार की झाड़, बरदालू, करील का पका फल—(हिं० श० सा०)]।

पीचाड़—(सं०) माल-मवेशी की शोभा के लिए गले में पिन्हाई जानेवाली रस्सी की माला। पर्या०—गर्दनी।

[पीचाड़ < पिच्चड़-(?) या पीचा+ड़ (प्र०); पिचा (= १३ मोतियों का गुच्छा या लड़ी)]।

पीटब—(सं०) तख्ते या जमीन पर फसल की आँटी को झाड़कर अनाज निकालने की प्रक्रिया (सं० उ०)। पीटल (क्रि०)—इस प्रकार झाड़कर अनाज निकालना। पर्या०—झारब, झाँटब (सं० उ०); पेटारी (प०); डगौनी (पट०); पिटनी (चंपा०, गया); डेंडोनी (पू० मै०, द० मुं०); झँटनी (द० भाग०)।

[पीट+ब (प्र०); पीट < पीड़ < √पीड्]।

पीटल—(क्रि०) (१) तख्ता, ओखली या जमीन पर फसल की आँटी को पटककर और झाड़कर अनाज निकालना। (२) हथौड़े से चोट देना। (३) पीटना, झाड़ना। (वि०) पीटा हुआ।

[पीट + ल (प्र०); पीट < पीड या < √ पिट्ट् (पिट्टयति=पीटता है)। पिट्ट < पिट्ट (?); पिट्ट (प्रा०); पिट्नु (ने०); पिटनो (कुमा०); पिटिव (मरा०); पिटा (बँ०); पिटिबा (ओ०); पीटना (हिं०); पिटाउण (सिं०); पिटवुं (गु०); पिटणे (मरा०)। ब्लॉक के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति < पिष्ट—पूर्ण है]।

पीड़—(सं०) कुदाल से काटा या उखाड़ा गया मिट्टी का उतना भारी पिंड या खंड, जो उठाया जा सके (मुं०-१)।



[पीड़ < पिण्ड]।

पीढ़ा—(सं०) (१) लकड़ी का वह आसन, जिसपर पीसनेवाली औरतें बैठती हैं। (२) लकड़ी का बना थोड़ा ऊँचा आसन। पर्या०—पीढ़ी, पीढ़िया (पू०)।

[पीढ़ा < पीठक-]।

पीढ़िया—(सं०) (१) जाँता चलानेवाली औरतों के बैठने के लिए लकड़ी की बनी पीठिका (पू०)। (२) लकड़ी का बना थोड़ा ऊँचा आसन। दे०—पीढ़ा।

[पीढ़ + इया (अल्पा० प्र०); पीढ़। < पीठक; < पीठिका]।

पीढ़ी—(सं०) (१) जाँता चलानेवाली औरतों के बैठने के लिए लकड़ी की बनी पीठिका। दे०—पीढ़ा। (२) वंश, परम्परा।

[पीढ़+ई (प्र०); पीढ़ < पीठ-]।

पीना, पिन्ना—(सं०) अफीम के बीज से बनी खली।

[देशी]।

पीपरी—(सं०) छोटी चींटी।

[पिपीलिका]।

पीयर—(सं०) चने का पीले दानोंवाला एक भेद (शाहा०)। (वि०) पीत वर्ण का।

[पीयर < पीतक-]।

पीरिच—(सं०) उबाली हुई नील के पानी को निकालने के लिए उसे एक कपड़े में रखकर दबाना। पर्या०—पीरिस।

[पीरिच < प्रेस (अं०)-(?)]।

पीरिस—(सं०) उबाली हुई नील के पानी को निकालने के लिए उसे एक कपड़े में रखकर दबाना। दे०—पीरिच।

[पीरिस < प्रेस (अं०)]।

पीरी—(सं०) फसल में लगनेवाला एक रोग-विशेष, जिसके कारण फसल पीली और क्षीण हो जाती है (पट०-१)।

पीरो—(सं०) धान, ज्वार, बाजरा और ऊख के पौधों में लगनेवाला एक रोग, जो घातक दक्षिणी हवा के कारण पैदा होता है। इससे फसल के पत्तों पर काले धब्बे लग जाते हैं और फसल नष्ट हो जाती है। इससे ऊख का उपरला भाग नष्ट हो जाता है। (द० भाग०)। दे०—दखिनाहा। (वि०) पीत वर्ण का।

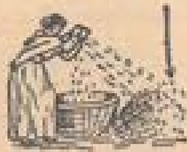
[पीरो < पीतक-(?)]।

पुंजौर—(सं०) वर्षा से बचाने के लिए बाली-सहित कटी हुई फसल या नेवारी की बनाई हुई राशि (उ० प०, पट०, गया, द० पू०)। दे०—कोठियौ।



[पुँज + और; पुञ्ज + और (प्र०) या < बवट (?) या < पूर (?)]।

पुअरसी—(सं०) अनाज के ओसाने के समय हवा से उड़ा हुआ महीन भूसा (प०)। दे०—पंभी।



[पुअर + सी < पुआर < पुआल < पलाल-(?); सी < सदृक-(?)]।

पुअरा—(सं०) धान की दौनी कर लेने पर दाने के निकालने के बाद बचा हुआ पुआल (सा०-१, शाहा०)।

[पुअरा < पुआर < पलाल-(?)]।

पुआर—(सं०) दौनी करके अनाज निकालने के बाद बचा हुआ नरम पुआल (पू०)। दे०—पूअरा।

[पुआर < पलाल-(?)]।

पुआरी—(सं०) वह ऊख, जिसमें सद्यः अंकुर निकला हो (चंपा०-१)। पर्या०—पौरी (द० प० मै०), गोभी (सं० उ०), पोई (शाहा०), अँकुराएल (गया), अँखुराएल (पट०), सुइयाएल (सा०), टिक्भी (द० मुं०), डिब्भी (द० भाग०)। पुआरी के जोत=ऊख में अंकुर फूटने के बाद की जानेवाली पहली कोड़नी या जोत (चंपा०), अन्हरिया (उ० पू० मै०)। अन्यत्र कोई विशेष नाम नहीं है।

[पुआरी (देशी) वा < पुआर < पलाल-; संभ०-ऊख और बीज को पुआल से ढकने के कारण ही ऐसा नाम पड़ा है]।

पुआरी के जोत—(सं०) ऊख में अंकुर फूटने के बाद पौधे के एक हाथ लंबा हो जाने पर की जानेवाली कोड़नी या जोत। यह जोत प्रभात के पहले प्रहर में ही की जाती है (चंपा०-१)। पर्या०—अन्हरिया (उ० पू० मै०)। अन्यत्र कोई विशेष नाम नहीं है।

[पुआरी के+जोत]।

पुइस—(सं०) खेत के छोटे टुकड़े, जिनमें हल न लगा हो (उ० पू० मै०)। दे०—पैस।

[देशी]।

पुइस धरल—(क्रि०) जोतना (उ० पू० मै०)। दे०—जोतल। पर्या०—पैस धरल (चंपा०, मै०)।

पुख—(सं०) आठवाँ नक्षत्र, पुष्य। यह श्रावण कृष्ण-पक्ष में पड़ता है। पर्या०—चिरैया।

[पुख < पुष्य-]।

पुछड़ा—(सं०) ढेंकी का पावदान, जिसपर पैर रखकर ढेंकी चलाई जाती है (उ० पू० मै०)। दे०—पौदर।

[पुछ+ड़ा < पुच्छल-, वा < पुच्छ-दण्ड-(?)]।

पुछिया—(सं०) (१) ढेंकी का पावदान, जिसपर पैर रखकर ढेंकी चलाई जाती है (द० भाग०)। दे०—पौदर। (२) पूंछ।

[पुछ+इया (प०); पूंछ < पुच्छ-]।

पुजउल—(सं०) पुआल जमा करके बनाया गया ढेर (चंपा०-१)।

[पुज+उल < पुञ्ज+पुल-, < पुञ्जपूर-(?)]।

पुटिहा—(सं०) वह भैंस, जिसके दोनों पुट्ठों पर भौंरी हो (पट०-१)।

पुट्ठाउ—(सं०) दे०—पुटिहा।

पुट्ठी—(सं०) लकड़ी के अर्धचंद्राकार टुकड़े, जिन्हें मिलाकर बैलगाड़ी का पहिया तैयार किया जाता है।

पुतरा—(सं०) (१) पौधे की वह दशा, जब अंकुरित होने पर भी दृढमूल नहीं हुआ हो। (२) गुड्डा-गुड़िया।

[देशी; मिला०—पुत्तल-, पुत्तलिका]।

पुतिया—(सं०) चूल्हे की 'ओंखी' पर बना विभाजक मृत्पिंड (द० मुं०)। दे०—पुता, पुत्ता।

[पुतिया < पुत्तिया < पुत्तिका]।

पुत्ता—(सं०) चूल्हे की 'ओंखी' (मुंह) पर बना विभाजक मृत्पिंड। दे०—पूता।

[पुत्ता < पुत्तक-, पुत्तिका]।



पुत्ती—(सं०) (१) गेहूं के दानों का अंकुर (सं० द०)। (२) मड़ुआ के दानों को निकाल लेने के बाद बची हुई ऊपर की भूसी (द० प० मै०)। दे०—डांटी। (३) चूल्हे की 'ओंखी' (मुंह) पर बना विभाजक मृत्पिण्ड। दे०—पूता।

[पुत्ती < पुत्तिका]।

पुनरबस—(सं०) सातवाँ नक्षत्र, पुनर्वसु। यह आषाढ़-शुक्ल और श्रावण-कृष्ण में पड़ता है।

[पुनरबस < पुनर्वसु < पुनर्+वसु-]।

पुनाने—(सं०) एक प्रकार का पत्तीवाला साग (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[देशी; मिला०—पुनर्नवा]।

पुनिया—(सं०) लगान वसूल करने के लिए वर्ष का प्रारंभिक दिवस (सा०-१)।

[पुनिया < पुण्य- वा पूर्णिमा]।

पुनेआ—(सं०) (१) जमींदारों को दशहरा के अवसर पर शुभ शकुन के लिए दी जानेवाली प्रथम मालगुजारी। (२) पुण्यकाल (चंपा०-१)।

[पुनेआ < पुण्य-(?)]।



पुपरा—(सं०) गेहूँ की फसल के साथ उगनेवाली एक घास (द० भाग०)। दे०—चौपहा।
[पुपरा < पिपरा < पिप्पल-(?)]।

पुरइन—(सं०) (१) कमल का पत्ता। (२) नवजात शिशु के शरीर में लिपटी वह झिल्ली, जो माँ के पेट से निकलते समय लगी रहती है। इसे चमाइन हटाती है (चंपा०-१)।
[पुर+इन < पुटकिनी (=कमलिनी) <पुटक-]।

पुरनवा—(सं०) शाक आदि के खेतों में होनेवाली पशु-खाद्य घास (द० भाग०)। यह औषध के लिए भी प्रयुक्त होती है। पर्या०—गदपुरना।
[पुरनवा < पुनर्नवा (न-लोप)]।

पुरबाहुत—(सं०) (१) पूर्व की ओर (चंपा०-१)। (२) पूर्व का। (३) पुरवैया हवा।
[पुरबा+हुत ; पुरबा < पुरब < पूर्व-; हुत (प्र०) या < हत-, सृत-(?)]।

पुरबे—(सं०) (१) दूसरी जोत, दूसरी चास। (२) दूसरी बार जोती हुई जमीन (गया, चंपा०)। दे०-दोखार।
[देशी]।

पुरबैया—(सं०) पूर्व की ओर से आनेवाली हवा। (चंपा०-१)।
[पुरब+ऐया (प्र०) < पुरब < पूर्व-, पूर्विक-]।

पुरबी—(सं०) (१) सरसों से थोड़ा बड़ा और एक प्रकार का पीला तेलहन, पीली सरसों (दर०-१, पूर्णि०-१)। (२) एक राग। (वि०) पूर्व दिशा-संबंधी।
[पुरबी < पूर्वीय < पूर्व]।

पुरबी कोलासार—(सं०) सुगंधदार उजले धान का एक प्रकार (मुं०-१)।
[पुरबी+कोला+सार, पुरबी < पूर्वीय, कोलासार < कोल+शालि या फूल+शालि (?)]।

पुरबे—(सं०) (१) धान रोपने के समय की दूसरी जोत (पट०-१)। (२) एक जाति-विशेष की उपाधि।

पुरहिया—(सं०) (१) पाँच महीने तक दूध देनेवाली या पाँच महीने में गर्भिणी होनेवाली गाय या भैंस (उ० पू० मै०)। दे०—सहरोस। (२) प्रति वर्ष बच्चा देनेवाली या सदा दूध देनेवाली गाय या भैंस (गं० उ०)। (३) ज्यादा बच्चा देनेवाली गाय या भैंस (चंपा०-१)।
[पुरहिया < पुरभी-(?)]।

पुरी—(सं०) लोहार, बढ़ई, नाई और धोबी को किसान की ओर से मिलनेवाली तीन आँटी की एक धान्यराशि। दे०—लखन।
[पुरी < पूरी < पूर-(?)]।

पुरैसी—(सं०) अनाज के ओसाने के समय में हवा से उड़ा हुआ महीन भूसा (प०)। दे०—पंभी।
[पुरैसी < पुआरसी < पुआर-सी < पलाल + सदृश (?) या पुर+एसी < पुर+ईदृक्ष-(=सरई)]।

पुलत्थ—(सं०) छोटा डंडा। बच्चों के खेलने का छोटा रंगीन डंडा (भाग०)। पर्या०-पुलहत्थ, पुल्ठी।
[पुल + त्था ; पुल < पूलक-(?) ; त्थ < हत्था < हस्तक-]।

पुलपुल—(सं०) फल आदि का पककर या सूखकर काफी नरम हो जाना (चंपा०-१)।
[पुलपुल < पुल (अनुक०)]।

पुलधन—(सं०) बाँस का अगला भाग (चंपा०-१)।
[देशी]।

पुलहत्था—(सं०) छोटा डंडा। बच्चों के खेलने का छोटा रंगीन डंडा (भाग०)। दे०—पुलत्था।
[पुल+हत्था ; पुल <पूलक-; हत्था < हस्तक-]।

पुला—(सं०) घास, लकड़ी आदि का मुट्ठी में आने भर परिमाण या राशि (चंपा०-१)।
[पुला < पूलक-]।

पुलिया—(सं०) घास, लकड़ी आदि का बँधा हुआ मुट्ठी-भर परिमाण या राशि (चंपा०-१)।
[पुलिया < पूलक-]।

पुल्ठी—(सं०) छोटा डंडा (मुं०-१)।
[देशी ; दे०—पुलत्था]।

पुल्ला—(सं०) अनाज निकालने के बाद बँधी हुई पुआल की आँटी (द० पू०)। दे०—पूला।
[पुल्ला < पूलक-]।

पुल्ली—(सं०) (१) कूँड़ में आरपार लगी हुई पट्टी, जिसमें रस्सी बाँधी जाती है (द० भाग०)। दे०—फिल्ली। (२) छोटा डंडा, जिससे बच्चे खेलते हैं।
[पुल्ली < पूलक-(?)]।

पुसपिट्ठा—(सं०) पूस महीने में एक-आध दिन चावल का बना पीठा खाने का रिवाज (मुं०-१)। जैसे दक्षिण भारत में पूस में खिचड़ी खाने की रीति है। पर्या०—पुसबगिया (द० भाग०)।
[पुस+पिट्ठा, पुस<पुष्य-, पौष-, पिट्ठा<पिष्टक-]।

पुसबगिया—(सं०) (द० भाग०)। दे०—पुसपिट्ठा।

पुसभत्ता—(सं०) पूस महीने में बहियार (खेतों) में साथियों के साथ बना-पकाकर भात-दाल आदि खाने का रिवाज, किसानों का वनभोज (मुं०-१)।
[पुस+भत्ता; पुस<पुष्य-, पौष-; भत्ता<भक्त-]।

पुस्ती—(सं०) चूल्हे की 'ओंखी' (मुँह) पर बना विभाजक मृत्पिंड (द० पू०)। दे०—पूता।
[पुस्ती < पुस्त-, पुस्तिका; 'पुस्तं लेप्यादि कर्म यत्'—(अमर०)]।

पूँछझबार—(सं०) जानवरों का एक रोग, जिससे उनकी पूँछ झरने लगती है (पट०-१)।

पूँछी—(सं०) (१) कोल्हू के जाठ (मोहन) का उपरला घूमनेवाला हिस्सा। दे०—चूर। (२) पूँछ।
[पूँछी < पुच्छ-]।

पूँज—(सं०) वर्षा से बचाने के लिए बाली-सहित कटी हुई फसल की छावनी-जैसी बनाई हुई राशि (उ० प०, पट०, गया, द० पू०)। दे०—कोठियौ।
[पूँज < पुञ्ज-]।

पूअरा—(सं०) दौनी करके अनाज निकाल लेने के बाद बचा नरम पुआल (प०)। पर्या०—पुआर (पू०); पोरा (प० मै०); पोआर (पट०, द० मुं०); नरुआ, लाट (द० भाग०)।
[पूअरा < पुआर < पलाल-(?)]।

पूआ—(सं०) (१) साँप आदि का सद्यःप्रसूत कोमल बच्चा, पोआ। (२) तंबाकू की बियड़ी या बीज-खेत (मुं०-१)। (३) पूआ, प्रसिद्ध मीठा खाद्य-विशेष।
[पूआ<पोआ < पोत- ; < पूप-]।

पूता—(सं०) चूल्हे की ओंखो (मुँह) पर बना हुआ विभाजक मृत्पिंड। पर्या०—पुत्ता, पुत्ती, पुस्ती (द० पू० मै०); पुतिया (द० मुं०)।
[पूता < पुत्त< पुत्तिका, <पुस्त-; 'पुस्तं लेप्यादि कर्म यत्—(अमर०)]।

पूत्ती—(सं०) मड़ुआ का कोसा, जिसमें दाना रहता है (चंपा०-१)।
[पूत्ती < पुत्तिका (?)]।

पूदेना—(सं०) खसर-जाति का एक प्रसिद्ध छोटा पौधा, जो चटनी आदि में या औषधों में प्रयुक्त होता है। दे०—पोदीना।
[पूदेना < पोदीनः (फा०)]।

पूर—(सं०) जुलाहों द्वारा जमींदार को दिया जानेवाला एक रुपया प्रतिकरघा कर।
[देशी]।

पूर—(सं०) लद्दू बैल की सामान्यतः आयु-संबंधी मोटा-मोटी गणना (गया)। दे०—तीख।
[पूर < पूर- < √ पूर्]।

पूरब भादरपद—(सं०) पचीसवाँ नक्षत्र, पूर्व भाद्रपद, यह फाल्गुन-कृष्ण में पड़ता है।
[पूरब+भाद्रपद < पूर्व+भाद्रपद]।

पूरबाखाढ़—(सं०) बीसवाँ नक्षत्र, पूर्वाषाढ़, यह अगहन-शुक्ल में पड़ता है।
[पूरब+असाढ़ < पूर्वाषाढ-]।

पूरबा फगुनी—(सं०) ग्यारहवाँ नक्षत्र, पूर्वफाल्गुनी। यह भाद्रपद के कृष्णपक्ष में पड़ता है।
[पूरबा+फगुनी < पूर्व+फाल्गुनी]।

पूरा—(सं०) वयस्क बैल, जिसके आठ दाँत पूरे हो गये हों। पर्या०—अपैल।
[पूरा < पूर-]।

पूरिस—(सं०) कुआँ आदि की खुदाई में आदमी की ऊँचाई के बराबर की नाप।
[पूरिस < पौरुष < पुरुष-]।

पूरिस—(सं०) साढ़े चार हाथ की ऊँचाई का एक परिमाण, जो मनुष्य के पैर से ऊपर फैलाये हाथ तक ऊँचा होता है। इस प्रकार कुआँ आदि की गहराई इसी पूरिस या पोरसा से नापी जाती है, जैसे-छह पूरिस या पोरसा, सात पूरिस या पोरसा कुआँ। पर्या०—पोरसा।
[पूरिस < पौरुष < पुरुष-]।

पूरी—(सं०) (१) अँटिया या पलही से बड़ी दोनों भुजाओं के अंदर भरकर आनेवाली फसल की राशि (द० प० शाहा०)। दे०—पाँजा। (२) घी-तेल आदि में पकाया गया आटे का खाद्य-विशेष, पूड़ी।
[पूरी < पूर-]।

पूला—(सं०) (१) काटी गई फसल की वह छोटी राशि, जो मुट्ठी में भरकर आये। दे०—मूठा। (२) अनाज निकालने के बाद बँधी हुई पुआल की आँटी (पट०, मै०)। पर्या०—कटुआ (उ० पू० मै०); आँटी, अँटिया (सं० द०, सा०); पुल्ला, बिडा (द० पू०)।
[पूला < पूलक-]।

पूस—(सं०) पौष, भारतीय वर्ष का दशम मास, जो हेमंत ऋतु का अंतिम होता है। दिसंबर के अंतिम और जनवरी के आदिम १५-१५ दिन। इसकी पूर्णिमा के दिन प्रायः पुष्य नक्षत्र होता है, अतः पौष मास नाम पड़ा है।
[पूस < पौष < पुष्य-]।

पेंड़नी—(सं०) हेंगी के समान सिंचाई का एक साधन, जो एक बेंट में लगा रहता है और जिससे पानी उपछकर खेत सींचा जाता है। दे०—फरुही।
[पेंड़नी < (देशी ?) या < प्रकिरण (= छींटना, छींटने का साधन)। मिला०—पर्ताल (संस्कृ०) = भाव, कुदाल (मो० वि० डि०)]।

पेंद—(सं०) (१) कोठी या बखारी की निचली सतह। (२) किसी वस्तु का निचला भाग। पर्या०—पेंदा, पेनी, पेंदो (द० भाग०)।

[मिला०—प्रतिष्ठा (संस्कृ०)=आधार, आधारस्तंभ; पइट्ठा (प्रा०); पृष्ठ; (संस्कृ०), पिट्ठ (प्रा०); पीठ (संस्कृ०) = आसन, आधार; < पिण्ड—(हिं० श० सा०)। संभ० < पिण्ड, < पेण्ड- पिण्ड का स्थानीय लोक भाषा-रूप। मिला०—पेंद (फारस०)=गोला, पिंड; पेंद-(मरा०)=पास; पेंदा (हिं०, पं०); पेंदी (मरा०); पेंद (सिह०) = चिड़ियों की पूंछ, गोला]।

पेंदा—(सं०) (१) कोठी या बखारी की निचली सतह। दे०—पेंद। (२) किसी वस्तु का निचला भाग।

[देशी; मिला०—प्रतिष्ठा (संस्कृ०) = आधार, आधारस्तंभ; पइट्ठा (प्रा०); पृष्ठ (संस्कृ०), पिट्ठ (प्रा०); पीठ (संस्कृ०) = आसन, आधार]।

पेंदी—(सं०) (१) कोठी या बखारी की निचली सतह। दे०—पेंद। (२) किसी वस्तु का निचला भाग, पेंदा।

[पेंद+ई (स्त्री० प्र०)। दे०—पेंदा]।

पेंदो—(सं०) कोठी या बखारी की निचली सतह (द० भाग०)। दे०—पेंदा।

[पेंद + ओ (स्थानीय उच्चारण-ध्वनि-जनित 'ओ', वस्तुतः यह वर्तुल 'अ' है)। दे०—पेंदा]।

पेंपची—(सं०) जमीन के नीचे बैठनेवाला कंदविशेष, जिसकी तरकारी बनाई जाती है, अरुई (पट०-१)। दे०—पेपची।

पेआज—(सं०) प्याज (पट०-१)।

पेआर—(सं०) एक प्रकार का जंगली वृक्ष। इसका फल पीला, गोला और खट्टा-मीठा होता है, इस वृक्ष का फल (पट०-१)।

पेकचा—(सं०) एक प्रकार का कंद, जो छोटा लंबा और लसदार होता है एवं जिसकी तरकारी बनती है। इसके स्पर्श से खाज होती है (द० पू० मै०)। दे०—अरुई।

[देशी; पेपची, अरुई (हिं०)]।

पेकची—(सं०) एक प्रकार का कंद, जो छोटा लंबा और लसदार होता है तथा जिसकी तरकारी होती है (शाहा०)। दे०—अरुई।

[देशी]।

पेट उकसल—(मु०) किसी भारी चीज के उठाने के कारण पेट के सूत का अपनी जगह छोड़ देना (चंपा०)।

[पेट+उकसल; पेट<पेट्ट (प्रा०); मिला०—पिटक-(संस्कृ०) = पेटी; उकस+ल (प्र०) उकस < उकस < उत्कस < उत्+√कस् वा √कष् (?)]।

पेट चलल—(मु०) पतला पैखाना होना (चंपा०)।

[पेट+चलल; पेट (देशी); मिला०—पेटक-, पेटिक-, पेटिका (संस्कृ०) = पेटी; चल + ल <√चल्; पेट चलना (हिं०); पेटचलाई (ने०) = दस्त होना]।

पेटचली—(सं०) किसी रोग या अस्वस्थता से पशुओं के पेट झरने की बीमारी। पर्या०—पेटौक (मै०)।

[पेट + चली; पेट < पेट्ट (प्रा०); मिला०—पेटक-(संस्कृ०) = मंजूषा; चली < चलल (बिहा० क्रि०) <√चल्; पेटचलाई (ने०)]।

पेटपेचरा—(सं०) कोल्हू के पाचर के घिस जाने पर उसमें लगाया जानेवाला नया पाचर।

[पेट+पचरा; पेट (देशी)। मिला०—पेटक (संस्कृ०)= मंजूषा; पचरा (देशी)। मिला०—पच्चनिका (संस्कृ०) = हल का एक अंग (मो० वि० डि०)]।

पेट फुलल—(मु०) पशुओं अथवा मनुष्यों का वह रोग, जिसमें वायु के कारण पेट फूल जाता है।

[पेट+फुलल; पेट + पेट्ट (प्रा०)। मिला०—पेटक-(संस्कृ०); फुल + ल (प्र०); फुल <√ फुल्ल (विकसने); फूलना (हिं०)]।

पेट फुल्ली—(सं०) पशुओं का वह रोग, जिसमें वायु से पेट फूल जाता है (मै०, शाहा०, पट०-१)। दे०—फलवात।

[पेट+फुल्ली; फुल्ली < फुल्ल+ई <√ फुल्ल्]।

पेटबत्थी—(सं०) (१) मवेशियों का एक रोग, जिसके कारण पेट में दर्द होता है और पेशाब-पाखाना बंद हो जाता है (सा०-१)। (२) उदर-पीड़ा का एक रोग।

[पेट+बत्थी, <बत्थी; बत्थ+ई < बथल (बिहा०) बथना (हिं०) <√ व्यथ्]।

पेटभरन—(सं०) पेट भरनेवाला भोजन, भर-पेट भोजन (मुं०)। पर्या०—पेटभरू।

[पेट+भरन; भरन < भरल (बिहा० क्रि०) < भर <√ भृ]।

पेटभरू—(सं०) (१) दे०—पेटभरन। (२) पेटभरुआ।

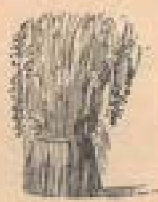
पेटभरुआ—(वि०) वह व्यक्ति या परिवार, जिसका जीवन सामान्यतः आर्थिक दृष्टि से अच्छा हो (मुं०-१)। पर्या०—पेटभरू।

[पेट+भरुआ, भरुआ < भर+उ (प्र०) < भरल (बिहा०); भरना (हिं०) < भार <√भृ]।

पेटसुज्वा—(सं०) (पट०-१)। दे०—पेटफुल्ली।

पेटसुज्जा—(सं०) (पट०-१)। दे०—पेटफुल्ली।

पेठाड़ी—(सं०) (१) धान की लंबी नेवारी (शाहा०)। दे०—मोरी, पेटारी।



(२) पीटकर धान के दानों को अलग कर देने के बाद पौधे का सूखा हुआ भाग, पुआल (सा०-१)। पर्या०—नेवारी, मोरी। (३) इकट्ठा किये हुए धान में लगनेवाला एक कीड़ा (मै०)।

[पेठाढ़ी (देशी)। मिला०—पिट्ठ+नाडी या पिहित-नाडी या पक्वनाडी]।

पेटारी—(सं०) (१) तख्ते या जमीन पर फसल की आँटी झाड़कर अनाज निकालने की प्रक्रिया (प०)। दे०—पीटल। (२) इस प्रक्रिया से बची हुई आँटी का पुआल।

[देशी]।

पेटावला—(सं०) साधारण काश्तकारों के नीचे एक छोटा रैयत (उ० प०)। दे०—सिकमी।

[देशी]।

पेटाही—(सं०) (१) धान की लंबी नेवारी (चंपा०)। दे०—मोरी, पेटाड़ी। (२) पेटवाली, गर्भिणी।

[पेट+आही (प्र०); पेट < पेट्ट (प्रा०); या पिट्ट; आही < आह < √ वह् (?)]।

पेटी—(सं०) (१) कोल्हू के बैल की छाती से होकर ऊपर तक जानेवाली बाँधने की रस्सी, जो 'दो जोता' से मिलाती है। (२) पिटारी, मंजूषा। (३) बैलगाड़ी के निचले भाग में लगी हुई पिटारी (पट०-१)। (वि०) पेट से संबद्ध।

[पेट+ई (प्र०); पेट < पेट्ट (देशी, प्रा०)]।

पेटू—(वि०) ज्यादा और हमेशा खानेवाला (चंपा०-१)।

[पेट+ऊ (प्र०); पेट < पेट्ट (प्रा०)]।

पेठा—(सं०) (१) श्वेत कूष्मांड, (कोहड़ा), भतुआ। पर्या०—भतुआ, भूआ, सिरकोंहड़ा। (२) भतुआ का मुरब्बा। पर्या०—भूआपाग (द० पू० मै०), भतुआ पाग।

[देशी]।

पेठिया—(सं०) (१) बाजार (चंपा०-१)। (२) छोटी हाट, गुदड़ी (मुं०-१)।

[देशी; मिला०—पीठ-(संस्कृ०) = स्थान, आसन, पैठिक = पीठ-संबंधी; पेठ (मरा०)=बाजार]।

पेठी—(सं०) किसानों द्वारा मिलकर अपनी फसल की देख-भाल करने का क्रम (द० प० शाहा०)। दे०—पारी।

[पेठी < परीष्टि—(?) (= मिलकर या पारी-पारी किया जानेवाला याग या विधान) < परि-√ यज्]।

पेड़—(सं०) वृक्ष, पौधा।

पेड़ < पिण्ड-(?)]।

पेड़ल—(क्रि०) (१) किसी वस्तु को यंत्र आदि विशेष साधन से दबाकर रस निकालना। तेल का कोल्हू चलाना। दे०—पेरल। (२) ऊख का कोल्हू चलाना। दे०—पेरल।

[पेड़+ल (प्र०); पेड़ < √पीड्]।

पेनछोर—(सं०) फसल को जड़ के ऊपर से काटने की प्रक्रिया (दर०-१, पूर्णि०-१)। पर्या०—पेनखोप।

[पेन + छोर, पेन < पर्ण -(?); छोर < √ छुद् (=छोदयति, < √ छुद् (छुदति)]।

पेनपत्ता—(सं०) तंबाकू की जड़ की पत्तियाँ (दर०-१, पूर्णि०-१)।

[पेन+पत्ता, पेन < पर्ण (?), पत्ता- पत्रक-]।

पेना—(सं०) बैल हाँकने की छड़ी। दे०—पैना।

[पेना < पेनअ <पैनअ<पावनअ<प्राजनक-]।

पेनी—(सं०) पेंदी (चंपा०-१)। कोठी या बखारी की निचली सतह। दे०—पेंद।

[पेनी < पेंदी < पिण्डी (?) < पिण्ड। दे०—पेंद]।

पेपची—(सं०) एक प्रकार का कंद, जो छोटा, लंबा लसदार और खाज करनेवाला होता है। इसकी तरकारी बनती है (गया, शाहा०)। दे०—अरुई।

[देशी]।

पेमंदी—(सं०) एक प्रकार का बड़ा आम, जो बैशाख से पकने लगता है (पट०-१)।

पेमंदी बइर—(सं०) बड़े आकार एक स्वादिष्ठ बैर (पट०-१)। दे०—सुगवा बैर।

पेयाज—(सं०) एक प्रकार का प्रसिद्ध कंद, जो मसाले में प्रयुक्त होता है। इसकी गंध उत्कट होती है। बहुत लोग इसे नहीं खाते हैं, किंतु आयुर्वेद के अनुसार इसमें अनेक गुण होते हैं। इसका क्षुप एक हाथ लंबा होता है। एक गाँठ के क्षुप में तीन चार डाँठ होते हैं। यह गुलाबी और उजले रंग का होता है। भारत में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है।

[पियाज़ः (अ०), प्याज (हिं०)]।

पेरखा—(सं०) एक प्रकार का मछली पकड़ने का टोकरी-जैसा जाल। दे०—अरसी।

[देशी, अरसी (श्रो०) = पकड़ने का टोकरीनुमा जाल]।

पेरमार—(सं०) दूर-दूर पर की गई बुआई (सामा०)। दे०—पातर।

[देशी ; मिला०—पेर + मार, पेर < पेड़; मार < मारल; यथा = गछमार (बिहा०) = वह फसल, जिसपर पेड़ आदि की छाया पड़ती है और वह सूख जाती है]।

पेरल—(क्रि०) (१) तेलहन या ऊख को कोल्हू में रखकर रस निकालना, पेरना (चंपा०-१)। (२) कोल्हू में ईख रखकर उससे रस निकालना (सा०-१)। (३) कोल्हू चलाना। पर्या०—पेड़ल।

[पेर+ल (प्र०) ; पेर < √ पीड़् ; पेरना (हि०), पेर्नु (ने०)]।

पेरुआ केराओ—(सं०) एक प्रकार की मटर, जो धान की फसल में बोई जाती है। इसके दाने छोटे होते हैं (पट०-१)।

पेहना—(सं०) कोठी का ढक्कन (मै०, द० मुं०, चंपा०-१)। दे०—पेहान।

[पेहना < पिधान < अपिधान < अपि+ √ धा+ अन (=ल्युट्)]।

पेहान—(सं०) (१) कोठी का ढक्कन (द० पू० बि०)। पर्या०—पेहना, झपना (मै० द० मुं०) ; ढपना (पू० मै०, द० भाग०) ; चाक (पट०, गया, द० मुं०)। (२) वह वस्तु, जिससे अन्नागार का अन्न निकालनेवाला छेद बंद किया जाता है (सा०, पट०)। दे०—देवकन।

[पेहान < पिधान < अपिधान < अपि+धान- < अपि+ √धा+अन (=ल्युट्)]।

पैंकड़—(सं०) रात में बैलों को बाँधने के लिए लोहे की जंजीर (शाहा०)। दे०—सीकर।

[पैं + कड़ < पाए + कड़ < पाद+कटक (?)। मिला०—पैंकड़ा (हि०)=(१) पैर का कड़ा (२) बेड़ी—(हि० श० सा०)]।

पैंकर—(सं०) पशुओं का भागना रोकने के लिए रस्सी आदि से उनके पैरों के बाँधने की प्रक्रिया (पू० मै०)। दे०—पैड़।

[पैंकर < पैं+कर < पाँव+कर < पाद+कटक- (?)। मिला०—पैंकड़ा, पैकरी (हि०)—पैर का कड़ा; बेड़ी—(हि० श० सा०)। मिला०—परिकर-, प्रकर- (संस्कृ०)]।

पैंच—(सं०) एक किसान द्वारा दूसरे किसान से मजदूरों के परस्पर विनिमय करने की प्रक्रिया (प०)। दे०—बदलैया।

[देशी ; मिला०—पञ्च < √पच् (संहतौ)]।

पैंच—(सं०) कुछ समय के लिए लिया या दिया हुआ ऋण। जो वस्तु ली जाती है, ठीक वही चीज लौटा दी जाती है। दे०—पैंचा।

[मिला०—पञ्च < √ पचि (व्यक्तीकरणे)। दे०—पैंचा]।

पैंचल—(क्रि०) मिले हुए अनाज को सूप से निछाड़कर अलग-अलग करना (मुं०-१)। (वि०) पैंची हुई वस्तु।

[पैंच +ल (प्र०) < पैंच < पञ्च < √ पचि- (पञ्चयति)]।

पैंचा—(सं०) (१) कुछ समय के लिए कुछ द्रव्य लेने की प्रक्रिया। दे०—करजा। (२) दे० पैंच।

[पैंच+आ (प्र०) < पैंच < पञ्चक (?); औटर्नर के अनुसार < प्रतिकृत्य (संस्कृ०)। मिला०—प्रतिकृत (=लौटाया हुआ); प्रतिकार्य (संस्कृ०)= लौटाने योग्य ; प्रतिकरोति (संस्कृ०) ; पडिकरोति (पा०) ; पइकिदि पडिकिदि (प्रा०)—(नेपा०) ; पैंचा (हि०) ; पैंचो (ने०)]।

पैंचा—(सं०) कुछ समय के लिए लिया जानेवाला या दिया जानेवाला ऋण। जो वस्तु ली जाती है, वही लौटा दी जाती है। पर्या०—हथफेर, पैंच (द० प० शाहा०)।

[पैंचा < पञ्चक < √पचि (?)]।

पैंठि—(सं०) सिंचाई में एक किसान द्वारा दूसरे किसान की सहायता करने की प्रक्रिया (प०)। दे०—जाना।

[पैंठि < प्रविष्टि- (?) या < प्रतिहृष्टि (?) ; < पहृष्ठि (?), पैंठि < प्रविष्टि (?)]।

पैकर—(सं०) (१) पशुओं का भागना रोकने के लिए उनके पैरों को रस्सी आदि से बाँधने की प्रक्रिया (पू० मै०)। दे०—पैड़। (२) बेड़ी (मै०)।

[देशी ; मिला०—परिकर-,प्रकर-। पै + कर < पादकटक—(हि० श० सा०)]।

पैकर—(सं०) (२) रात में बैलों को बाँधने के लिए लोहे की जंजीर (गया)। दे०—सीकर।

[पै+कर < पादकटक- (?)]।

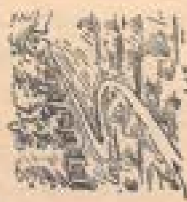
पैकल—(सं०) रात में बैलों को बाँधने के लिए लोहे की जंजीर (गया)। दे०—सीकर।

पैठ—(सं०) (१) हाट, पेठिया। (२) पहुँच। (३) भोग। (४) प्रवेश (मुं०-१)।

[पैठ < प्रविष्टि ; < प्रतिष्ठा; पैठ < पण्य स्थान (संस्कृ०), पट्ठा (पा०), पट्ठा—(अप०, हि० श० सा०)]।

पैठानी—(सं०) नील के साथ मिलने से बना एक प्रकार का रंग। दे०—कुसुम।

[देशी। मिला०—पैठान (बिहा०) = पठान]।



पैड़ा—(सं०) पैदल जाने का तंग रास्ता (मुं०-१)। पर्या०—पैठी।

[पैड़ा < पर्णंड (देशी); या पाद+ड (प्र०); < पाद दंड—(हि० श० सा०), पैड़ा, पैड़ो (हि०)]।

पैड़ी—(सं०) (मुं०-१)। (१) दे०—पैड़ा। (२) कुएँ पर चरसा खींचनेवाले बैलों के चलने के लिए बना हुआ ढालुवाँ रास्ता। (३) वह स्थान, जहाँ सिंचाई के लिए जलाशय से पानी लेकर डालते हैं। पौदार—

[पैड़ी < पर्णंड (देशी)। < पैर (हि०)-(हि० श० सा०); पैड़ी (हि०) = वह वस्तु, जिसपर पैर रखकर ऊपर चढ़ते हैं; जैसे—हर की पैड़ी]।



पैड़—(सं०) पशुओं का भागना रोकने के लिए दोनों पैरों के बाँधने की रस्सी। पर्या०—पैड़ा, पैकर (पू०, मै०), गोड़ानी (द० भाग०)।

पैड़ा—(सं०) पशुओं का भागना रोकने के लिए रस्सी आदि से बाँधने की प्रक्रिया। दे०—पैड़।

[मिला०—पादकटक (?)]।

पैदा—(सं०) (१) प्रति बीघा अफीम की साधारण उपज (पट०)। दे०—सरदर परतर। (२) किसी वस्तु की प्रति बीघा सामान्य उपज। (३) उपज, जन्म। (४) प्यादा (द० भाग०)।

[पैदा < पाद < उत्पाद < उत < √ पद्]।

पैन—(सं०) सींचने के निमित्त बनी हुई नाली का गहरा आंतरिक भाग। दे०—आरा, पइन।

पैन, पैनि—(सं०) खेत तक जानेवाला जल-प्रवाह का मार्ग या नाली। पर्या०—करहा (पट०, गा०, शाहा०); बाहा (द० प० शाहा०); पींड़, दवन (मै०); पौढ़ी (उ० पू० मै०); बह (द० पू० मै०); नारी (प०); डाँड़ (द० पू०); सिगहा (द० भाग०)।

[पैन < पइन < प्रणाल- (?)]।

पैन, पैनि—(सं०) कृत्रिम छोटी जल-प्रणाली।



पैना—(सं०) (१) बाँस का छोटा और पतला डंडा, जिससे बैलों को हाँकते हैं। (२) बाँस के फट्टे की वह छोटी छड़ी, जिससे हलवाहे बैल हाँकने के काम में लाते हैं (चंपा०-१, पट०-१)। (३) हलवाहे या चरवाहे का छोटा डंडा (मुं०-१)। (४) बैल हाँकने की छड़ी। पर्या०—पेना, पएना (कभी-कभी उच्चारण-भेद के कारण)।

[पैना < पायना < पाजनअ, पाजनअ < प्राजनक- < प्र+ √ अज्+अन (ल्युट्)+क]।

पैनि—(सं०) सींचने के निमित्त बनी हुई नाली का गहरा आंतरिक भाग। दे०—आरा।

[पैनि < प्रणाली (?)]।

पैनि, पैन—(सं०) (१) खेत तक जानेवाला प्रवाह का मार्ग या नाली। दे०—पैन। (२) कृत्रिम छोटी जल-प्रणाली।

[पैनि < प्रणाली (?)]।

पैया—(सं०) (१) वह धान, जिसकी बाल में दाने नहीं लगे हों, निष्फल (गया, प०)। पर्या०—मोर (उ० पू०)। (२) अनाज की बाल में लगनेवाला एक कीड़ा।

[देशी, पैया (ने०) = पहिया]।

पैर—(सं०) (१) खलिहान में दाँवने के लिए छींटी हुई तैयार फसल (मग०, मं० उ०, शाहा०)। पर्या०—पौर, पौरी (पू० मै०), खोह (चंपा०, द० पू० मै०); बड़होरा (पट०, गया), बड़होरा (द० मुं०), खुआ, खोआ, पोर (द० भाग०)। (२) दौनी करने के बाद ओसाने के लिए अनाज और भूसा-मिले अनाज की राशि (चंपा०, गया)। दे०—सिल्ली। (३) मटर, चना, जौ और गेहूँ या किन्हीं दो या तीन अन्नों का का मिश्रण (प० मै०)। दे०—तरेरा। (४) पैर, चरण।

[मिला०—प्रकर-]।

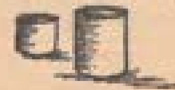
पैरा—(सं०) मटर, चना, जौ और गेहूँ आदि किन्हीं दो या तीन अन्नों का मिश्रण (उ० प०)। दे०-तरेरा।

[पैरा < प्रकरक (?)]।

पैरा—(सं०) (१) बिना जोती हुई जमीन में छींटकर अनाज बोने का प्रकार (गया, चंपा०)। दे०—छिट्टा।

[पैरा < प्रकरक < प्र+करक < √ कृ (विक्षेपे)]।

(२) बधिया किया हुआ बैल (गया)। दे०—बरध। [देशी]।



पैला—(सं०) (१) अन्न नापने का सामान्यतः पाव-भर या आधा सेर अनाज अमानेवाला पात्र। (२) अन्न नापने का काठ या पीतल का छोटा बरतन (मुं०-१)। १६ पैला= एक आड़ा।

[देशी ; मिला०—पालि=अन्न नापने का एक पात्र; एक परिमाण, जो पुराने प्रस्थ के बराबर होता था—(मो० वि० कि०)]।

पैलाना—(वि०) पैला-संबंधी। पैला से नापकर दी गई वस्तु के परिमाण के बराबर ही बदले में उतना ही पैला से नापकर ली गई चिउड़ा आदि वस्तु। पर्या०—पैलाहा।
[पैला+ना (प्र०) < पैला]।

पैलाहा—(वि०) (मुं०-१)। दे०—पैलाना।
[पैला+हा (प्र०) ; पैला]।

पैस—(सं०) खेत के छोटे टुकड़े, जिनमें हल न लगा हो (चंपा०, द० मै०)। पर्या०—पुइस (उ० प० मै०, चंपा०), उखड़हाल (द० भाग०), छूटल खेत (सा०, चंपा०)।
[देशी]।

पैस धरल—(मु०) जोतना (चंपा०, मै०)। दे०—जोतल। पर्या०—पुइस धरल, जोतना (उ० पू० मै०)। दे०—जोतल।
[पैस+धरल]।

पैहार—(सं०) गाँवों में अस्थायी रूप से रहनेवाला काश्तकार (द० भाग०)। दे०—पाही कास्त।
[पैहार < परिहार- प्रतिहार-, प्रतीहार-(?)]।

पोछवाला—(सं०) पूँछवाला बैल। मिला०—बोड़।
[पोछ+वाला (प्र०) ; पोछ < पूँछ √पुच्छ-]।

पोछी—(सं०) (१) ढेंकी का पावदान, जिसपर पैर रखकर ढेंकी चलाई जाती है। दे०—पौदर। (२) पूँछ।
[पोछ+ई (प्र०) ; पोछ < पूँछ < पुच्छ-]।

पोड़ा—(सं०) एक प्रकार का ऊख, जो लाल, लंबा मोटा, कोमल और रसपूर्ण होता है (पट०, गया)। दे०—पौंढ़ा।
[पोंढ़ा < पुण्ड्रक-]।

पोंढ़ा—(सं०) एक प्रकार का ऊख, जो लाल, लंबा, मोटा, कोमल और रसपूर्ण होता है (प०)। पर्या०—पौंड़ा (पट०, गया), पछिपारी (द० भाग०)।



[पोंढ़ा < पौंढ़ा < पुण्ड्रक-, < पुण्ड्रक-]।

पोहड़ा—(सं०) बीज के लिए काटा गया ऊख का टुकड़ा (पट०, पट०-१)। दे०—बेंड़ा।
[मिला०—पुण्ड्रक-]।

पोअरा—(सं०) पुआल (चंपा०)।
[पोअरा < पुआर < पुआल < पलाल-]।

पोआ—(सं०) (१) तंबाकू का बीज। (द० भाग०)। (२) साँप का छोटा बच्चा।
[पोआ+पोतक- (?)]।

पोआर—(सं०) दौनी करके अनाज निकालने के बाद बचा नरम पुआल (प०, द० मुं०)। दे०—पुअरा।
[पोआर+पुआर < पलाल- (?)]।

पोआरी—(सं०) (१) धान के पौधे का एक रोग (पू०)। दे०—अरैया। (२) धान की फसल में लगनेवाला एक कीड़ा (पट०-१)।
[पोआर + ई (प्र०); पोआर (पा०);<पुत्रक- (?), < पोतक]।

पोई—(सं०) (१) कपास चुननेवाले मजदूर या मजदूरिन को दी जानेवाली चुनी हुई रूई की मजदूरी (द० पू० मै०)। दे०—मई। (२) ऊख की ग्रंथि या गाँठ (शाहा०)। दे०—पोर। (३) वह ऊख, जिसमें सद्यः अंकुर निकला है (शाहा०)। दे०—पुआरी। (४) एक प्रकार की लता और उसका पत्ता। इसका पत्ता पान की तरह होता है, लेकिन उससे मोटा होता है। इसकी सब्जी बनाई जाती है (पट०-१)।
[पोई < पोतकिन् (?), < पर्वन् (?)]।

पोकत—(वि०) पक्का, पुष्ट, परिपक्व (मुं०-१)। पर्या०—पोखता।
[पोकत < पक्ति्म-(?)]।

पोकहा—(सं०) बरगद, पीपल और पाकड़ की फली (पट०-१)।

पोखता—(वि०) पक्का, पुष्ट, परिपक्व (मुं०-१)। दे०—पोकत।

पोखर—(सं०) खोदकर और चारों ओर से घेरकर बनाया हुआ लंबा, चौड़ा और गहरा जलाशय। पर्या०—पोखरा-तालाब, पोखरी (उ० पू० मै०)।
[पोखर < पोक्खर < पुष्कर-, पोखरि <पौष्कर- वा पुष्करिन्—(नेपा०) ; पुष्कर-, पौष्कर- (संस्कृ०); पोक्खर =(पा०)=कमल, पोक्खरिनी (पा०) = तालाब; पोक्खर-, पोक्खरिनी (प्रा०) ; पोकुर (कश्म०) = घड़ा, आलवाल; पोखुर (कश्म०) = इनारा ; पोखर (कुमा०); पुखुर (बँ०) ; पोखरि (ओ०) ; पोखर (हिं०, पं०); पोखर (मरा०); पोकुर (सिंह०) = कमल; पोकुरिणि, पोकुरा (सिंह०) = तड़ाग; पोखरो (ने०)]।

पोखरा—(सं०) खोदकर और चारों ओर से घेरकर बनाया हुआ लंबा, चौड़ा और गहरा जलाशय। दे०—पोखर।
[पोखरा < पुष्करक-, < पौष्करक-]।

पोखरी—(सं०) (१) खोदकर तथा घेरकर बनाया गया लंबा, चौड़ा, गहरा और बड़ा जलाशय (उ० पू० मै०)। निम्नांकित लोकोक्ति ध्यान देने योग्य है—

'पोखरि रजोखरि, और सभ पोखरा।
राजा सिबसिङ्घ, और सभ छोकरा॥'

रजोखरी गांव की पोखरी वस्तुतः पोखरा—बड़ा पोखर है और दूसरे सभी पोखरे छोटे पोखर हैं। राजा तो वस्तुतः शिवसिंह हैं और दूसरे सब छोकरे—छोटे-छोटे नासमझ हैं। (२) छोटा जलाशय।

[पोखरी < पुष्करिणी]।

पोखो—(सं०) भुट्टे के ऊपर की पत्तियां (द० भाग०)। दे०—खोइया। पर्या०—पखना (संता०)।

[देशी। मिला०—पुच्छ-, पिछु]।

पोछड़ा—(सं०) ढेंकी का पिछला भाग, जिसपर पैर रखकर ढेंकी चलाई जाती है (चंपा०-१)। (२) टोहका (एक प्रकार का जाल) का वह हिस्सा, जिसका मुंह खोलकर मछलियों को बाहर निकालते हैं।

[पोछ+ड़ा (प्र०); पोछ < पुच्छ-]।

पोछनी—(सं०) पोस्ते की फली से अफीम को खुरचने के लिए बांस की बनी सीपी (द० पू० मै०)। दे०—सितुहा।

[पोछ + नी (प्र०); पोछन < प्रोञ्छन < प्र+ √उञ्छ्]।

पोछल—(क्रि०) (१) पोस्ते की फली में से अफीम का उठाना या संग्रह करना (उ० प० मै०)। दे०—उठाएल। (२) पोंछना, पोंछकर साफ करना।

[पोछ + ल (प्र०); पोछ < प्रोञ्छ् (प्रोञ्छति); पुञ्छ (पा०—पुञ्छति); पुञ्छ (पुञ्छई—प्रा०); पुञ्छइ, पुंसई (देशी); पोंछना (हिं०); पूँछा (बं०); पोञ्छिबा (ओ०); पूँछणा (पं०); पूँछण (ल०); पूछवुँ (गु०); पुसणें (मरा०); पिहिनु, पिस्नु (सिंह०)]।

पोछिया—(सं०) बकरी आदि बेचने पर खरीदनेवाले से चरवाहे द्वारा कुछ पैसों को लेने की प्रथा (चंपा०-१)।

[पोछ+इया (प्र०); पोछ < पुच्छ- (?)]।

पोट, पोटी—(सं०) (१) लहसुन की ढेंढ़ी या गांठ। (२) किसी वस्तु की ढेंढ़ी।



[पोट<पुट। टर्नर के अनुसार—<पौट्ट; पुट- (संस्कृ०); पुट्ट, पोट्ट (प्रा०) = पेट; पोटलि = पोटली; पोट (हिं०); पोट (पं०) = पोटली, पोट्टा (पं०); पोटि (ने०); पेटिड्डी (सिं०) = पोटली, पोट (गु०); पोट (मरा०); पोट्टनिया (सिंह०)—पोटली]।

पोटी—(सं०) लहसुन की गांठ (मुं०-१)।

पोढ़ी, पोढ—(सं०) लहसुन की ढेंढ़ी।

[पोट+ई (प्र०); पोट < पुट- (?)]।

पोठरी—(सं०) एक प्रकार की मछली (सा०-१)।

[पोठ+री (प्र०); पोठ < पोट्ठ < प्रोष्ठ-, प्रोष्ठी]।

पोठिया—(सं०) एक प्रकार की छोटी मछली (चंपा०-१, सा०-१)।

[पोठ+इया (प्र०); पोठ < प्रोष्ठी]।

पोठीया सीम—(सं०) तरकारी के रूप में व्यवहृत होनेवाली एक प्रकार की सेम (पट०-१)।

पोड़—(सं०) ईख का छोटा पौधा, अंकुर।

[पोड़ < फोड़ < स्फोट (?)]

पोड़ा—(सं०) मापी फसल का बिना जोती जमीन का पौधा (उ० प०, द० प० मै०)। पर्या०—सुगार (उ० पू० मै०)।

[पोड़ा < फोड़ < स्फोट- (?) < √स्फुट्]।

पोत—(सं०) भूमिकर (द० पू० मै०)। दे०—लगान।

[पोत <फ़ोता (फ़ा०); पतो (हिं०); पोता (ने०)]।

पोतन—(सं०) वह कपड़ा, जिससे रसोईघर, चूल्हा आदि को पोतने (लीपने) का काम लिया जाता है (सा०-१)।

[पोतन < पोतब (बिहा०); पोतन (हिं०) < पूत (पूतयति, ना० धा०)]।

पोता—(सं०) (१) भूमिकर (गं० उ०, द० बि०)। दे०—लगान। (२) पौत्र, पुत्र का पुत्र।

[पोता (फ़ा०)। दे०—पोत]।

पोतेदार—(सं०) दूसरे की अधिकृत जमीन को नगदी आदि किसी निश्चित शर्त पर जोतनेवाला व्यक्ति (पट०)। दे०—असामी।

[पोते+दार (प्र०); पोते < पोत-, पोता (फ़ा०)]।

पोदीना—(सं०) एक प्रसिद्ध छोटा पौधा, जो चटनी आदि में अथवा औषधों में प्रयुक्त होता है। पर्या०—पोदेना, पुदेना, फूदेना (मै०)। पोदीना (पट०—१)।

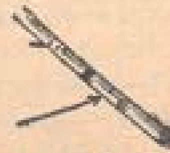
[पोदीना < पोदीनः (फ़ा०)]।

पोदेना—(सं०) एक प्रसिद्ध छोटा पौधा, जो चटनी आदि में अथवा औषधों में प्रयुक्त होता है। दे०—पोदीना।

[पोदेना < पोदीनः (फ़ा०)]।

पोपिता—(सं०) पपीता। दे०—पपीता।

पोर—(सं०)(१) ऊख की ग्रंथि या गाँठ। पर्या०—पोई (शाहा०), गिरे, गिरेह। पोरावल (क्रि०)=ऊख के पौधे में ग्रंथि लगना (चंपा०, गया, पट०, पू०)। पोर छोरल (मु०)=ऊख के पौधे में ग्रंथि लगना (द० पू० मै०)। गिड़ावल (क्रि०)=ऊख के पौधे में ग्रंथि लगना (प० मै०)। डेढौका (सं०)=गाँठ लगा ऊख का पौधा (शाहा०)। (२) किसी वस्तु की गाँठ। (३) अँगुलियों की जोड़, गाँठ। (४) दो गाँठों के बीच का स्थान। (५) खाने के लिए काटा गया ऊख के दो पोरों के बीच का टुकड़ा।



[पोर <पर्वन्; पोर (प्रा०)=जोड़; पोर (हिं०); पोरो (ने०)=छोटा छेद; पोर (पं०)=पोला बाँस; पोरा (पं०)=दो गाँठों के बीच का स्थान; पोरू (सिं०)=गड्ढा। (२) पोरो (ने०) < पोल्ल—(नेपा०)]।

पोर छोरल—(मु०) ऊख के पौधे में ग्रंथि लगना (द० पू० मै०)। दे०—पोर।

[पोर+छोर+ल (प्र०); पोर< पर्वन्-; छोर < √ छुट्]।

पोरनोचो—(सं०) ऊख की जड़ से निकलनेवाली शाखा, जिससे पौधे को हानि पहुँचती है। (द० भाग०)। दे०—दोंज।

[पोर+नोचो (देशा) या पर्व < पर्वन् (?)]।

पोरसा—(सं०) मनुष्य के हाथ उठाने पर पैर से उठाये हाथ की अंगुली तक की लंबाई की माप, जो प्रायः साढ़े चार हाथ की होती है। दे०—पुरिस।

[पोरसा < पौरुष- या पुरुषक-]।

पोरा—(सं०) दौनी करके अनाज निकालने के बाद बचा नरम पुआल (प० मै०)।

[पोरा (देशी)। मिला०—पलाल (संस्कृ०)। टर्नर के अनुसार पोरो (ने०)=छोटा छेद < पोल्ल-(नेपा०)]।

पोरावल—(क्रि०) ऊख के पौधे में ग्रंथि लगना (चंपा०, पट०, गया, पू०)। दे०—पोर।

[पोर+आवल (प्र०); पोर < पर्व < पर्वन् या < पोल्ल—(नेपा०)]।

पोरो—(सं०) बीज की परीक्षा के लिए ओल के डंठल को चीरकर उसमें बीज रखकर जाँचने की विधि (चंपा०-१)।

[पोरो (देशी)। मिला०—पोर < पर्वन्]।

पोसत—(सं०) अफीम का पौधा, पोस्ता (पट०)। दे०—पोस्ता।

[पोसत < पोस्तः (फा०)]।

पोसता—(सं०) (१) अफीम का पौधा। यह पौधा ३-४ फुट ऊँचा होता है, पत्तियाँ भाँग की पत्ती की तरह कटी हुई और बड़ी होती हैं। डंठलों में फल होती है। फागुन-चैत में फूल लगते हैं। (२) इस पौधे से निकला अफीम का द्रव पदार्थ। पर्या०—पोसत (पट०)।

[पोसता < पोस्तः (फा०)]।

पोसतादाना—(सं०) पोस्ते के पौधे से निकला दाना, जिसका उपयोग मसाला आदि में होता है।

पोहपित्ता—(सं०) पपीता (पट०-१)।

पौंछी—(सं०) ऊख की जड़ से निकलनेवाली अतिरिक्त शाखा, जिससे ऊख को हानि पहुँचती है (पट०, द० मुं०)।

[पौंछ+ई (प्र०); पौंछ < पुच्छ (?)]।

पौंठा—(सं०) मींजे हुए पुआल की दौनी कर भूँसा जैसा बना उसका छोटा मुलायम रूप (मुं०—१)।

[पौंठा < पांवठा < पादाहत- (?)]।

पौंडा—(सं०) कड़ाह से निकालने के पश्चात् गुड़ रखे जाने का मिट्टी का बरतन। दे०—नैक। (२) शक्कर रखने के लिए जमीन में खोदा गया गड्ढा (गं० उ०)। दे०—नाद।

[पौंडा < पौंड्रक- < पुण्ड्र-, पुण्ड्रक- (?)]।

पौंड़ी—(सं०) (१) फाल्गुन-चैत्र में चूसने में स्वादिष्ठ कोमल ऊख (द० भाग०)। दे०—पनसारी।

[पौंड़+ई (प्र०); पौंड़ < पौण्ड्र < पुण्ड्र-]।

पौंडी—(सं०) (२) शक्कर के रखने के लिए जमीन में खोदा गया गड्ढा। दे०—नाद।

[पौंड़ + ई (प्र०)<पौंड<पौण्ड्र<पुण्ड्र-]

पौंड़ी—(सं०) (३) मछली के जाल को डुबोने के लिए उसमें लगा हुआ लोहे या मिट्टी की गोली (उ० प० मै०)। दे०—पटिवन।

[पौंड़+ई (प्र०)]।

पौंड़ीजाल—(सं०) मछली पकड़ने का एक प्रकार का जाल। इसमें दो डोरियाँ लगी रहती हैं, और ऊपर टीन का छोटा कंटर बँधा रहता है (ता०—१)।

[पौंड़ी + जाल, पौंड़ी < पौरल (बिहा०) पौरना (हिं०) < प्लवन < √ प्लु; जाल- (संस्कृ०)]।

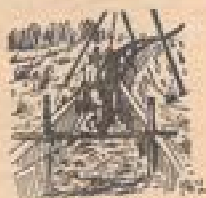
पौआ—(सं०) (१) चार छटाँक की तौल। दे०—पाव। (२) चार छटाँक की तौल का मापक पात्र या बटखरा।

[पौआ < पादक-(?); पौवा (हिं०)]।

पौटी—(सं०) खेत तक जानेवाला जलप्रवाह का मार्ग या नाली (उ० पू० मै०) दे०—पैन।
[पौटी < प०+थवट (?) वा < पात्रट- वा < पात्रक-(?)]।

पौठ—(सं०) खेत तक जानेवाले जलप्रवाह का मार्ग या नाली (मै०)। दे०—पैन।
[पौठ<प+थवट, वा<पात्रट-, वा<पात्रक-(?)]।

पौठा—(सं०) (१) वह स्थान, जहाँ खड़ा होकर करीन चलाया जाता है (प०)। पर्या०—लतमरा (मै०)। (२) कुएं पर आरपार रखा गया लकड़ी का तख्ता, जिसपर खड़ा होकर पानी निकालनेवाला पानी निकालता है। दे०—परिपाठा। (३) हल के साथ लगन को जोड़ने की किल्ली (मुं०-१)।



पौ+ठा < पाव+ठाँव < पादस्थान-(?)]।

पौदर—(सं०) (१) मोट खींचनेवाले बैलों के लिए बना हुआ ढालू मार्ग। पर्या०—दवर (शाहा०), बही (गया), डगर (चंपा०, पट०, द० पू०), गोड़पौर (द० मुं०), पौदार के माथ, पौदार के मथार= पौदार का ऊपरी भाग। (२) ऊख के कोल्हू के चारों ओर का वह क्षेत्र, जिसमें बैल घूमता है। दे०—गोरपौर। (३) ढेंकी का पावदान, जिसपर पैर रखकर ढेंकी चलाई जाती है (पट०, शाहा०)। पर्या०—पखड़र, पखाड़ (सा०, चंपा०), पखड़ा (उ० पू० मै०), पखौरा (द० प० शाहा०), पखुआ (द० मुं०), पुछिया (द० भाग०), पोंछी (गया), लतमरा (उ० प० मै०)।
[पौदर < पौ + दर < पाव + दर < पाद + धर (?)]।

पौदर के मथार—(सं०) पौदर के ऊपर का भाग। पर्या०—पौदर के माथ।
[पौदर के+मथार (दौ०), मथार < मथा+र (प०); < माथा < मस्तक-]।

पौदर के माथ—(सं०) पौदर के ऊपर का भाग (प०)। दे०—पौदर के मथार।
[पौदर के+माथ (दौ०)। दे०—पौदर + माथ < मस्तक-]।

पौधा—(सं०) (१) वह स्थान, जहाँ खड़ा होकर मनुष्य सैन चलाते हैं (प०)। दे०—गोरपौर। (२) वनस्पति।
[पौ + धा < पाव+धार < पादाधार < पाद + आधार। (२) पौधा<पादस्थप-(?); मिला०—पादप-]।

पौन—(सं०) वह वस्तु, जिसका एक चतुर्थांश कम हो।
[पौन < पादोन < पाद+ऊन-]।

पौना—(सं०) ऊख के रस का फाग या मैल निकालने के लिए लोहे की सछिद्र चौड़ी कलछी। दे०—छनौटा।
[पौना (देशी)। मिला०—पावन (संस्कृ०) = पवित्र करनेवाला, पचनी = पकानेवाली वस्तु]।

पौनिया—(सं०) (१) गाँवों में रहनेवाले बढ़ई, लोहार, नाई, धोबी, कुम्हार आदि शिल्पियों को किसान के द्वारा दिया जानेवाला निर्धारित अन्न आदि। दे०—पवनी। (२) गाँवों में रहनेवाले शिल्पी, जिन्हें विवाहादि उत्सव पर या फसल काटने के समय अन्नादि दिये जाते हैं।
[पौनिया < प्रापणीय (?), पौनी (हिं०)]।

पौनी—(सं०) (१) गाँवों में रहनेवाले बढ़ई, लोहार, नाई, धोबी, कुम्हार आदि शिल्पियों को किसान के द्वारा दिया जानेवाला निर्धारित अन्न आदि। दे०—पवनी। (२) गाँवों में रहनेवाले बढ़ई, नाई, लोहार, धोबी, कुम्हार आदि शिल्पी, जिन्हें विवाहादि उत्सवों पर या फसल काटने के समय किसान द्वारा अन्नादि दिये जाते हैं। दे०—पौनिया।
[पौनी < प्रापणीय-]।

पौर—(सं०) (१) फसल के डंठल से अनाज निकालने के लिए की जानेवाली पहली दौनी। पर्या०—खोआ, खुआ, (द० भाग०)।
[पौर (देशी ?)। मिला०—पौरी (हिं०) = आया हुआ कदम, पड़े हुए चरण। पौरा < पैर (हिं० श० सा०)। मिला०—पादाहत- (संस्कृ०)=पैरों से मसला हुआ ; पादोद्धूत=पैरों से उड़ाया हुआ]।

पौर—(सं०) (२) वह क्षेत्र, जिसमें कोल्हू का बैल घूमता है। पर्या०—पौरी, भंर (द० भाग०)।
[पौर<प्रतोल, प्रतोली (संस्कृ०); पओली (प्रा०)]।

पौर—(सं०)(३) ऊख के कोल्हू के नजदीक का वह क्षेत्र, जिसमें बैल घूमता है (गं० उ०, पट०, गया, द० भाग०)। दे०—गोरपौर।
[पौर <प्रतोल, प्रतोली (संस्कृ०); पओली(प्रा०)]।

पौर—(सं०) (४) मटर, चना, जौ, गेहूँ या और किन्हीं दो या तीन अन्नों का मिश्रण (पू० मै०)। दे०—तरो।
[पौर < पुरु (संस्कृ०) = बहुत, प्रचुर]।

पौर, पौरी—(सं०) खलिहान में दाँवने के लिए छींटी हुई तैयार फसल (पू० मै०)। दे०—पैर। पर्या०—पौर (द० भाग०)।
[पौर < पुरु (=प्रचुर, अधिक) वा < विष्व (?)]।

पौरी—(सं०) (१) वह ऊख, जिसमें सद्यः अंकुर निकला हो (द० प० मैं०)। दे०—पुआरी।
[पौरी < पुरु- (?)]।

पौरी—(सं०) (२) वह क्षेत्र, जिसमें कोल्हू का बैल घूमता है। दे०—पौट, पौदर।
[पौर+ई (प्र०) ; पौर < प्रतोली (?)]।

पौरी—(सं०) (३) ऊख के कोल्हू के नजदीक का वह क्षेत्र, जिसमें बैल घूमता है। (सं० उ०, पट०, गया, द० भाग०)। दे०—गोरपौर।
[पौरी < प्रतोली (संस्कृ०); पओली (प्रा०)]।

पौरी—(सं०) (४) संपूर्ण नदी के पाट को छेंकनेवाला मछली पकड़ने का वह जाल, जिसमें ऊपर तो तूंबा बँधा रहता है और नीचे ईंट। किनारे पर से ही उसकी रस्सी खींची जाती है, न कि नाव पर से।
[पौरी < पुरु- (?)]।

पौरी, पौर—(सं०) खलिहान में दाँवने के लिए छींटी हुई तैयार फसल (पू० मैं०)। दे०—पैर।
[पौरी < पुरु- (?)]।

पौला—(सं०) एक प्रकार की खड़ाऊँ, जिसमें खूंटी के बदले रस्सी लगाई जाती है (घाघ)।

'सूथन पहिरि हर जोतै ; औ पौला पहिरि निरावै।
घाघ कहै ई तीनो भकुआ ; सिर बोझा औ गावै।'
—घाघ।

पौह—(सं०) (१) परती जमीन जोतने के दो वर्ष बाद का खेत (पट०, द० मुं०)। दे०—खील।
[पौह < पुरन्ध्रि-(?) = अवन्ध्या]।

प्यास—(सं०) (१) एक प्रकार की चोईंटा-रहित मछली (सा०-१)। (२) पीने की इच्छा।

फ

फँदनी—(सं०) बरतन के गले के चारों ओर लपेटी हुई रस्सी की फाँस (गया)। दे०—अरवन।
[फँद + नी (प्र०) ; फंदा < स्पन्द-]।



फंदा—(सं०) (१) रस्सी या किसी और वस्तु की गाँठ। (२) रस्सी का विशेष प्रकार का बना गोल घेरा, जो बाँधने के लिए पशुओं के गले में या लोटे के गले में लगाया जाता है। (३) जाल, बंधन।



फंदिया—(सं०) (१) खेत की चौड़ाई की ओर से की जानेवाली जुताई (द० प० शाहा०)। दे०—फानी। (२) ताड़ के पेड़ पर चढ़ने के समय दोनों पैरों में लगाई जानेवाली फंदावाली रस्सी (मैं०, पट०)। दे०—मकरी।
[फंद+इया < स्पन्द-(?)। फंदा < पाश या बंध—(हिं० श० सा०) ; फंदो (ने०) = उधार लिया ; फंदा (हिं०) ; फंदो (ने०) ; फंदा (ओ०) ; फंध, फंधा (पं०) ; फंदु (सि०) ; फंद (गु०, मरा०) ; फाँद (हिं०) ; फाँदो (गु०) ; फंदा < फंद < पंद (फा०); फाँस < स्पर्श-(?)—(नेपा०)]।

फंसरगाली—(सं०) किसी बरतन के गले के चारों ओर लपेटी हुई रस्सी की फाँस (गया, द० मुं०)। दे०—अरवन।
[फँसर+गाली ; फँसर < फाँस < पाश-, < स्पाश- (नेपा०) ; गाली < गाल < गल-(?)]।

फँसरी—(सं०) फाँस लगाने की गोल रस्सी (मुं०-१)।
[फँस+री (प्र०) ; फाँस < पाश-]।

फँसिआ—(सं०) एक प्रकार की मछली (सा०-१)।
[देशी, मिला०—फाँस < स्पर्श-, स्पाश-]।

फँसियारी—(सं०) एक प्रकार का जाल (पट०-१)।

फँसुली—(सं०) ताड़ के पेड़ के फल को काटनेवाली हँसिया (सा०-१)। दे०—हँसुली।
[फँसुली < फाँस < स्पर्श- या ग्रास-(?)]।

फंहसुल—(सं०) (१) (मग०)। दे०—फँसुली। (२) हँसिया, तरकारी आदि तराशने का हथियार।
[फँहस + उल (प्र०) < फँहस < फाँस या स्पर्श या < परशु-, < ग्रास- (?)। मिला०—महसन्ती, हसन्ती-(?)]।

फकाह—(सं०) दूर-दूर पर की जानेवाली बुआई (सं० उ०)। दे०—पातर।
[फकाह < फाँक (बिहा०)—अंतर—देशी (?)]।

फकिराना—(सं०) माँगनेवाले फकीरों के लिए अलग निकाला गया अन्न (मु० प्र०)। (२) मुस्लिम संतों